पंडित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व

[इन्दौर विश्वविद्यालय से पीएच. डी. के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध]

लेखक :

डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम. ए., पीएच. डी.

भूमिका :
डॉ० हीरालाल माहेश्वरी

प्रस्तावना :
डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन

प्रकाशक :

मंत्री, पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-४, बापूनगर, जयपुर ३०२००४

प्रथम संस्करण ३०००
रक्षा बन्धन, १३ अगस्त, १९७३ ई०

मूल्य सात रुपया

मुद्रक :
जयपुर प्रिण्टर्स
मिर्जा इस्माइल रोड
जयपुर ३०२००१

आचार्यकल्प पूज्य पंडित टोडरमलजी

[काल्पनिक चित्र]

समर्पण

महापंडित पूज्य टोडरमलजी

को

जिनका ही सब कुछ इस लघु कृति में है

एवं

पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी

को

जिन्होंने पंडित टोडरमलजी

की

महान कृति मोक्षमार्ग प्रकाशक

के मर्म को

समझने की दृष्टि प्रदान की

मंगल आशीर्वाद

पंडित टोडरमलजी तो महान आत्मा थे। उनका मोक्षमार्ग प्रकाशक अपूर्व ग्रन्थ है। उसमें सब शास्त्रों का सार भर दिया है। उसकी बात क्या कहें? वह हमें विक्रम सं० १९८२ की साल में मिला था। उसका सातवाँ अधिकार तो हमने हाथ से लिख लिया था।

और पंडित हुकमचन्द, हुकमचन्द के बारे में तो हमने कहा था न कि उसका क्षयोपशम बहुत है, बहुत है। वर्तमान तत्त्व की प्रभावना में उसका बड़ा हाथ है। उसने बहुत काम किया है। कहा न कि उसका तत्त्व की प्रभावना में बड़ा हाथ है। स्वभाव का भी नरम है। हम तो मन में जो भाव आता है, कह देते हैं। हम तो किसी के उसमें तो कहते नही।

अच्छा मिल गया, टोडरमल स्मारक को अच्छा मिल गया। गोदीका के भाग्य से मिल गया। गोदीका भी पुण्यशाली है न, सो मिल गया। बहुत अच्छा रहा। तत्त्व की बारीक से बारीक बात पकड़ लेता है, पंडित हुकमचन्द बहुत ही अच्छा है।

—श्री कानजी स्वामी

आध्यात्मिक सत्पुरुष

पूज्य श्री कानजी स्वामी

जिनका दिनांक २८ जनवरी, १९७३ को जयपुर में सम्पन्न आचार्यकल्प पंडित टोडरमल स्मृति समारोह एवं डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल के अभिनन्दन के अवसर पर टेप द्वारा उद्गार एवं मंगल आशीर्वाद प्राप्त हुआ, जो उन्हीं के शब्दों में सामने के पृष्ठ पर अंकित है।

भूमिका

डॉ० हीरालाल माहेश्वरी
एम ए., एल्-एल्.बी., डी फिल् , डी.लिट्.
प्राध्यापक, हिन्दी विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

हिन्दी साहित्य का एक बहुत बड़ा भाग धार्मिक साहित्य के रूप मे है। धार्मिक साहित्य को दो रूपों में देखा जा सकता है :— (१) दार्शनिक, वैचारिक और धर्माचरण मूलक साहित्य, जिसे चिन्तनपरक साहित्य कह सकते है, तथा (२) इनकी प्रेरणा से निर्मित साहित्य, जिसमें मानवानुभूतियों का अनेकरूपेण चित्रण-वर्णन रहता है। विद्वानों ने शुद्ध साहित्य के अन्तर्गत विवेचनीय, दूसरी सीमा में आने वाले साहित्य को माना है। परन्तु जब साहित्य का इतिहास लिखा जाता है, तो धर्म और दर्शन से प्रभावित साहित्य को प्रेरणा देने वाले विभिन्न चिन्तन-बिन्दुओं, चिन्ता-धाराओं और दार्शनिक-प्रणालियों का आकलन और समानान्तर प्रवाह का लेखा-जोखा करना आवश्यक हो जाता है। प्रायः सभी भारतीय भाषाओं के साहित्यो के इतिहास-लेखन मे यह बात स्पष्ट दिखाई देती है। यही कारण है कि विभिन्न सम्प्रदायो से सम्बन्धित साहित्यों पर कार्य करते समय विद्वानों ने तत्सम्बन्धी दार्शनिक और वैचारिक स्वरूप का स्पष्टीकरण किया है। अष्टछाप और पुष्टिमार्ग, राधावल्लभ सम्प्रदाय आदि से सम्बन्धित कार्य इसके प्रमाण है। यही नहीं, विभिन्न कवियो और सन्त-भक्तों के केवल दार्शनिक विचारों का भी अध्ययन-मनन प्रस्तुत किया गया है, जैसे—कबीर, तुलसीदास, सन्त कवि दरिया आदि-आदि। साहित्यिक शोध के परिणामस्वरूप जो भी ज्ञान-किरण प्रसरित और आलोकित होती है, वह किसी न किसी रूप मे हमारे ज्ञान क्षितिज का विस्तार करती है।

डॉ० हुकमचद भारिल्ल द्वारा प्रस्तुत 'पडित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व' शोध-प्रबध एक ऐसा ही कार्य है, जो उल्लिखित धार्मिक साहित्य की दोनो सीमाओ को समाविष्ट किए हुए है।

पडित टोडरमलजी का समय वि० स० १७७६-७७ से १८२३-२४ तक है। ये जयपुर के निवासी थे, तथा इनका अधिकाश जीवन ढूँढाड प्रदेश मे ही बीता। जयपुर मे धार्मिक दुराग्रह के कारण उनका प्राणान्त हुआ (प्रस्तुत ग्रथ, पृष्ठ ५४)। इस कृति से पूर्व हिन्दी के बहुत से पाठको की आँखो से पडित टोडरमलजी ओझल ही थे, प्रस्तुत कृति के माध्यम से ही उनके व्यक्तित्व और कर्तृत्व को पहली बार उजागर किया गया है। जैन-जगत मे दार्शनिक और वैचारिक क्षेत्र मे, तथा तत्समय तत्र-मत्र, कर्मकाण्ड और इतर ऐहिकता की ओर उन्मुख होते हुए भट्टारकवाद और उसकी सामाजिक मान्यताओ के विरुद्ध प्रबल सघर्षकर्त्ता के रूप मे पडित टोडरमलजी का महत्त्व एक विशाल स्वयभूत प्रकाशस्तभ की तरह है। पडितजी ने अतीत की वैचारिक परम्पराओ को प्रबल तर्कों की कसौटी पर कसा, मान्य शास्त्रीय ग्रथो – समयसार, गोम्मटसार के आलोक मे उनको परिपुष्ट किया और इनमे प्रतीत होने वाले परस्पर विभिन्न मत-मतान्तरो की देश, समाज और काल-सापेक्ष सगत व्याख्याएँ प्रस्तुत की। इस कृति के लेखक डॉ० भारिल्ल ने बताया है कि गोम्मटसार का पठन-पाठन उसमे निहित सूक्ष्म सैद्धान्तिक विचारणाओ के कारण जैन-जगत मे टोडरमलजी से पाच सौ वर्ष पूर्व प्राय लुप्त-सा हो गया था (प्रस्तुत ग्रथ, पृष्ठ ६७)। टोडरमलजी ने इस पर 'सम्यग्ज्ञान-चद्रिका' नामक भाषाटीका लिख कर इसके पठन-पाठन का मार्ग प्रशस्त किया। वर्तमान मे गोम्मटसार के अध्ययन का मुख्य आधार प० टोडरमल की उक्त भाषाटीका ही है। यह लिखने की आवश्यकता नही कि दिगम्बर जैन-जगत मे आचार्य कुन्दकुन्द रचित समयसार और सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमिचन्द्राचार्य रचित गोम्मटसार स्वत. प्रमाण, परमपूज्य और सर्वमान्य शास्त्र है। दोनो ही शास्त्र प्राकृत गाथाओ मे है। समयसार अब से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व रचित और गोम्मटसार लगभग एक हजार वर्ष पूर्व रचित है। प्रसिद्ध है कि

गोम्मटसार की रचना धरसेनाचार्य के शिष्यों – आचार्य भूतबलि और पुष्पदन्त द्वारा रचित षट्खण्डागम नामक प्राकृत गाथाओं मे निबद्ध ग्रंथ के आधार पर हुई है। षट्खण्डागम ग्रंथ के आशय को सक्षेप मे सुस्पष्ट रूप से प्रस्तुत करना गोम्मटसार के रचयिता नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती का लक्ष्य था। तब से विगत एक हजार वर्षो से गोम्मटसार, समयसार के समान ही महत्त्व पाता रहा है। षट्खण्डागम दिगम्बर जैन सम्प्रदाय की सर्वाधिक प्राचीन सैद्धान्तिक रचना है। इसका नामोल्लेख तो जैन विद्वान् करते आए थे और किसी ने क्वचित्-कदाचित् इसका पठन-पाठन भी किया हो, किन्तु इसकी विस्तृत चर्चा गोम्मटसार के पश्चात् कभी नही हुई। गोम्मटसार की रचना के पश्चात् इसका पठन-पाठन बन्द-सा होगया। हर्ष का विषय है कि अब यह 'षट्खण्डागम' स्वर्गीय डॉ० हीरालाल जैन के संपादकत्व में प्रकाशित होकर सम्मुख आ गया है, जिससे इसकी मान्यताओ और सिद्धान्तों के आलोक में गोम्मटसार का पठन-पाठन संभवतः एक नया मोड़ ले।

ऊपर लिखा जा चुका है कि प० टोडरमलजी से लगभग ५०० वर्ष पूर्व गोम्मटसार का पठन-पाठन बन्द-सा हो गया था। ध्यातव्य है कि स्वयं प० टोडरमलजी ने षट्खण्डागम की प्रति, जो दक्षिण भारत के जैनबद्री नामक स्थान पर थी, प्राप्त करने का बहुत प्रयास किया था; उन्होंने इस हेतु पाच-सात जैन-मुमुक्षुओ को भी भेजा था किन्तु दुर्भाग्य से वे सफल नही हो सके थे। यदि वह प्रति पडितजी को प्राप्त हो जाती, तो सभवतः इस पर भी वे टीका लिखते। इस अनुमान की पुष्टि इससे होती है कि उन्होने गोम्मटसार पर टीका लिखी है। हो सकता है कि पडितजी समयसार पर भी ऐसी ही टीका लिखते, जैसा कि उनके समकालीन सहयोगी ब्र० रायमलजी के इस कथन से स्पष्ट है – "और पाच-सात ग्रन्था की टीका बरणायवे का उपाय है सो आयु की अधिकता हूवां बरणैगा" (प्रस्तुत ग्रंथ, पृष्ठ ५०)। उल्लेखनीय है कि समयसार में प्रमुख विषयवस्तु शुद्ध आत्मा का निरूपण है, जबकि गोम्मटसार मे परिवर्तनशील तत्त्वों – विकारी और अविकारी पर्यायो की विवेचना है। इन दोनो शास्त्रों की गहन विवेचनाओ को पढ कर ऐसी भी धारणा बन सकती है कि दोनों के

कथनो मे परस्पर विरोधाभास है। यदि इस विरोधाभास को प्रमुखता दी जाय, तो हो सकता है कि कालान्तर मे विरोधी विचारधाराओ के फलस्वरूप दोनो के आधार पर नए-नए उपसम्प्रदाय स्थापित हो जाएँ। पं० टोडरमलजी की तलस्पर्शिनी दृष्टि ने इस बात को भलीभाँति जान लिया था और उन्होने अपने मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रथ मे ऐसे विरोधाभासो मे अनेक दृष्टियो से समन्वय स्थापित करने की चेष्टा की। उदाहरण के लिए, गोम्मटसार मे जीव (आत्मा) की विभिन्न अवस्थाओ (गति, इन्द्रिय, काय, वेद आदि के भेद-प्रभेदो) का विस्तृत विवेचन है। पडित टोडरमलजी का कथन है कि इन सब का यदि ज्ञान हो तो बहुत ही अच्छा है, किन्तु जानने की मुख्य वस्तु केवल शुद्ध आत्मा ही है। उनकी विचारधारा और समस्त तर्क इस अतिम लक्ष्य – शुद्ध आत्मा को जानने और अनुभूत करने की ओर ही हैं। उनका मोक्षमार्ग प्रकाशक, जो दुर्भाग्य से अपूर्ण रह गया है, दि० जैनों की सैद्धान्तिक विचारधारा तथा गोम्मटसार और समयसार में समन्वय स्थापित करने वाला विलक्षण सैद्धान्तिक ग्रंथ है (द्रष्टव्य – मोक्षमार्ग प्रकाशक, अध्याय ७ तथा ८)। दि० जैन मुमुक्षुओ और पाठको की दृष्टि से एक प्रकार से मोक्षमार्ग प्रकाशक दोनो ही सिद्धान्तग्रथो–समयसार और गोम्मटसार के गूढ रहस्यो को समन्वयात्मक दृष्टि और तर्कसगत प्रणाली से बोलचाल की भाषा मे प्रस्तुत करने वाला आधुनिक काल का एक सिद्धान्त ग्रथ ही है। मोक्षमार्ग प्रकाशक का प्रकाशन आज से ७६ वर्ष पूर्व हुआ था। तब से इसके अनेक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं और आज तो यह दि० जैन समाज मे व्यापक रूप से मान्य और प्रचलित है। प० टोडरमलजी की मेधा, विद्वत्ता और ज्ञान का इससे किंचित् अनुमान लगाया जा सकता है।

दूसरा कार्य – भट्टारकवाद का विरोध जो टोडरमलजी ने किया, वह उनकी उपर्युक्त योजना की स्वाभाविक परिणति है। शुद्ध आत्मा की बात करने वाला व्यक्ति जड़ जगत से सम्बन्धित और इससे प्राप्त भोगोपभोगो की भर्त्सना करेगा ही। इस सम्बन्ध मे इस परम्परा के विषय मे दो शब्द कहने आवश्यक है। हिन्दी मे सबसे पहले कवि

बनारसीदासजी ने तत्समय मे व्याप्त पाखण्डों और सिद्धान्त ग्रथों के नाम पर अपनी मनचाही बातों को चलाने वाले लोगो का विरोध किया था। अनेक ग्रन्थो के अध्ययनोपरान्त वे समयसार की ओर मुड़े। सत्य का अनुभव उन्होने समयसार में किया। उनकी कृति 'नाटक समयसार' इसी सत्य को तत्कालीन प्रचलित भाषा के माध्यम से सुपाठ्य बनाने का प्रयास है। तब आगरा में आध्यात्मिक 'सैलियाँ' नियमित रूप से चलती थी, जिनमें विभिन्न सैद्धान्तिक ग्रंथों पर चर्चाएँ हुआ करती थीं। इनमें जिज्ञासुओं के अतिरिक्त अनेक अधिकारी विद्वान् उपस्थित हुआ करते थे। बनारसीदासजी की विचारधारा इन 'सैलियो' के माध्यम से विशेष रूप से जन-सामान्य में फैली। कालान्तर में यह विचारधारा (ज्ञेय और अनुभवनीय – शुद्ध आत्मा ही है) अन्य स्थानों में भी फैली। टोडरमलजी के समय जयपुर में इस 'सैली' को चलाने वाले बाबा बशीधरजी थे। इस प्रकार इसका बीज-बपन किसी न किसी रूप में हो चुका था। आवश्यकता अब केवल एक ऐसे विद्वान् की थी जो मान्य सिद्धान्त ग्रंथों के आधार पर इसको पल्लवित एव पुष्पित कर सके तथा इसकी जड़े दृढ, स्थायी और पुष्ट बना सके। कहने की आवश्यकता नही कि इसके लिए कितने विशाल और तलस्पर्शी ज्ञान तथा तर्कबुद्धि की आवश्यकता थी। पडित टोडरमलजी के रूप में वह प्रतिभा अवतरित हुई, जिसने अनेक कृतियो के माध्यम से – विशेषत: मोक्षमार्ग प्रकाशक के रूप में यह महान् दायित्व पूरा किया। भट्टारकवाद, उसका विरोध और विरोध के कारण अनेक थे। इन सबका प्रस्तुत लेखक डॉ० भारिल्लजी ने सप्रमाण उल्लेख विवेचन किया है जो मूल मे पठनीय है (प्रस्तुत ग्रंथ अध्याय १)। अठारहवी शताब्दी मे पं० टोडरमलजी दि० जैन-जगत में जो आध्यात्मिक और सामाजिक क्रान्ति कर रहे थे, उसका महत्त्व प्रस्तुत ग्रन्थ में मूलरूप मे पठनीय है। पंडित टोडरमलजी जैसे महान् विद्वान् के कार्यों का सम्यक् रूप से महत्त्व-दिग्दर्शन बहुत कठिन और अध्ययन सापेक्ष कार्य है। डॉ० भारिल्लजी ने इसे सफलतापूर्वक सम्पन्न किया है, तदर्थ वे बधाई के पात्र है।

प्रस्तुत शोध-प्रबध की इयत्ता यही तक ही नही है। इसमे टोडरमलजी की सम्पूर्ण रचनाओ के अतिरिक्त उनकी गद्य शैली और भाषा का भी अध्ययन प्रस्तुत किया गया है, जो प्रबध के शीर्षक 'कर्तृत्व' को दृष्टि मे रखते हुए ठीक ही है। पडित टोडरमलजी की भाषा को हम 'मिश्रित हिन्दी भाषा' कह सकते है, उदाहरण के रूप मे पिगल, जिसका व्याकरणिक आधार तो ब्रजभाषा है किन्तु जिसमे राजस्थानी का प्रभूतश सम्मिश्रण है। अभी तक जहाँ तक जानकारी है, पिगल के अतिरिक्त अन्य किसी ऐसी मिश्रित भाषा और उसके साहित्य पर कार्य नही हुआ। विभिन्न शास्त्र-भण्डारो और सग्रहालयो मे अनेक ऐसी रचनाएँ मिलती है, जिनकी भाषा विचार के नये आयाम प्रस्तुत करती है। ब्रज और खडी बोली, राजस्थानी और खडी बोली, अवधी और राजस्थानी और कही-कही तो तीन-तीन भाषाओ का मिश्रण भी एक ही रचना में देखने को मिल जाता है, यथा – राजस्थानी, ब्रज और खडी बोली। पडित टोडरमलजी की भाषा ऐसी ही मिश्रित भाषा है। इसमे मूलाधार के रूप मे तो ब्रज है पर ढूढाडी (जयपुरी) और खडी बोली का पुट भी मिलता है। भाषा सामाजिक दाय है। एक व्यापक समाज को सहजरूपेण बोधगम्य कराने की दृष्टि से सभवत· टोडरमलजी ने इस तरह की भाषा अपनाई थी। ऐसी भाषाओ और उनके साहित्यो का अध्ययन, समय-समय पर बदलते समाज और उसके मान्यता-परिवर्तन, तथा मान मूल्यो एव सास्कृतिक विरासत की दृष्टि से भी अध्ययनीय है। प्रस्तुत ग्रन्थ के पाचवे और छठे अध्याय – पडित टोडरमलजी की शैली और भाषा का अध्ययन – ऐसी मिश्रित भाषाओ पर काम करने वाले परवर्ती शोधार्थियो के लिए अनेक दृष्टियो से दिग्निर्देश करते है। इस ओर शोधार्थियो द्वारा प्रयास अवश्य किया जाना चाहिए। विभिन्न प्रदेशो के दिगम्बर जैन समाज के प्रवचनो मे व्यापक रूप से पडित टोडरमलजी की यह भाषा चलती और समझी जाती रही है, जबकि इन प्रदेशो की बोलियाँ भिन्न-भिन्न है। भाषायी एकता का यह बड़ा प्रमाण है।

टोडरमलजी की विचारधारा ने कितने समकालीन और परवर्ती विचारको, कवियों, लेखकों और व्यक्तियो को प्रभावित किया इसका अध्ययन अभी बाकी है। तत्सम्बन्धी सकेत यत्र-तत्र प्रस्तुत ग्रन्थ में मिलते है। पं० टोडरमलजी के बाद अब तक इस वैचारिक परम्परा का इतिहास उनके व्यक्तित्व को और भी सबल रूप मे हमारे सामने रख सकेगा। मै डॉ० भारिल्लजी से अनुरोध करता हूँ कि वे इस कार्य को अपने हाथ मे ले और उसी शोध दृष्टि से उसे पूरा करे जैसा कि उन्होने प्रस्तुत कार्य किया है। यह अत्यन्त हर्ष की बात है कि इसके लेखक प्राप्त नवीन सामग्री के आलोक में पुरानी मान्यताओं को परखते और निर्भीकतापूर्वक कहते है। उदाहरणार्थ, अब तक पडित टोडरमलजी की मृत्यु २७ वर्ष की अवस्था में हुई मानी जाती थी (श्री टोडरमल जयन्ती स्मारिका, पृष्ठ १४-१५)। निश्चय ही २७ वर्ष की अवस्था मे इतना बडा कार्य कर देने वाले टोडरमलजी और भी महान् थे। डॉ० भारिल्लजी ने अनेक प्रमाणों के आधार पर स्पष्ट किया है कि उनका देहान्त २७ वर्ष की नही अपितु ४७ वर्ष की अवस्था में हुआ था (प्रस्तुत ग्रंथ, पृष्ठ ४४-५३)। ४७ वर्ष की अवस्था में इतना कार्य टोडरमलजी ने किया, इस स्थापना से उनकी महत्ता में कोई आच नही आती।

प्रस्तुत ग्रन्थ जैनधर्म से सम्बन्धित सिद्धान्तों, व्याख्याओं, साहित्य, और भाषा की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस कार्य के लिए डॉ० भारिल्ल हिन्दी विद्वानो की ओर से बधाई के पात्र है। इसके प्रकाशक, पडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट के संचालकगण और मूल प्रेरणा के स्रोत श्री कानजी स्वामी जिनका उल्लेख लेखक ने अपने निवेदन में किया है, भी बधाई के पात्र है।

बी-१७४ ए, राजेन्द्र मार्ग
बापूनगर, जयपुर-४
१ अगस्त, १९७३

– हीरालाल माहेश्वरी

"तातैं बहुत कहा कहिए, जैसैं रागादि मिटावने का श्रद्धान होय सो ही श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। बहुरि जैसैं रागादि मिटावने का जानना होय सो ही जानना सम्यग्ज्ञान है। बहुरि जैसैं रागादि मिटैं सो ही आचरण सम्यक्चारित्र है। ऐसा ही मोक्षमार्ग मानना योग्य है।"

— पंडित टोडरमल

प्रस्तावना

डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन
एम०ए०, पी एच० डी०, साहित्याचार्य
प्राध्यापक एव अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
शासकीय एस० एन० स्नातकोत्तर
महाविद्यालय, खण्डवा

प्रवृत्ति और निवृत्ति

'धर्म' का अर्थ है – वह जो धारण करता है अथवा जिसके द्वारा धारण किया जाय। 'प्रश्न है वह क्या है जिसे धारण किया जाता है या जो धारण करता है?' मनुष्य की मुख्य समस्या है – उसका अस्तित्व। उसके सारे भौतिक और आध्यात्मिक कार्य तथा प्रवृत्तियाँ इसी प्रश्न के हल के लिए है। वह सोचता है कि क्या उसका भौतिक अस्तित्व ही है या और कोई सूक्ष्म अस्तित्व भी है, जो जन्म और मृत्यु की प्रक्रिया से परे है? फिर वह जीवन मे शुभ-अशुभ प्रवृत्तियो की कल्पना करता है और अपने आपको शुभ पथ में लगाना चाहता है। इस गार्हस्थ जीवन में अशुभ प्रवृत्तियो से एक दम बच पाना नितान्त असभव है, जीवन की प्रक्रिया ही कुछ ऐसी पेचीदा है। इसलिए वह मान लेता है कि 'शुभाशुभाभ्या मार्गाभ्या बहति वासना सरित्' – यह वासनारूपी सरिता अच्छे बुरे मार्गो से बहती है और उसे प्रयत्नपूर्वक अच्छे मार्ग पर लगना और अशुभ से बचना चाहिए।

दूसरा प्रश्न – दो उत्तर

जहाँ तक दूसरे प्रश्न का सम्बन्ध है, उसके दो उत्तर हो सकते है। एक तो यह है कि विश्व एक प्रवाह है, जिसमे प्रत्येक वस्तु को उसका स्वभाव धारण करता है। 'वस्तु स्वभावो धर्म'। जल तभी तक जल है जब तक उसमे ठडक है। आग तब तक आग है जव तक उसमे गर्मी है। किसी वस्तु को उसका अपना भाव ही

धारण करता है, इसलिए वही धर्म है। दूसरा उत्तर है कि विश्व अपने आप मे अनादि-प्रवाह नही है, उसका कोई न कोई उद्गम है, कोई न कोई महाअस्तित्व है, जिससे सृष्टि का उद्गम हुआ है। दृश्य विश्व उसी की परिणति है। यह महाअस्तित्व ईश्वर है। हम विश्व को एक प्रवाह माने या ईश्वर की कृति, इसमे मतभेद हो सकता है किन्तु विश्व के अस्तित्व मे कोई मतभेद नही है। हम सब अपने अस्तित्व को मात्र बनाए ही नही रखना चाहते, प्रत्युत उसे अधिक सुविधायुक्त और परिष्कृत भी करना चाहते है। यह मनुष्य ही कर सकता है, दूसरे प्राणी नही, क्योकि उसके पास सोचने-समझने की शक्ति है, यह विवेक ही उसकी सब से बडी सपत्ति है।

मूल प्रवृत्तियाँ और धर्म

आहार, निद्रा, भय और मैथुन – ये प्रवृत्तियाँ हीनाधिक रूप मे सभी प्राणियो मे पाई जाती है। केवल विवेक ऐसी विशेषता है जो दूसरो के पास नही है। अत मनुष्य के सन्दर्भ मे धर्म का अर्थ है – उसका विवेक। यह विवेक न केवल मनुष्य को लौकिक प्रगति के लिये प्रेरित करता है बल्कि उसे आध्यात्मिक प्रगति के लिए भी प्रेरणा देता है। यह उसे स्व के सीमित घेरो को तोड़ कर एक व्यापकतर अनुभूति के क्षेत्र मे ले जाता है। व्यापकतर अनुभूति के लिये व्यापक सम्भावना की अनुभूति बहुत आवश्यक है। अनीश्वरवादी जीवमात्र मे विद्यमान अन्त समानता के आधार पर व्यापकता को खोजते है, जब कि ईश्वरवादी व्यापक एकता के आधार पर।

मनुष्य और धर्म

धर्म मनुष्य जीवन की व्यापक अनुभूति है जो उसकी विशेषता भी है और आवश्यकता भी, परन्तु जीवन का रथ प्रवृत्ति और निवृत्ति के पहियो पर घूमता है। जीवन मे कोई न तो सर्वथा प्रवृत्ति-वादी हो सकता है और न निवृत्तिवादी। दुर्भाग्य से यह भ्रान्ति गहरी जड पकड चुकी है कि अमुक धर्म प्रवृत्तिवादी है और अमुक धर्म निवृत्तिवादी। वस्तुत प्रवृत्ति और निवृत्ति एक ही सिक्के के दो पहलू है, एक का सम्पूर्ण निषेध कर हम दूसरे का भी बहिष्कार कर देंगे और जीवन लूला-लगडा बन जायेगा।

परिवर्तन और जैन धर्म

जैन धर्म कितना ही आध्यात्मिक या आत्मवादी क्यों न रहा हो, विशुद्ध निवृत्तिवादी कभी नही था। यह उसके अनेकान्तवादी दृष्टि-कोण के भी विरुद्ध है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से देखे तो प्रारम्भिक तीर्थकरों के जीवन मे प्रवृत्ति और निवृत्ति का सुन्दर समन्वय है। 'तीर्थकर' शब्द ही प्रवृत्ति का सूचक है। वह प्रवृत्ति आध्यात्मिक ही सही, किन्तु आठवी सदी या उसके कुछ पूर्व से उसमें भट्टारकवाद, तत्रवाद, सराग उपासना का बोलबाला था। यद्यपि इसके पूर्व कुदकुदाचार्य विशुद्ध अध्यात्मवाद का प्रवंतन कर चुके थे, उसके बाद सत्रहवी सदी मे उक्त विचारधारा को शुद्धाम्नाय के नाम से प्रसिद्ध कवि बनारसीदासजी ने आगे बढाया। उनके साहित्य को देखने से पता चलता है कि उस समय जैन साधको मे अह और शिथिलाचार चरम सीमा पर था। सारी साधना अनुभूति की आंतरिक पीडा से मुक्त थी। उनके द्वारा स्थापित मत को तेरहपंथ कहा गया है। कुछ लोग इसे अनादिनिधन मानते है। संभवतः यहाँ पर अनादि-निधन से अभिप्राय मूल दृष्टिकोण से है।

वीतरागता

जैन आचार और विचार प्रक्रिया समय की छाव मे अपना रग-रूप बदलती रही है। उसके जीवित रहने के लिये यह जरूरी था। जैन दर्शन के अनुसार सत् की परिभाषा है 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्'। उसके अनुसार यदि पदार्थ अपना अस्तित्व रखता है तो उसमे एक साथ कुछ न कुछ नया जुडता है और कुछ न कुछ पुराना टूटता है, फिर भी वह बना रहता है, यही उसकी नित्यता है। यह सोचना गलत है कि जैन विचारधारा भौतिक आधार के बिना खडी नही रह सकती। वीतरागता एक दृष्टिकोण है ससार को देखने का न कि अनुभूतिशून्य आचार-तत्र। वीतरागता का अर्थ दिगम्बरत्व नही है। वह तो उसे पाने की एक आचार प्रक्रिया है जो पूर्ण वीतरागता के लिए जरूरी है, पर वह अपने आप मे वीतरागता नही है। वीतरागता आत्मा का धर्म है, नग्नता शरीर का। वह साधन है, साध्य है वीतरागता।

कसौटी

यह सोचना गलत है कि प्रवृत्ति हमेशा प्रवृत्ति रहती है और निवृत्ति हमेशा निवृत्ति। कभी प्रवृत्ति निवृत्तिमूलक हो सकती है और कभी निवृत्ति प्रवृत्तिमूलक। प० टोडरमल का मुख्य तर्क यह है है कि प्रवृत्ति और निवृत्ति का सग्रह या त्याग आध्यात्मिकता की कसौटी नही है, उसकी असली कसौटी है वीतरागता। प्रवृत्ति यदि वीतरागता मे सहायक है तो उसका स्वागत किया जाना चाहिए और यदि निवृत्ति राग या कषाय को बढाती है तो ठीक नही। वीतरागता और सम्यग्दृष्टि का चोली-दामन का सम्बन्ध है, यह अन्तर्विवेक वीतरागता के बिना सम्भव नही है। अत. यदि अन्तर्विवेक मनुष्यता को धारण करने वाला धर्म हो तो यह भी मानना होगा कि उसका पूर्ण विकास वीतराग दृष्टि मे ही सम्भव है। वीतरागता पशु मे भी होती है, क्योकि वह चेतन है इसलिए उसमे यदि राग है तो वीतरागता भी होगी ही। अत. वीतरागता केवल निवृत्ति नही है वरन् विवेक-पूर्वक निवृत्ति है। इसलिए जो लोग निवृत्ति के नाम पर विवेकशून्य आचरण करते है उन्हे भर्तृहरि के शब्दो मे क्या यह कहा जाय कि वे पशु से भी गये बीते है ?

इस मे सन्देह नही कि पडित टोडरमल ज्ञान-साधना और साधुता के प्रतीक थे। वे त्यागी नही थे और न धुरन्धर आचार्य। वे सच्चे पुरुषार्थी और वीतराग-विज्ञानदर्शी थे। प्राय देखा जाता है जो लोग जीवन मे अपने पैरो पर खडे है वे आध्यात्मिक दृष्टि से दूसरो पर निर्भर करते है और जो लोग अध्यात्मसाधना मे लगे है उनका उत्तरदायित्व समाज को उठाना पडता है। लेकिन प० टोडरमल दोनो क्षेत्रो मे अपने पुरुषार्थ पर विश्वास रखते थे। उन्होने पर-मतो का ही नही, स्वमत का और उसमे व्याप्त रूढियो की कडी आलोचना की है। दूसरो के मत की आलोचना करना आसान है परन्तु अपने मत की आलोचना करना तलवार की धार पर चलना है क्योकि उसमे अपनो के बीच प्रतिष्ठा दाव पर लगानी होती है।

मोक्षमार्ग प्रकाशक

उनकी समूची साहित्य साधना मे 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' विशिष्ट महत्त्व रखता है। वह अनुभूति और चिन्तनप्रधान ग्रन्थ है। वह

मोक्षमार्ग प्रकाशक है, मोक्ष का शास्त्र नही। वे मोक्ष का मार्ग बताते है, उस पर चलाने का काम नही करते। वह नेता नही, स्वयं एक राही है। लेकिन राह को समझ लेना और दूसरे को ठीक-ठीक समझा देना बहुत बडा काम है। तत्त्वार्थसूत्र का पहला सूत्र 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग:' रट कर जो लोग अपने आपको सम्यग्दृष्टि और मोक्षमार्गी समझते है, मोक्षमार्ग प्रकाशक उनकी आखे खोल देने वाला ग्रन्थ है। जो जैन यह समझते है कि जैन कुल मे उत्पन्न होना ही सम्यग्दृष्टि होना है, यह ग्रंथ उनके इस दंभ को चूर-चूर कर देता है। मोक्षमार्ग प्रकाशक मे मिथ्यादृष्टि की विस्तार से चर्चा है, ताकि उससे बचा जा सके। 'सग्रह त्याग न बिनु पहिचाने'। जैनाभासो का उनका विभाजन मौलिक है–१. निश्चयाभासी, २. व्यवहाराभासी और ३. उभयाभासी। उनकी आलोचना रचनात्मक है। उन्होने इसके द्वारा जैनो मे व्याप्त आध्यात्मिक स्वच्छदतावाद, वाह्याडबरवाद और सशयावाद पर तीव्र प्रहार किया है। उन्होने सामाजिक रूढियो की भी आलोचना की है, परन्तु उन्होने कभी अपने आपको समाज-सुधारक नही कहा। इस प्रकार मोक्षमार्ग प्रकाशक न केवल आध्यात्मिक ग्रंथ है, बल्कि समाज का दर्पण भी है, और हम चाहे तो उसमे अपने मुँह का आकार देख सकते है।

मोक्षमार्ग प्रकाशक आध्यात्मिक चिकित्सा का शास्त्र है, जिसमे रोग का निदान ही नही वरन् औषधि भी है। इसमे पडितजी केवल वीतराग-विज्ञानी ही नही, वरन् अनुभूतिमूलक गद्यकार, आलोचक और एक महान प्राश्निक एव उत्तरदाता के रूप मे हमारे सम्मुख आते है।

इच्छाओं का विभाजन

पंडितजी के अनुसार शास्त्र साधन है, साध्य है वीतरागता। वीतरागता के साथ राग नही रह सकता। पडितजी अर्थशास्त्र के पडित नही थे, परन्तु उन्होने मनुष्य की इच्छाओ का विभाजन करते हुए प्रकारान्तर से बताया है कि अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्र की सीमाएँ क्या है? उनके अनुसार इच्छाएँ चार प्रकार की है–विषयगत इच्छाएँ जिन्हे अर्थशास्त्र मे मूल आवश्यकताएँ कहते है, जिनकी पूर्त्ति और पूर्त्ति के साधन जीवन के लिये जरूरी हैं। दूसरी और तीसरी इच्छाएँ वे है जो मनुष्य मे पाप या पुण्य के उदय से उत्पन्न होती है और जिनका

परिणाम दुख सुख है। इनमे अनुकूल इच्छा को मनुष्य भोगना चाहता है और प्रतिकूल को छोडना चाहता है। पडितजी का तर्क है इन्हे पूर्व जन्म के कर्मफल समझ कर मनुष्य को अपने वर्त्तमान जीवन का सतुलन नही खोना चाहिए। परन्तु जहाँ तक कषायो का सबध है, ये मनुष्य की सब से घातक इच्छाएँ है। ये है – काम, क्रोध, मान, और लोभ। ये न तो विषयगत इच्छाओ की तरह जीवन के अस्तित्व के लिये जरूरी है और न पाप-पुण्यगत इच्छाओ की तरह पूर्व जन्म का ऋण। फिर भी मनुष्य इनके चक्कर मे पड कर अपना और दूसरे का सर्वनाश कर डालता है। वीतरागता इन्ही इच्छाओ पर रोक लगाने के लिए है। मनुष्य वस्तुत: जिन चीजो से राग करता है, वे जड है। काम, क्रोध, मान, और लोभ इसी राग की तीव्रतम चेतना की विभिन्न प्रतिक्रियाएँ है। इसीलिए कहा गया है कि निर्मोही गृहस्थ अच्छा है उस मुनि से जो मोही है। 'अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुने.'।

प्रस्तुत ग्रन्थ

प्रस्तुत ग्रन्थ सन्दर्भित विषय पर पहिला मौलिक और प्रामाणिक शोध-प्रबन्ध है। निर्देशक होने के नाते मै कह सकता हूँ कि इसके लेखन मे – श्री भारिल्ल ने प्राप्त तथा प्राप्य सामग्री के अनुसधान और अनुशीलन मे कोई कसर नही रखी, परन्तु यह शोध का प्रारम्भ है, अन्त नही। पडितजी के पूर्व आचार्य कुदकुद तक विशुद्ध अध्यात्म की लम्बी धारा है। इस परम्परा का नवीनीकरण कर जनमानस मे सच्ची अध्यात्म विवेक दृष्टि जाग्रत करने के लिए पूज्य कानजी स्वामी की प्रेरणा से जो कुछ कार्य हो रहा है, यह शोध भी उसी का एक अग है। मै चाहता हूँ कि पूज्य आचार्य कुदकुद से लेकर पूर्व-टोडरमल तक इस विचारधारा के महत्त्वपूर्ण विचारो की वृत्तियो पर ऐसा शोध-पूर्ण प्रामाणिक ग्रन्थ तैयार किया जाय जो समूची विचारधारा का समकालीन सदर्भो मे तथा जीवन के व्यावहारिक और आध्यात्मिक मूल्यो का अध्ययन प्रस्तुत करे। किसी भी विचारधारा के जीवित रहने के लिये उस पर शोधपरक अध्ययन बहुत जरूरी है। पूज्य कानजी स्वामी के प्रति यही श्रद्धाजलि हो सकती है कि यह काम उनके जीवन-काल मे ही पूरा हो जाए।

– देवेन्द्रकुमार जैन

११४, ऊषा नगर
इन्दौर (म० प्र०)

प्रकाशकीय

'पडित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्त्तृत्व' शोध-प्रबध प्रकाशित करते हुए हमें अत्यधिक प्रसन्नता हो रही है। आचार्यकल्प पडितप्रवर टोडरमलजी को जैन समाज मे कौन नही जानता ? उनका 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' तो समाज के हृदय का हार बना हुआ है। आज से लगभग ४८ वर्ष पूर्व उक्त ग्रथ आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य श्री कानजी स्वामी के हाथ लगा। उसका सातवॉ अध्याय पढ कर वे इतने प्रभावित हुए कि उन्होने उक्त अध्याय के ५० पृष्ठ अपने हाथ से लिख लिए जो आज भी सुरक्षित है।

पूज्य स्वामीजी के मुख से मोक्षमार्ग प्रकाशक व उसके कर्त्ता पंडितप्रवर टोडरमलजी की श्रद्धापूर्वक प्रशसा सुन कर श्रीमान् सेठ पूरणचदजी गोदीका, जयपुर के हृदय मे पडितजी के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हुई एव यह जान कर तो उन्हे अपार हर्ष हुआ कि पडितजी की कर्मभूमि जयपुर ही रहा है। उन्हे जयपुर मे उनका एक भव्य स्मारक बनाने का भाव आया। पूज्य गुरुदेव की अनुमोदना एव स्वर्गीय पडित चैनसुखदासजी से प्रेरणा पाकर उन्होंने अपनी भावना को साकार रूप दे दिया। परिणामस्वरूप पडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट की स्थापना हुई एव श्री टोडरमल स्मारक भवन का निर्माण हुआ।

उपर्युक्त स्मारक ट्रस्ट के ट्रस्टियो मे विचार चल रहा था कि जिन पूज्य पडितजी के नाम पर स्मारक ट्रस्ट की स्थापना हुई है, उन महापुरुष के व्यक्तित्व एव कर्त्तृत्व से जनसाधारण अपरिचित है, अत. इस विषय पर सूक्ष्मता एव गहराई के साथ प्रामाणिक शोध-कार्य करने की आवश्यकता है। इसी बीच श्री टोडरमल स्मारक भवन, जयपुर मे डॉ० सत्येन्द्र, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, राजस्थान विश्व-विद्यालय की अध्यक्षता मे मार्च सन् १९६८ ई० मे आयोजित 'टोडरमल जयती समारोह' के अवसर पर स्व० प० चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ ने पं० हुकमचदजी भारिल्ल, शास्त्री, न्यायतीर्थ, एम०ए०, सयुक्तमत्री,

प० टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर से आचार्यकल्प प० टोडरमलजी पर शोध-कार्य करने का आग्रह किया। उस अनुरोध को उन्होने तत्काल सहर्ष स्वीकार कर लिया क्योकि उनका भी विचार चल ही रहा था। फलस्वरूप इन्दौर विश्वविद्यालय मे डॉ० डी० के० जैन, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग के निर्देशन मे उक्त शोध-प्रबध उनके द्वारा मई सन् १९७२ ई० मे प्रस्तुत किया गया।

मेरा डॉ० भारिल्लजी से अत्यधिक निकट का सम्पर्क होने से मुझे मालूम है कि उन्होने इस शोध-प्रबध को तैयार करने मे कितना अथक् परिश्रम किया है। इस सबध मे खोज करने के लिए बहुत सा प्रकाशित व हस्तलिखित साहित्य कई स्थानो से इकट्ठा करना पड़ा। अनेको जगह स्वय को भी जाना पडा। महीनो तक लगातार अपने स्वास्थ्य का ध्यान न रखते हुए रात-दिन एक किए। यह कहने मे किचित् भी अतिशयोक्ति नही कि डाक्टर साहब का सारा परिश्रम पूर्णरूपेण सफल हो गया है।

मै ट्रस्ट की ओर से डॉक्टर भारिल्लजी को इस सत्कार्य के लिये अनेकानेक बधाई प्रेषित करता हूँ। वे धन्यवाद के पात्र है। उन्होने ट्रस्ट के सकल्प को पूर्ण किया और स्व० प० चैनसुखदासजी की भावना को मूर्त रूप दिया। यदि आज वे हमारे बीच होते तो उनको कितनी खुशी होती – इसका अनुमान हम नही लगा सकते।

दिनाक २८ जनवरी, १९७३ ई० को हल्दियो का रास्ता स्थित बुलियन एक्सचेज, जयपुर मे आयोजित पडित टोडरमल स्मृति समारोह के अवसर पर पडित टोडरमलजी पर शोध-प्रबध लिखने के उपलक्ष मे डॉ० भारिल्लजी का सार्वजनिक अभिनदन किया गया था। उक्त अवसर पर पू० श्री कानजी स्वामी का मगल आशीर्वाद प्राप्त हुआ था जो आरभ मे दिया जा चुका है। उसके बाद डॉक्टर साहब के क्षयोपशम, अलौकिक ज्ञान व विलक्षण प्रतिभा के लिये मेरे पास लिखने को विशेष कुछ नही बचता है।

इस शोध-प्रबध द्वारा महापडित टोडरमलजी के सबध मे कई महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रकाश मे आए है। अभी तक पूज्य पडितजी के

आचार्यकल्प पंडित टोडरमल स्मृति समारोह

दिनाक २८ जनवरी, १९७३ ई० को जयपुर मे सम्पन्न पडित टोडरमल स्मृति समारोह एव डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल के अभिनन्दन के अवसर पर पडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट के अध्यक्ष श्रीमान् सेठ पूरणचदजी गोदीका "पडित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व" शोध-प्रबध लिखने के उपलक्ष मे डॉ० भारिल्ल (बाये) को अभिनन्दन-पत्र भेट करते हुए। साथ मे ट्रस्ट के मत्री श्री नेमीचदजी पाटनी एव राजस्थान जैन सभा के अध्यक्ष श्री कपूरचदजी पाटनी एडवोकेट खडे है।

संबंध में ऐसी मान्यता चली आ रही थी कि उनका २७ वर्ष की आयु में देहावसान हो गया था, लेकिन डाक्टर साहब ने अनेक प्रमाणों से सिद्ध किया है कि वे ४७ वर्ष तक जीवित रहे। अलीगंज (जिला ऐटा – यू० पी०) से प्राप्त हस्तलिखित सामग्री शोध-प्रबंध मे उसी रूप में लगाई गई है (देखिए पृ० ५१-५२), जिसको पढने से हृदय गद्गद् हो जाता है।

इसी प्रकार यह मान्यता प्रचलित थी कि पंडितजी को पढाने के लिए बनारस से एक विद्वान् बुलाया गया था। डाक्टर साहब ने उसको अप्रामाणिक सिद्ध किया है। उनका लिखना है कि जिस परिवार के व्यक्ति को छोटी उम्र में आज से २०० वर्ष पूर्व आवागमन के समुचित साधनों के अभाव मे भी आजीविका के लिए जयपुर से १५० किलोमीटर दूर सिघाणा जाना पडा हो, उसका परिवार इतना सम्पन्न नही हो सकता कि उसको पढाने के लिये बनारस से विद्वान् बुलाया गया हो। मै यहाँ पर यह लिखना चाहूँगा कि आर्थिक स्थिति से इतने कमजोर होते हुये भी पडितजी अपनी आत्म-साधना व ज्ञानसाधना मे निरतर तत्पर रहे। इससे यह सिद्ध होता है कि आत्मिक पवित्रता का बाहरी सयोगो से कोई मेल नही है। यह एक सुखद आश्चर्य है कि पडितजी का सिघाणा जाना जैन समाज के लिये एक वरदान सिद्ध हुआ। वहाँ पर महान सैद्धान्तिक ग्रथ 'सम्यग्ज्ञानचंद्रिका' की रचना हुई, जिसका विशद वर्णन आप प्रस्तुत ग्रथ मे स्वय पढेगे।

इस प्रकार के और भी कई तथ्य शोध-प्रबध के द्वारा प्रकाश मे आए है। आप स्वय इस ग्रथ के माध्यम से उनसे परिचित होकर आश्चर्यान्वित होगे। उन सब को यहाँ लिख कर मै आपका विशेष समय नही लेना चाहूँगा।

उपर्यक्त शोध-प्रबंध सात अध्यायो मे विभक्त है। उनका विस्तृत विवेचन तो आप स्वयं पढ़ेगे ही। चतुर्थ अध्याय 'वर्ण्य-विषय और दार्शनिक विचार' मे जिस सूक्ष्मता से पडितजी के साहित्य का समग्र जैनदर्शन के परिपेक्ष्य मे विवेचन किया गया है, वह डॉ० भारिल्लजी के जैनदर्शन के वर्षो के तलस्पर्शी, गहन व गभीर अध्ययन से ही सभव

हो सका है। मेरा लिखने का आशय यह है कि शोध-प्रबध तो कोई भी जैन-अजैन विद्वान लिख सकता था, किन्तु जैन वाङ्मय के सम्यक् ज्ञान व अनेकान्त दृष्टिकोण के बिना इस प्रकार का स्याद्वादमय विवेचन सभव नही था। पूज्य श्री कानजी स्वामी ने फतेपुर (गुजरात मे) पचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के शुभ अवसर पर उपर्युक्त शोध-प्रबध को डाक्टर साहब के मुख से आद्योपात सुनकर अत्यन्त प्रसन्नता व्यक्त की थी।

यहाँ पर पडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट की गतिविधियो का सक्षिप्त परिचय देना अप्रासगिक नही होगा।

स्मारक भवन का शिलान्यास आध्यात्मिक प्रवक्ता माननीय श्री खेमचन्द भाई जेठालाल शेठ के हाथ से हुआ था एव उद्घाटन आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य श्री कानजी स्वामी के कर-कमलो से दिनांक १३ मार्च, १९६७ ई० को हुआ।

सस्था का मुख्य उद्देश्य आत्म-कल्याणकारी, परम शातिप्रदायक वीतराग-विज्ञान-तत्त्व का नयी पीढी मे प्रचार व प्रसार करना है। इसकी पूर्ति के लिए सस्था ने तत्त्व-प्रचार सम्बन्धी अनेक गतिविधियाँ प्रारम्भ की, जिन्हे अत्यल्प काल मे ही अप्रत्याशित सफलता प्राप्त हुई है। वर्तमान मे ट्रस्ट द्वारा निम्नलिखित गतिविधियाँ सचालित है :—

पाठ्यपुस्तक-निर्माण विभाग

बालको को सामान्य तत्त्वज्ञान प्राप्ति एव सदाचारयुक्त नैतिक जीवन बिताने की प्रेरणा देने के उद्देश्य से युगानुकूल उपयुक्त धार्मिक पाठ्यपुस्तके सरल सुबोध भाषा मे तैयार करने मे यह विभाग कार्यरत है। इसके अन्तर्गत बालबोध पाठमाला भाग १, २, ३; वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग १, २, ३ तथा तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग १ पुस्तको का प्रकाशन हो चुका है।

परीक्षा विभाग

उपर्युक्त पुस्तको की पढाई आरम्भ होते ही सुनियोजित ढग से उन पुस्तको की पढाई के लिए परीक्षा लेने की समुचित व्यवस्था की

आवश्यकता प्रतीत हुई। फलस्वरूप 'श्री वीतराग-विज्ञान विद्यापीठ परीक्षा बोर्ड' की स्थापना हुई। इस परीक्षा बोर्ड से १९६८-६९ मे ५७१ छात्र परीक्षा मे वैठे, जबकि १९७२-७३ मे यह सख्या बढकर १९,५७१ हो गई। परीक्षा बोर्ड से विभिन्न प्रातो की २५६ शिक्षरण-संस्थाएँ सम्बन्धित है – जिनमे से १५५ तो बोर्ड द्वारा स्थापित नवीन वीतराग-विज्ञान पाठशालाएँ है।

गुजराती भाषी परीक्षार्थियो की सुविधा की दृष्टि से इसकी एक शाखा अहमदाबाद मे भी स्थापित की गई है।

शिविर विभाग

इस विभाग की २ शाखाएँ है :–

१ प्रशिक्षरण शिविर

२. शिक्षरण शिविर

१ प्रशिक्षरण शिविर

श्री वीतराग-विज्ञान विद्यापीठ परीक्षा बोर्ड का पाठ्यक्रम चालू हो जाने पर और उत्तरपुस्तिकाओं के अवलोकन करने पर अनुभव हुआ कि अध्ययन शैली मे पर्याप्त सुधार हुए बिना इन पुस्तको को तैयार करने का उद्देश्य सफल नही हो सकेगा। अतएव धार्मिक अध्यापन की सैद्धान्तिक व प्रायोगिक प्रक्रिया मे अध्यापक बन्धुओं को प्रशिक्षित करने हेतु ग्रीष्मकालीन अवकाश के समय २० दिवसीय प्रशिक्षरण शिविर लगाया जाना प्रारम्भ किया गया। अभी तक ऐसे पाच शिविर क्रमशः जयपुर, विदिशा, जयपुर, आगरा व विदिशा मे सम्पन्न हो चुके है, जिनमे ६६५ अध्यापको ने प्रशिक्षरण प्राप्त किया है। आगामी प्रशिक्षरण शिविर गुजरात व महाराष्ट्र में लगाने का निश्चय हो चुका है। तत्सम्बन्धी एक पुस्तक 'वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षरण निर्देशिका' भी प्रकाशित की गई है।

२. शिक्षरण शिविर

प्रशिक्षरण शिविर की भाँति ही बालको के हेतु यथासमय जगह-जगह शिक्षरण शिविर लगाये जाते है।

शिक्षा विभाग

इस विभाग की ४ शाखाएँ है –

(१) वीतराग-विज्ञान पाठशाला विभाग
(२) सरस्वती भवन विभाग
(३) वाचनालय विभाग
(४) शोधकार्य विभाग

१. वीतराग-विज्ञान पाठशाला विभाग

यह अनुभव किया गया है कि हमारे स्कूलो मे, जिन पर समाज का लाखो रुपया खर्च होता है, धार्मिक शिक्षा एक तो चलती ही नही और चलती भी है तो नाममात्र की। अत एक योजना बनाई गई कि देश मे जगह-जगह ऐसी पाठशालाएँ चलाई जावे जिनमें एक घटा मात्र धर्म की शिक्षा दी जाय। इसके अन्तर्गत सारे भारतवर्ष मे १५५ वीतराग-विज्ञान पाठशालाएँ चल रही है। इस प्रकार की पाठशालाओ के लिए, यदि चाहा जावे तो, २० रु० माहवार का अनुदान देने की व्यवस्था है। इन पाठशालाओं मे परीक्षा बोर्ड से प्रशिक्षित अध्यापक-अध्यापिकाएँ कार्य करते है। इस दिशा मे कार्य करने की बहुत गुंजाइश है।

२. सरस्वती भवन विभाग

अध्ययन व स्वाध्याय के लिए श्री टोडरमल स्मारक भवन मे सर्व प्रकार का साहित्य उपलब्ध हो सके, इस दिशा मे सरस्वती भवन मे अब तक १६८० ग्रन्थो का सग्रह किया जा चुका है।

३. वाचनालय विभाग

वाचनालय विभाग मे लौकिक और पारलौकिक ज्ञान की वृद्धि हेतु धार्मिक, सामाजिक और लौकिक सभी प्रकार की पत्र-पत्रिकाएँ मगाई जाती है। वर्तमान मे इनकी सख्या २० है।

४. शोधकार्य विभाग

प्रस्तुत शोध-प्रबध इस विभाग की प्रथम उपलब्धि है। इस विभाग द्वारा आगे और भी शोध-कार्य हाथ मे लिए जाने की अपेक्षा है।

प्रकाशन विभाग

हमारे प्रकाशन श्री टोडरमल ग्रन्थमाला के नाम से होते है। सर्वप्रथम हमे ग्राचार्यकल्प पंडित प्रवर टोडरमलजी की ग्रमर कृति 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' के प्रकाशन का महान सौभाग्य प्राप्त हुग्रा। तदुपरान्त जैन समाज के प्रसिद्ध मूर्धन्य विद्वानों के मध्य जयपुर (खानियॉ) मे हुई ऐतिहासिक तत्त्वचर्चा जो कि 'खानियॉ तत्त्वचर्चा' के नाम से प्रसिद्ध है, का प्रकाशन हमारे यहॉ से हुग्रा। हमारे सभी प्रकाशनो की सूची प्रस्तुत ग्रंथ के ग्रावरण पृष्ठ पर दी गई है। महाराष्ट्र व गुजरात की मॉग पर हमारी कतिपय पुस्तको का मराठी व गुजराती में भी प्रकाशन हुग्रा है।

प्रचार विभाग

पंडित हुकमचन्दजी शास्त्री द्वारा श्री दिगम्बर जैन वडा मदिर तेरापथियान, जयपुर में प्रातः ग्रौर श्री टोडरमल स्मारक भवन मे सायकाल प्रवचन होता है, जिनसे काफी सख्या मे तत्त्वप्रेमी समाज लाभ लेता है। बाहर से उनके प्रवचनार्थ बहुत ग्रामन्त्रण ग्राते है, पर समयाभाव के कारण बहुत कम जा पाते है। फिर भी बम्बई, दिल्ली, कलकत्ता, गौहाटी, ग्रहमदाबाद, उज्जैन, नागपुर, शोलापुर, कोल्हापुर, इन्दौर, सागर, उदयपुर, भीलवाड़ा, विदिशा, ग्रलवर, ग्रागरा, खण्डवा, कुचामरण, ग्रशोकनगर, ललितपुर, शिरपुर, महावीरजी गुना, सीकर ग्रादि कई स्थानों पर पंडितजी गए है ग्रौर उनके द्वारा महती धर्म प्रभावना हुई है। ग्रापकी व्याख्यान शैली से सारा समाज परिचित ही है।

इस प्रकार संक्षेप में ट्रस्ट की गतिविधियो का परिचय ग्रापके सम्मुख प्रस्तुत किया है। हमारे प्रत्येक विभाग का कार्यक्षेत्र बहुत बडा है ग्रौर उसमे कार्य वढाने की बहुत गुजाइश है। तत्त्वप्रचार की ग्रौर कई योजनाऍ भी विचाराधीन है।

ऐसा कहने मे कोई ग्रतिशयोक्ति नही होगी कि संस्था को वर्तमान स्वरूप प्राप्त होने का श्रेय ट्रस्ट के सम्माननीय ग्रध्यक्ष श्रीमान् सेठ पूरणचंदजी गोदीका को है, जिन्होने ट्रस्ट की समस्त

योजनाओ को कार्यान्वित करने मे कभी किसी प्रकार की आर्थिक समस्या उत्पन्न नही होने दी ।

डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल इस सस्था के प्राण है । पूज्य स्वामीजी के उद्गार "अच्छा मिल गया । टोडरमल स्मारक को अच्छा मिल गया । गोदीका के भाग्य से मिल गया । गोदीका भी पुण्यशाली है न, सो मिल गया । वहुत अच्छा रहा ।" बार-बार याद आते है । सस्था के सभी कार्यक्रमो की रूपरेखा बनाने व उनको कार्यान्वित करने मे आपकी अद्भुत कार्यक्षमता व विलक्षण प्रतिभा प्रस्फुटित हुई है । आपकी तत्त्वप्रचार की उत्कट लगन तथा दीर्घ दृष्टि से कार्य सभालने की कुशलता अनुकरणीय है ।

डॉ० देवेन्द्रकुमारजी जैन, इन्दौर के प्रति मै हार्दिक आभार प्रगट करता हूँ, जिनके सक्षम निर्देशन मे यह पुनीत कार्य सम्पन्न हुआ व जिन्होने हमारे अनुरोध पर प्रस्तावना लिखने की भी कृपा की है ।

डॉ० हीरालालजी माहेश्वरी ने शोध-प्रवध के मुद्रण के लिये कई महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये, तथा भूमिका लिखने का हमारा आग्रह समयाभाव होते हुए भी स्वीकार किया, एतदर्थ हम उनके आभारी है ।

अन्त मे मै श्री सोहनलालजी जैन, श्री राजमलजी जैन व जयपुर प्रिण्टर्स परिवार का भी पूर्णरूपेण आभारी हूँ, जिन्होने दिन-रात एक करके इतने अल्प समय मे ऐसा सुन्दर मुद्रण करके, ग्रन्थ आप लोगो के समक्ष प्रस्तुत किया ।

आशा ही नही, पूर्ण विश्वास है कि यह ग्रथ ऐतिहासिक, साहित्यिक व आध्यात्मिक दृष्टि से लाभदायक सिद्ध होगा ।

द्वितीय सस्करण हेतु समुचित सुझावो की अपेक्षा के साथ,

ए-४, बापूनगर
जयपुर ३०२००४
दि० ५ अगस्त, १९७३ ई०

नेमीचंद पाटनी
मन्त्री
पडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

अपनी बात

आचार्यकल्प पडित टोडरमलजी का विद्वत्ता और रचना-परिमाण की दृष्टि से हिन्दी गद्य साहित्य जगत मे महत्त्वपूर्ण स्थान है, परन्तु उनके व्यक्तित्व और कर्त्तृत्व पर अनुसधानपरक अध्ययन अभी तक नही हुआ था। उनका नाम हिन्दी साहित्य के इतिहास मे इसलिए नही आ सका क्योकि उनकी रचनाएँ गद्य मे थी और ब्रजभाषा गद्य उस समय इतना लोकप्रिय नही था, तथा खडी बोली मे गद्य का विकास इस द्रुतगति से हुआ कि १७वी – १८वी शती के ब्रजभाषा गद्य के मूल्यांकन की साहित्य के इतिहास के पडितों ने आवश्यकता ही नही समझी। यदि वे गद्य की जगह पद्य लिखते तो इतिहासकार सभवत उनका विशेष रूप से उल्लेख करते। हिन्दी जैन साहित्य के इतिहासो मे भी उनके व्यक्तित्व और साहित्य का उल्लेख मात्र है।

दूसरा कारण यह भी रहा कि पंडितजी जैन अध्यात्म से सम्बद्ध थे। मुमुक्षु लोग पंडितजी की रचनाओं की विषय-वस्तु से ही सतुष्ट थे, उसके कलात्मक पक्ष या ऐतिहासिकता अथवा अभिव्यक्ति कौशल से उन्हे कोई प्रयोजन नहीं था। जो भी हो, उनकी रचना (मोक्षमार्ग प्रकाशक) आज से ७६ वर्ष पूर्व विक्रम सवत् १९५४ (सन् १८९७ ई०) मे सर्वप्रथम लाहौर से बाबू ज्ञानचन्दजी जैन ने प्रकाशित की थी। तब से उनकी रचनाएँ निरन्तर प्रकाशित ही नही होती रही, बल्कि पठन-पाठन की दृष्टि से भी लोकप्रिय रही है। उनका 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' अपने आप मे अभूतपूर्व मौलिक आध्यात्मिक ग्रन्थ है।

यह तो हुई उनके साहित्य प्रकाश और परिचय की पहली भूमिका। दूसरी भूमिका मे यद्यपि पडितजी पर कुछ फुटकर निबध और अखबारो के विशेषाक प्रकाशित हुए और सन् १९६४ ई० मे पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट की स्थापना हुई तथा जयपुर मे एक स्मारक भवन का निर्माण हुआ तथापि पंडितजी के व्यक्तित्व और कर्त्तृत्व पर शोधपूर्ण अध्ययन नही हुआ।

पडित टोडरमलजी के विशाल एव गंभीर आध्यात्मिक साहित्य को देख उन पर शोधकार्य करने का मेरा विचार चल ही रहा था कि पडितजी की जयन्ती के अवसर पर सन् १९६८ ई० मे स्वर्गीय पडित चैनसुखदासजी ने आग्रह के स्वर मे मुझे उन पर शोध-कार्य करने के लिए कहा, जिसे मैने सहर्ष स्वीकार कर लिया। पडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट के सचालकगण भी यह चाहते ही थे। उन्होने सर्व प्रकार के सहयोग का आश्वासन देते हुए उक्त कार्य को शीघ्र ही आरम्भ करने का अनुरोध किया। यथाशीघ्र मैने डॉ० देवेन्द्रकुमारजी जैन, तत्कालीन हिन्दी विभागाध्यक्ष, इन्दौर विश्वविद्यालय, इन्दौर के निर्देशन मे अपना शोधकार्य प्रारभ कर दिया।

अपने इस अध्ययन काल मे सबसे बडी कठिनाई पडितजी के जीवन सम्बन्धी तथ्यो की प्रामाणिक जानकारी सकलित करने मे हुई। विभिन्न स्रोतो से अधिक से अधिक प्रामाणिक जानकारी प्राप्त करने का पूरा-पूरा यत्न किया गया एव उसमे बहुत कुछ सफलता भी प्राप्त हुई। मै चाहता था कि जयपुर राजघराने व शासकीय आलेख विभाग से उनके सम्बन्ध मे मौलिक प्रमाणो को इकट्ठा करूँ, परन्तु यह सभव नही हो सका।

उनके प्राप्त साहित्य के आलोडन मे मैने अपनी दृष्टि से कोई कसर बाकी नही रखी है। उसका गभीर और बारीकी से पूरा-पूरा अध्ययन किया है, विशेषकर मोक्षमार्ग प्रकाशक की तो पक्ति-पक्ति से मैने घनिष्टतम सपर्क स्थापित किया है। उनके सम्पूर्ण साहित्य का भाषा और शैली की दृष्टि से एव ऐतिहासिक दृष्टिकोण से तो अध्ययन प्रस्तुत किया ही है, साथ ही उनके दार्शनिक और सैद्धान्तिक पक्षो का भी, उनके पूर्ववर्ती समग्र दिगम्बर जैन साहित्य-परम्परा के परिप्रेक्ष्य मे अध्ययन प्रस्तुत किया है। सदर्भ साहित्य विशेषत हस्तलिखित साहित्य का प्राप्त करना स्वय अपने आप मे एक कठिनतर कार्य है। कई ग्रन्थो के अब तक प्रकाशित न होने से, हस्तलिखित प्रतियो से अध्ययन करना पडा है। यह सब कितना श्रम-साध्य कार्य है, इसे विद्वद्वर्ग अच्छी तरह जानता है।

चतुर्थ अध्याय मे जैनदर्शन एव जैनागम परम्परा के परिप्रेक्ष्य मे उनके द्वारा वर्णित वर्ण्य-विषय एवं दार्शनिक विचारो का परिशीलन किया गया है – जिसमे सम्यग्दर्शन, जीव-अजीव, कर्म, आश्रव, बध, सवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य-पाप, देव-शास्त्र-गुरु, भक्ति, दैव और पुरुषार्थ, निमित्त-उपादान, सम्यग्ज्ञान, निश्चय-व्यवहारनय, जैनाभास, निश्चयाभासी, व्यवहाराभासी, कुल अपेक्षा धर्म मानने वाले, आज्ञानुसारी जैनत्व, लौकिक प्रयोजन से धर्म साधना करने वाले, उभयाभासी, नयकथनो का मर्म और उनका उपयोग, चार अनुयोग, अनुयोगो का अध्ययन-क्रम, वीतरागता एक मात्र प्रयोजन, न्याय-व्याकरणादि शास्त्रो के अध्ययन की उपयोगिता, सम्यक्चारित्र, अहिसा, भावो का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, वक्ता, श्रोता, पढने योग्य शास्त्र, वीतराग-विज्ञान, गृहीत-अगृहीत मिथ्याभाव, इच्छा, इच्छाओ के भेद, आदि विषयो का अनुशीलन किया गया है ।

पचम अध्याय मे उनकी गद्य शैली पर प्रकाश डाला गया है । इसके अन्तर्गत दृष्टान्त, प्रश्नोत्तर आदि शैलीगत विशेषताओ पर सोदाहरण विवेचन किया है ।

षष्ठ अध्याय मे पडितजी की भाषा पर विचार किया गया है । शब्द समूह – तत्सम, तद्भव, देशी, विदेशी, सज्ञा शब्द व उनके व्यक्तिवाचक, जातिवाचक, भाववाचक भेद; सर्वनाम – उत्तम पुरुष, मध्यम पुरुष, अन्य पुरुष, अव्यय – कालवाचक, स्थानवाचक, परिमाण-वाचक, गुणवाचक, प्रश्नवाचक, निश्चयवाचक एव सामान्य अव्यय, शब्द विशेष के कई प्रयोग; कारक – कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध और अधिकरण, क्रियापद – साध्यमान धातु से बनी क्रियाएँ, देशी क्रियाएँ, प्रेरणार्थक क्रियाएँ, पूर्वकालिक क्रियाएँ एव क्रिया के वर्तमान, भूत, भविष्य काल, आज्ञार्थ आदि रूपो पर विचार किया गया है। अन्त मे निष्कर्ष रूप से उनकी भाषा की प्रकृति का विश्लेषण किया गया है ।

सप्तम अध्याय मे हिन्दी भाषा और साहित्य को पडितजी के योगदान का मूल्याकन करते हुए समस्त विषय का उपसंहार किया है ।

अन्त मे तीन परिशिष्ट दिये गए है । प्रथम परिशिष्ट में प० टोडरमलजी के अनन्य सहयोगी साधर्मी भाई ब्र० रायमलजी द्वारा लिखित जीवन पत्रिका एव इन्द्रध्वज विधान महोत्सव पत्रिका दी गई है । उनमे पडितजी के जीवन के कई पहलू उजागर हुए है तथा उनमे उल्लिखित तथ्यो से उनके व्यक्तित्व और कर्त्तृत्व पर पर्याप्त प्रकाश पडता है । उनकी मूल प्रतियाँ प्राप्त है । उन्हे उसी रूप मे छापा गया है, जिस रूप मे वे है । मात्र विराम, अर्द्ध-विराम आदि अपनी ओर से लगाए है व आवश्यक शब्दार्थ टिप्पणी के रूप मे दिए है । दूसरे परिशिष्ट मे सदर्भ-ग्रथो की सूची एव तीसरे मे नामानुक्रमणिका दी गई है । ग्रंथ के प्रारंभ मे संकेत-सूची भी दी गई है ।

पडित टोडरमलजी के साहित्य, विशेषकर 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' का आध्यात्मिक मर्म समझने की दृष्टि मुझे पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी से प्राप्त हुई, उनके प्रति मै श्रद्धानवत हूँ एव उनका मगल आशीर्वाद पाकर अपने को गौरवान्वित अनुभव करता हूँ ।

अपने इस अध्ययन काल मे डॉ० जैन ने न केवल भाषाशैली की दृष्टि से मुझे महत्त्वपूर्ण और मौलिक खोज के प्रति प्रेरित किया बल्कि कई प्रसगो पर दार्शनिक व तात्त्विक चिन्तन मे भी उनसे नई दृष्टि मिली । मेरे अनुरोध पर उन्होने सारगर्भित प्रस्तावना भी लिखने की कृपा की है । मै उनके प्रति शब्दो मे क्या आभार व्यक्त करूँ । 'कुदकुदाचार्य से कानजी स्वामी तक की परम्परा पर शोधपूर्ण कार्य होना चाहिए' – प्रस्तावना मे उनका यह सुझाव वास्तव मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है ।

डॉ० हीरालालजी माहेश्वरी ने ग्रन्थ प्रकाशन के पूर्व कई महत्त्वपूर्ण सुझाव दिए है एव मेरे आग्रह पर विद्वत्तापूर्ण भूमिका लिख दी है । भूमिका मे उल्लिखित उनका यह आदेश कि 'टोडरमलजी की विचारधारा के समकालीन एव परवर्ती प्रभावो पर शोधकार्य हो और वह भी मेरे द्वारा' – प्रस्तुत शोधकार्य व मेरे प्रति उनका सद्भाव है । मै उनकी इस महानता के प्रति बहुत-बहुत आभारी हूँ ।

डॉ० नरेन्द्रकुमारजी भानावत, प्राध्यापक, राजस्थान विश्व-विद्यालय, जयपुर ने भी समय-समय पर सत्परामर्श दिए एव मेरे कार्य को बीच-बीच मे देख कर सहयोग दिया है। मै उनका हृदय से आभारी हूँ।

श्रीमान् सेठ पूरणचदजी गोदीका – जिन्होने पडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट की स्थापना की और जयपुर मे स्मारक भवन का भव्य निर्माण कार्य किया – की निरन्तर प्रेरणा एव सर्व प्रकार के सक्रिय सहयोग का इस कार्य मे महत्त्वपूर्ण योगदान है। उनके सहयोग के बिना यह कार्य सम्भव नही था। ट्रस्ट के सुयोग्य मत्री श्री नेमीचदजी पाटनी की निरन्तर प्रेरणा एव सक्रिय सहयोग भी अविस्मरणीय है।

प० टोडरमल स्मारक ट्रस्ट ने इस ग्रन्थ को प्रकाशित ही नही किया किन्तु लागत मूल्य पर पाठको तक पहुँचाने का सकल्प किया तथा श्री सोहनलालजी जैन, जयपुर प्रिटर्स ने आर्थिक लाभ की परवाह किए बिना इतनी शीघ्रता से इतना सुन्दर मुद्रण किया है–एतदर्थ मै उनका भी आभारी हूँ। इसी प्रकार सर्व श्री खीमचद भाई, श्री बाबू भाई, एव मेरे अग्रज पडित रतनचद्र शास्त्री का सहयोग भी स्मरणीय है।

प्रत्येक स्तर पर निरन्तर सहयोग देने वाले श्री राजमलजी जैन, जयपुर प्रिण्टर्स के प्रति आभार व्यक्त कर उक्त कार्य के प्रति उनकी आत्मीयता को मै कम नही करना चाहता हूँ। जैसा सहयोग पडित टोडरमलजी को सम्यग्ज्ञानचद्रिका के निर्माण मे ब्र० रायमलजी से प्राप्त हुआ था, वैसा ही सहयोग इस कार्य मे मुझे बन्धुवर श्री राजमलजी से प्राप्त हुआ है।

इस अवसर पर पूज्य पिताजी साहब के प्रति भी मै गद्गद् हृदय से श्रद्धान्वित हूँ, जिन्होने अनेक कठिनाइयो और विषमताओ के बीच मुझे इस योग्य बनाया तथा स्व० माताजी, जिनका वरद्हस्त छ. माह पूर्व तक प्राप्त था, जो पच्चीस वर्ष तक रोग-शय्या पर रहने पर भी मेरे अध्ययन मे सदा साधक ही बनी रही, के प्रति मै विनम्र श्रद्धाजलि समर्पित करता हूँ।

डॉ० कस्तूरचन्दजी कासलीवाल, श्री अनूपचन्दजी न्यायतीर्थ, श्री भवरलालजी न्यायतीर्थ, पडित हीरालालजी सिद्धातशास्त्री, वैद्य गम्भीरचन्दजी जैन, ब्र० गुलाबचन्दजी आदि से भी आवश्यक साहित्य-सामग्री प्राप्त करने मे तथा श्री हेमचदजी जैन का पाण्डुलिपि तैयार करने मे सराहनीय सहयोग रहा है। उन सबके प्रति मै आभार व्यक्त करता हूँ।

व्यवस्थापकगण – राजस्थान विश्वविद्यालय पुस्तकालय जयपुर, श्री सन्मति पुस्तकालय जयपुर, श्री दि० जैन बडा मन्दिर तेरापथियान जयपुर, दि० जैन मदिर दीवान भदीचदजी जयपुर, दि० जैन मदिर आदर्शनगर जयपुर, लाल भवन जयपुर, महावीर भवन जयपुर, दि० जैन मदिर बडा धड़ा अजमेर, श्री सीमधर जिनालय बम्बई, ऐ० प० सरस्वती भवन बम्बई-ब्यावर, दि० जैन मदिर अलीगंज, श्री दि० जैन स्वाध्याय मदिर ट्रस्ट सोनगढ, वीर वाचनालय इन्दौर, पुस्तकालय शासकीय वाणिज्य एवं कला महाविद्यालय इन्दौर, दि० जैन कांच का मदिर इन्दौर, श्री नेमिनाथ दि० जैन मदिर रामाशाह इन्दौर, दि० जैन मारवाड़ी मदिर शक्कर बाजार इन्दौर आदि से आवश्यक साहित्य-सामग्री प्राप्त करने मे सुविधा रही है, उन सब के प्रति मै आभार व्यक्त करता हूँ। अत मे ज्ञात-अज्ञात जिन महानुभावो से भावात्मक एव सक्रिय सहयोग मुझे प्राप्त हुआ है, उन सब के प्रति मै प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से आभार प्रदर्शित करता हूँ।

सब कुछ मिला कर प्रस्तुत कृति जैसी भी बन सकी है, आपके हाथ मे है। यदि इससे हिन्दी साहित्य जगत व मुमुक्षु बन्धुओ को थोडा भी लाभ मिला, तो मै अपना श्रम सार्थक समझूँगा। यद्यपि इसमे बहुत कुछ कमियाँ हो सकती है तथापि मैने यह गुरुतर भार पूज्य पडित टोडरमलजी के निम्नलिखित वाक्य को लक्ष्य मे रखकर ही उठाया है:–

सशयादि होते किछू, जो न कीजिए ग्रथ।
तो छद्मस्थनि कै मिटै, ग्रथ करन कौ पथ ॥

टोडरमल स्मारक भवन
ए–४, बापू नगर, जयपुर

– हुकमचन्द भारिल्ल

शुद्धिपत्र

[नोट : कृपया पुस्तक पढने से पूर्व निम्नलिखित अशुद्धियाँ अवश्य ठीक कर ले ।]

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७	२३	कुमुन्द	कुमुद
३४	२३	कीया पीछै ।	कीया । पीछै
६३	२८	रहे	रही
६४	६	औरतिही	औरनि ही
७२	१६	खद्य	खध
७३	२७	खद	खंध
७४	२३	उनका	उनकी
१०६	२८	समवसरन	समवसरण
११६	६	यह	कह
१६५	२६	द्वैप	द्वेष
२१३	२३	सम्यक्त्वदिक	सम्यक्त्वादिक
२४६	१६	जुयचा	जुरचा
२७५	१	परिणामवाचक	परिमाणवाचक
२८६	१६	कर	करै
३०३	५	हो	हौ

संकेत सूची

अ०	अध्याय
अ० क०	अर्द्ध कथानक
आ०	आचार्य
आ० भा० टी०	आत्मानुशासन भाषाटीका
इ० वि० पत्रिका	इन्द्रध्वज विधान महोत्सव पत्रिका
ई०	ईस्वी
उ० प्र०	उत्तर प्रदेश
उ० भा० स० प०	उत्तरी भारत की संत परम्परा
ऐ० प०	ऐलक पन्नालाल
क० ब० जी० कृ०	कविवर बनारसीदास : जीवनी और कृतित्व
च० स०	चरचा सग्रह
जै० सा० इति०	जैन साहित्य और इतिहास : नाथूराम प्रेमी
टो० ज० स्मा०	टोडरमल जयन्ती स्मारिका
डॉ०	डॉक्टर
दि०	दिगम्बर
नं०	नम्बर
पं०	पडित
प० प्र०	परमात्मप्रकाश
पी०	पीठिका
पु० जै० वा० सू०	पुरातन जैन वाक्य सूची
पु० भा० टी०	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय भाषाटीका
प्र०	प्रशस्ति
प्रो०	प्रोफेसर
पृ०	पृष्ठ

बु० वि०	बुद्धि विलास
ब्र०	ब्रह्मचारी
ब्र० वि०	ब्रह्म विलास
बृ० वि०	बृन्दावन विलास
भ० स०	भट्टारक सम्प्रदाय
भा० इ० एक दृष्टि	भारतीय इतिहास एक दृष्टि
भा० स० जै० यो०	भारतीय सस्कृति मे जैनधर्म का योगदान
म० का० ध० सा०	मध्यकालीन धर्म साधना
मो० मा० प्र०	मोक्षमार्ग प्रकाशक, दिल्ली
मो० मा० प्र०, मथुरा	मोक्षमार्ग प्रकाशक, मथुरा
यु० प्र०	युक्ति प्रबोध
वि० स०	विक्रम सवत्
शा० पु० व० प्र०	शान्तिनाथ पुराण वचनिका प्रशस्ति
स० च०	सम्यग्ज्ञानचद्रिका
सू०	सूत्र
ह० लि०	हस्तलिखित
हि० ग० वि०	हिन्दी गद्य का विकास
हि० जै० सा० इति०	हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास
हि० जै० सा० स० इति०	हिन्दी जैन साहित्य का सक्षिप्त इतिहास
हि० भा० उ० वि०	हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास
हि० सा० आ० इति०	हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास
हि० सा० इति०	हिन्दी साहित्य का इतिहास
हि० सा० इति० 'रसाल'	हिन्दी साहित्य का इतिहास रामशकर शुक्ल 'रसाल'
हि० सा०, द्वि० ख०	हिन्दी साहित्य, द्वितीय खण्ड
त्रि० भा० टी०	त्रिलोकसार भाषाटीका
ज्ञा० श्रा०	ज्ञानानद श्रावकाचार

विषय-सूची

पृष्ठ संख्या

चतुर्थ अध्याय

पंचम अध्याय

षष्ठ अध्याय

सप्तम अध्याय

परिशिष्ट

मंगलमय मंगलकरण वीतराग विज्ञान ।
नमौं ताहि जातैं भये अरहंतादि महान ॥

करि मंगल करिहौं महाग्रंथ करन को काज ।
जातैं मिलै समाज सब पावै निजपद राज ॥

प्रथम अध्याय

पूर्व – धार्मिक व सामाजिक
विचारधाराएँ और परिस्थितियाँ

राजनीतिक परिस्थिति

साहित्यिक परिस्थिति

पूर्व – धार्मिक व सामाजिक विचारधाराएँ और परिस्थितियाँ

धर्म का मूल उद्गम चाहे जो हो परन्तु उसका लौकिक रूप सम्प्रदाय या उपसम्प्रदायो के रूप मे ही विभक्त है। विश्व और विशेषत· भारत मे धर्म और दर्शन दोनो एक दूसरे से अनुस्यूत है। दर्शन के द्वारा विवेचित तत्त्व का आचरण भी धर्म के अतर्गत आ जाता है। धर्म के मनुष्य-सापेक्ष्य होने से देशकाल का प्रभाव उस पर भी पडता है। जैनधर्म भी इससे अछूता नही है।

प्रारभ में दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो सम्प्रदाय के साधु वनवासी और नग्न हुआ करते थे।[1] कालान्तर मे उनमे से कतिपय साधुओ ने मठो-मदिरो मे रहना एव वस्त्रादि का उपयोग करना आरभ कर दिया। डॉ० हीरालाल जैन लिखते है–

"जैन मुनि आदित वर्षा ऋतु के चातुर्मास को छोड अन्य काल मे एक स्थान पर परिमित दिनो से अधिक नही ठहरते थे और वे सदा विहार किया करते थे। वे नगर मे केवल आहार व धर्मोपदेश के निमित्त ही आते थे और शेषकाल वन-उपवन मे ही रहते थे किन्तु धीरे-धीरे पाचवी-छठी शताब्दी के पश्चात् कुछ साधु चैत्यालयो मे स्थायीरूप से निवास करने लगे। इससे श्वेताम्बर समाज मे वनवासी और चैत्यवासी सम्प्रदाय उत्पन्न हो गये। दिगम्बर सम्प्रदाय मे भी प्राय. उसी काल मे कुछ साधु चैत्यो मे रहने लगे।"[2]

---

[1] जै० सा० इति०, ४७६

[2] भा० स० जै० यो०, ४५

विक्रम की आठवी शती के प्रसिद्ध दार्शनिक श्वेताम्वर आचार्य हरिभद्र ने 'सबोध प्रकरण' के गुर्वधिकार मे मठवासी साधुओ के शिथिलाचार का वर्णन इस प्रकार किया है–

"ये कुसाधु चैत्यो और मठो मे रहते है, पूजा करने का आरभ करते है, देव-द्रव्य का उपभोग करते है, जिनमदिर और शालाए चिनवाते है। रगविरगे धूपवासित वस्त्र पहनते है, बिना नाथ के बैलो के सदृश स्त्रियो के आगे गाते है, आर्यिकाओ द्वारा लाए गये पदार्थ खाते है और तरह-तरह के उपकरण रखते है। जल, फल, फूल आदि सचित द्रव्यो का उपभोग करते है। दो तीन बार भोजन करते और ताम्बूल लवगादि भी खाते है।

ये मुहूर्त निकालते है, निमित्त वतलाते है, भभूत भी देते है। ज्योनारो मे मिष्ट आहार प्राप्त करते है, आहार के लिए खुशामद करते और पूछने पर भी सत्य धर्म नही वतलाते।

स्वय भ्रष्ट होते हुए भी दूसरो से आलोचना-प्रतिक्रमण कराते है। स्नान करते, तेल लगाते, शृगार करते और इत्र-फुलेल का उपयोग करते है।

अपने हीनाचारी मृतक गुरुओ की दाह-भूमि पर स्तूप बनवाते है। स्त्रियो के समक्ष व्याख्यान देते है और स्त्रिया उनके गुणो के गीत गाती है।

सारी रात सोते, क्रय-विक्रय करते और प्रवचन के वहाने विकथाए करते है।

चेला बनाने के लिए छोटे-छोटे बच्चो को खरीदते, भोले लोगो को ठगते और जिन प्रतिमाओ को भी बेचते-खरीदते है। उच्चाटन करते और वैद्यक, यत्र, मत्र, गडा, ताबीज आदि मे कुशल होते है।

ये श्रावको को सुविहित साधुओ के पास जाते हुए रोकते है, शाप देने का भय दिखाते है, परस्पर विरोध रखते है, और चेलो के लिये एक दूसरो से लड मरते है।"[1]

---

[1] जै० सा० इति०, ४८०–८१

जो लोग इन भ्रष्ट चरित्रो को मुनि मानते है, उनको लक्ष्य करके हरिभद्र ने लिखा है–

"कुछ नासमझ लोग कहते है कि यह तीर्थकरो का वेष है, इसे भी नमस्कार करना चाहिये। अहो! धिक्कार हो इन्हे! मै अपने सिर के शूल की पुकार किसके आगे जाकर करूं ?"[1]

दिगम्बर सम्प्रदाय मे भी शैथिल्य पुराने समय से ही है तथा परिस्थितियाँ और मनुष्य की स्वाभाविक दुर्बलताए उसे बराबर सीचती रही, जिसकी अतिम परिणति भट्टारको के रूप मे हुई।

दिगम्बरो मे चैत्यवास की प्रवृत्ति सर्वप्रथम द्राविडसघी, काष्ठासघी और माथुरसघियो मे आई। बाद मे मूलसघियो मे भी चैत्यवास की प्रवृत्ति आगई। उक्त सदर्भ मे नाथूराम प्रेमी लिखते है –

"गरज यह है कि द्राविडसघ के सस्थापक वज्रनन्दि आदि तो पुराने चैत्यवासी है, जिन्हे पहिले ही जैनाभास मान लिया गया था और मूलसघी उसके बाद के नये चैत्यवासी है, जिन्हे देवसेन (विक्रम सम्वत् ६६०) ने तो नही परन्तु उनके बहुत पीछे के तेरहपथ के प्रवर्त्तको ने जैनाभास बतलाया।"[2]

नवी शती के आचार्य गुणभद्र के समय दिगम्बर मुनियो की प्रवृत्ति नगरवास की ओर विशेष बढ रही थी। इसकी कटु आलोचना करते हुये वे 'आत्मानुशासन' में कहते है "जिस प्रकार इधर-उधर से भयभीत गीदड रात्रि मे वन को छोड गाव के समीप आ जाते है, उसी प्रकार इस कलिकाल मे मुनिजन भी वन को छोड़ गाव के समीप रहने लगे है। यह खेद की बात है।"[3]

चैत्यवास की प्रवृत्ति के कारणो पर विशद प्रकाश डालते हुए डॉ० हीरालाल जैन लिखते है – "चैत्यवास की प्रवृत्ति आदित: सिद्धान्त

---

[1] वाला वयति एव वेसो तित्थकराण एसो वि।
णमणिज्जो धिद्धी अहो सिरसूलं कस्स पुक्करिमो ॥७६॥ – सबोध प्रकरण

[2] जै० सा० इति०, ४८६

[3] इतस्ततश्च त्रस्यतो विभावर्या यथा मृगा।
वनाद्विशन्त्युपग्रामं कलौ कष्ट तपस्विन ॥१६७।

के पठन-पाठन व साहित्य सृजन की सुविधा के लिये प्रारम्भ हुई होगी किन्तु धीरे-धीरे वह एक साधुवर्ग की स्थायी जीवन-प्रणाली बन गई, जिसके कारण नाना मदिरो मे भट्टारको की गद्दिया व मठ स्थापित हो गये। इस प्रकार भट्टारको के आचार मे शैथिल्य व परिग्रह अनिवार्यत आ गया।"[1]

दिगम्बर व श्वेताम्बर दोनो शाखाओ के साधु निर्ग्रन्थ कहलाते है। निर्ग्रन्थ का अर्थ है – सर्वप्रकार के परिग्रहो से रहित। यद्यपि श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे साधुओ को लज्जा-निवारण के लिये बहुत ही सादा वस्त्र रखने की छूट दी गई है[2] तथापि जिन शर्तो के साथ दी गई है वह न देने के ही बराबर है। वास्तव मे अशक्ति या लाचारी मे ही वस्त्र का उपयोग करने की आज्ञा है। 'सबोध प्रकरण' मे बिना कारण कटिवस्त्र बाधने वाले साधुओ को क्लीव कहा गया है।[3]

काफी खोजबीन के बाद नाथूराम प्रेमी लिखते है – "इस बात के भी प्रमाण है कि प्राचीन काल मे दिगम्बर और श्वेताम्बर प्रतिमाओ मे कोई भेद न था। प्राय दोनो ही नग्न प्रतिमाओ को पूजते थे। मथुरा के ककाली टीले मे जो लगभग दो हजार वर्ष की प्राचीन प्रतिमाये मिली है, वे नग्न है और उनपर जो लेख है वे कल्पसूत्र की स्थिरावली के अनुसार है।" इसके सिवा १७वी शताब्दी मे प० धर्मसागर उपाध्याय ने अपने 'प्रवचन परीक्षा' नामक ग्रथ मे लिखा है – "गिरिनार और शत्रुजय पर एक समय दोनो सप्रदायो मे झगडा हुआ और उसमे शासन देवता की कृपा से दिगम्बरो की पराजय हुई। जब इन दोनो तीर्थों पर श्वेताम्बर सम्प्रदाय का अधिकार हो गया, तब आगे किसी प्रकार का झगड़ा न हो, इसके लिये श्वेताम्बर सघ ने यह निश्चय किया कि अब से जो नई प्रतिमाये बनवाई जाएँ उनके पादमूल मे वस्त्र का चिह्न बना दिया जाय।"[4]

---

[1] भा० स० जै० यो०, ४५

[2] आचाराग प्र० श्रु० अध्ययन ६, उद्देश्य ३, द्वि० श्रु० अध्ययन १४ उद्देश्य १-२

[3] कीवो न कुणइ लोय लज्जइ पडिमाइ जल्लमुवणेई।
सोवाहणो य हिंडइ, बधई कटिपट्टयमकज्जे ॥१४॥

[4] जै० सा० इति० ४६८

श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे न केवल मुनियो द्वारा वस्त्र-ग्रहण की मात्रा बढी किन्तु धीरे-धीरे तीर्थकरों की मूर्तियो मे भी कोपीन का चिह्न प्रदर्शित किया जाने लगा तथा मूर्तियो का आख, अगी, मुकुट आदि द्वारा अलकृत किया जाना भी प्रारम्भ हो गया। इस कारण दिगम्बर और श्वेताम्बर मदिर व मूर्तियाँ, जो पहले एक ही रहा करते थे, अब पृथक्-पृथक् होने लगे। ये प्रवृत्तिया सातवी-आठवी शती से पूर्व नही पाई जाती है।[1]

ग्यारहवी शती के तार्किक विद्वान् सोमदेव शिथिलाचारी मुनियो की वकालत करते हुए लिखते है –

> "यथा पूज्य जिनेन्द्राणा रूप लेपादि निर्मित।
> तथा पूर्वमुनिच्छाया पूज्याः संप्रति सयता॥"[2]

> "भुक्तिमात्र प्रदाने हि का परीक्षा तपस्विनाम्।
> ते सन्त. सत्वसन्तो वा गृही दानेन शुद्धयति॥
> सर्वारभप्रवृत्तानां गृहस्थाना धनव्यय।
> बहुधाऽस्ति ततोऽत्यर्थं न कर्तव्या विचारणा॥"[3]

"जैसे लेप-पाषाणादि मे बनाया हुआ अर्हतो का रूप पूज्य है वैसे ही वर्तमान काल के मुनि पूर्वमुनियो की छाया होने से पूज्य है।

भोजनमात्र देने मे तपस्वियो की क्या परीक्षा करनी ? वे अच्छे हो या बुरे, गृहस्थ तो दान देने से शुद्ध हो ही जाता है। गृहस्थ लोग अनेक आरम्भ करते है जिनमे उनका बहुत धन खर्च होता है, अत साधुओ को आहार दान देने मे उन्हे विचार नही करना चाहिये।"

पहले मठवासी हो जाने पर भी दिगम्बर साधु नग्न ही रहते थे पर उनका चरित्र शिथिल था। वि० सं० ११८१ मे भट्टारक कुमुन्द-चन्द्र का शास्त्रार्थ श्वेताम्बर यति देवसूरि के साथ गुजरात के राजा सिद्धराज की सभा मे हुआ था। उसके वर्णन मे कुमुदचन्द्र के बारे मे

---

[1] भा० स० जै० यो०, ४४–४५

[2] यशस्तिलकचम्पू, उत्तरखण्ड, ४०५

[3] वही, ४०७

लिखा गया है कि वे पालकी पर बैठे थे, उन पर छत्र लगा हुआ था और वे नग्न थे ।[१]

इससे स्पष्ट है कि व्यवहार मे यद्यपि वस्त्र का उपयोग भट्टारको मे खुलकर होने लगा और उसे वैध-सा भी मान लिया गया तथापि तत्त्व की दृष्टि से नग्नता ही पूज्य मानी जाती रही। भट्टारक पद प्राप्ति के समय कुछ क्षणो के लिये ही क्यो न हो, नग्न अवस्था धारण करना आवश्यक रहा। कुछ भट्टारक मृत्यु समीप आने पर नग्न अवस्था लेकर सल्लेखना स्वीकार करते रहे ।[२]

बारहवी शती के पडितप्रवर आशाधर ने 'अनागार धर्मामृत' के दूसरे अध्याय मे इन चैत्यवासी किन्तु नग्न साधुओ की चर्चा करते हुए लिखा है – "तथा तीसरे प्रकार के साधु वे है जो द्रव्यजिनलिग को धारण करके मठो मे निवास करते है और मठो के अधिपति बने हुए है और म्लेच्छो के समान आचरण करते है ।[३]

परमात्मप्रकाशकार मुनिराज योगीन्दु भी केशलुच करके जिनवर लिग धारण करने वाले परिग्रहधारी साधुओ को लक्ष्य करके कहते है कि वे अपने को ठगने वाले और वमन का भक्षण करने वाले है ।[४]

आगे चलकर उन्होने चर्या और विहार के समय वस्त्र पहनना आरम्भ कर दिया किन्तु उसके बाद वे वस्त्र उतार देते थे। बारहवी शती से भारत मे मुस्लिम राजसत्ता दृढमूल हुई। इस्लाम के अनुयायी मुसलमान विजेताओ का भारत पर आक्रमण एव उनका देश के भीतरी भागो तक प्रवेश एक ऐसी घटना है जिसका नग्न मुनियो के स्थान पर भट्टारको की स्थापना होने मे बहुत बडा हाथ था।

---

१ जैन निबध रत्नावली, ४०५

२ भ० स० भूमिका, ४ एव लेखाक १६०

३ "अपरे पुनर्द्रव्यजिनलिगधारिणो मठपतयो म्लेच्छन्ति म्लेच्छा इवाचरन्ति । लोकशास्त्रविरुद्धमाचार चरन्तीत्यर्थ" – जै० सा० इति०, ४८८

४ केण वि अप्पउ वचियउ सिरु लुचिवि छारेण ।
सयल वि सग ण परिहरिय जिणवर–लिगधरेण ।।२।६०
जे जिण-लिंगु धरेवि मुणि इट्ठ-परिग्गह लेति ।
छद्दि करेविणु ते जि जिय सा पुणु छद्दि गिलति ।।२।६१

आक्रामक के रूप मे मुसलमानो का भारत प्रवेश अत्यन्त बर्बर एव धार्मिक कट्टरता से युक्त था। यह राजनीतिक आक्रमण मूलतः धार्मिक मदान्धता और कट्टरता का प्रतिफल था। इतिहासकार सर जी. एस. देसाई इस्लामी शासको की नीति की चर्चा करते हुए लिखते है कि वे केवल राजनीतिक सत्ता को हस्तगत करके सन्तुष्ट नही हुये, वे भारत के मैदानो पर केवल विजेता और लुटेरे के रूप मे नही उतरे, वरन् काफिरो के देश मे अपने धर्म का प्रसार करने पर उतारू जेहादी योद्धाओ के रूप मे आए। वे नियमित रीति से अपने धर्म को जनता पर बलात् लादने मे तत्पर हो गए। हिन्दू मदिर तोड़े गए, उनकी सुन्दर कलाकृतियो का विध्वस हुआ, मूर्तिया नष्ट हुई, प्रस्तर-लेख मिटा दिये गए। इस प्रकार से ध्वस से प्राप्त सामग्री से उन्होने मसजिदे बनाई। कुफ्र को मिटाने और भारतीय जनता को इस्लाम के दामन मे समेटने के लिये इन हृदयहीन और असभ्य धर्माधिकारियों ने हिन्दू धर्म के सार्वजनिक प्रदर्शन की मनाही कर दी तथा उसके अनुयायियो को कठोर दण्ड दिए। हिन्दुओ को अच्छे कपडे पहनने की इजाजत नही थी और न भले आदमियों की तरह रहने और वैभवशाली दिखने की अनुमति थी। उन पर विक्षुब्ध कर देने वाले कर लगाये जाते थे और उनके अध्ययन और ज्ञान के केन्द्र बरबाद किये जाते थे।[1]

मुस्लिम शासको की कोप दृष्टि मात्र हिन्दुओ पर ही न थी वरन् समस्त भारतीयो पर उन्होने जुल्म ढाए थे। अत उनके अत्याचारो से जैन भी अछूते न रहे और अन्य भारतीय धर्मो की भाति जैन धर्म पर भी इसका गहरा प्रभाव पडा।

'षटप्राभृत टीका' मे भट्टारक श्रुतसागर सूरि[2] ने लिखा है कि कलिकाल मे म्लेच्छादि (मुसलमान वगैरह) यतियो को नग्न देखकर उपद्रव करते है, इस कारण मण्डप दुर्ग (माडू) मे श्री वसन्तकीर्ति स्वामी ने उपदेश दिया कि मुनियो को चर्या आदि के समय चटाई,

---

[1] न्यू हिस्ट्री ऑफ दि मराठाज, २६

[2] नाथूराम प्रेमी ने इनका समय सोलहवी शती माना है।
— जै० सा० इति०, ३७५

टाट आदि से शरीर ढक लेना चाहिए और फिर चर्या के बाद उस चटाई आदि को छोड देना चाहिए। यह अपवाद वेष है।[१]

मूलसघ की गुर्वावली मे चित्तौड की गद्दी के भट्टारको के जो नाम दिये है उनमे वसन्तकीर्ति का नाम आता है जो वि० स० १२६४ के लगभग हुये है। उस समय उस ओर मुसलमानो का आतक भी बढ रहा था।[२] इन्ही को श्रुतसागर ने अपवाद भेष का प्रवर्त्तक बतलाया है।

इससे यह प्रतीत होता है कि तेरहवी शती के अन्त मे दिगम्बर साधु बाहर निकलते समय उपद्रवो के डर से चटाई आदि का उपयोग करने लगे थे।

'परमात्मप्रकाश' की सस्कृत टीका मे योगीन्दुदेव शक्ति के अभाव मे साधु को तृणमय आवरणादि रखने परन्तु उस पर ममत्व न रखने की बात करते है।[3]

वि० स० १२९४ मे श्वेताम्बर आचार्य महेन्द्रसूरि ने 'शतपदी' नामक ग्रथ बनाया जो १२६३ मे बनी धर्मघोष की 'प्राकृत शतपदी' का अनुवाद है। वे उसके 'दिगम्बर मत विचार' वाले प्रकरण मे लिखते है –

"यदि तुम दिगम्बर हो तो फिर सादडी[४] और योगपट्ट[५] क्यो ग्रहण करते हो? यदि कहो पचमकाल होने से और लज्जा परीषह

---

[१] (क) कोऽपवाद वेप ? कलौ किल म्लेच्छादयो नग्न दृष्ट्वोपद्रव यतीना कुर्वन्ति तेन मण्डपदुर्गे श्रीवसन्तकीर्तिना स्वामिना चर्यादिवेलाया तट्टीसादरादिकेन शरीरमाच्छाद्य चर्यादिक कृत्वा पुनस्तन्मुचतीत्युपदेश कृत सयमिना, इत्यपवादवेप। – षटप्राभृत टीका, २१

(ख) भ० स०, लेखाक २२५

[२] जैन हितैषी भाग ६, अक ७-८

[3] विशिष्टसहननादिशक्त्यभावे सति यद्यपि तप पर्यायशरीरसहकारिभूतमन्नपानसयमशौचज्ञानोपकरणतृणमयप्रावरणादिक किमपि गृह्णाति तथापि ममत्व न करोतीति। – प० प्र०, २०९

[४] घास या ताड खजूर के पत्तो से बनी हुई चटाई को सादडी कहते है।

[५] योगपट्ट रेशमी कपडा रगा कर बनाया जाता था।

सहन न होने से आवरण डाल लेते है, तो फिर उसे पहनते क्यो नही ? क्योकि ऐसा तो निषेध कही है नही कि प्रावरण रखना परन्तु पहनना नही । और वह प्रावरण भी जैसे-तैसे मिले हुए प्रासुक वस्त्र से क्यो नही बनाते हो ? धोबी आदि के हाथ से जीवाकुल नदी तालाब मे क्यो धुलवाते हो और बिना सोधे ईधन से जलाई हुई आग के द्वारा उसे रगाते भी क्यो हो ?"[1]

इससे स्पष्ट है कि विक्रम की तेरहवी शती तक सादडी और योगपट्ट आ गये थे । आगे चलकर दिगम्बर साधुओं ने वस्त्र धारण करना जायज-सा मान लिया । भट्टारक श्रुतसागर ने तत्त्वार्थसूत्र की सस्कृत टीका मे लिखा है कि द्रव्यलिगी मुनि शीतकाल मे कम्बलादि ले लेते है और दूसरे समय मे उन्हे त्याग देते है ।[2]

इसके बाद तो वस्त्र धारण मे बाहर जाने के समय एव शीतादि के समय की ही कोई सीमा नही रही, उनका खूब खुलकर उपयोग होने लगा । गद्दे-तकिये भी आगये । यहां तक कि पालकी, छत्र-चवर आदि राजसी ठाटबाट भी परम दिगम्बर मुनियों (भट्टारको) ने स्वीकार कर लिए ।

पूर्वोक्त 'शतपदी' के अनुसार उस समय दिगम्बर साधु मठो मे रहते थे, अपने लिए पकाया हुआ (उद्दिष्ट) भोजन करते थे, एक ही स्थान पर महीनो रहते थे, शीतकाल मे अगीठी का सहारा लेते थे, पयाल के बिछौने पर सोते थे, तेल मालिश कराते थे । सर्दी के मारे जिन मदिरो के गूढ मण्डप (गर्भालय) मे रहते थे । कपड़े के जूते, धोती, दुपट्टे पहनते और खदिरवटी आदि औषधियाँ रखते थे । मत्र, तत्र, ज्योतिष आदि विद्याओ का उपयोग करते थे ।[3] इस सम्बन्ध मे पडित आशाधरजी ने एक श्लोक उद्धृत किया है जिसमे

---

[1] जैन० सा० इति०, ४९१

[2] द्रव्यलिगिन· असमर्थामहर्षय: शीतकालादौ कम्बलादिक गृहीत्वा न प्रक्षालयन्ते न सीव्यन्ति न प्रयत्नादिक कुर्वन्ति अपरकाले परिहरतीति ।

— अ० ९ सूत्र ४७

[3] जै० सा० इति०, ४९२

कहा गया है कि भ्रष्ट चरित्र पडितो और वठर मुनियो ने जिनदेव का निर्मल शासन मलिन कर दिया है।[1]

वह युग ही उथल-पुथल का था। एक ओर शिथिलता वढ रही थी तो दूसरी ओर उसकी आलोचना भी डट कर हो रही थी। उस समय मात्र जैनियों मे ही नही वरन् प्रत्येक भारतीय धर्म मे शिथिलाचार और उसका विरोध क्रिया-प्रतिक्रिया के रूप मे हो रहा था। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी लिखते है –

"उस समय न केवल बौद्ध तथा जैन ही, अपितु स्वय वैष्णव, शाक्त, शैव जैसे हिन्दू सम्प्रदायो ने भी अपने-अपने भीतर अनेक मतभेदो को जन्म दे रखा था। इनमे से सबने वेदो को ही अपना अतिम प्रमाण बना रखा था और उनमे से कतिपय उद्धरण लेकर तथा उन्हे वास्तविक प्रसगो से पृथक करके वे अपने-अपने मतानुसार उन पर मनमाने अर्थो का आरोप करने लगे थे। इसके सिवाय कुछ मतो ने वेदो की भाति ही पुराणो तथा स्मृतियो को भी प्रधानता दे रखी थी। अतएव इनके पारस्परिक मतभेदो के कारण एक को दूसरे के प्रति द्वेष, कलह या प्रतियोगिता के प्रदर्शन के लिए पर्याप्त प्रोत्साहन मिला करता था और वहुधा अनेक प्रकार के झगडे खड़े हो जाते थे।"[2]

इसी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुये वे लिखते है – "इधर वौद्ध धर्म का उस समय पूर्ण ह्रास होने लगा था। शकराचार्य तथा कुमारिल भट्ट जैसे विरोधी प्रचारको के यत्नो द्वारा वह प्राय निर्मूल-सा होता जा रहा था। उस समय जैनधर्म तथा शैव और वैष्णव सम्प्रदायो के भीतर भिन्न-भिन्न सगठन हो रहे थे। इस्लाम के अदर भी सूफी सम्प्रदाय अपना प्रचार करने लगा था।"[3]

शकराचार्य के प्रवल प्रहारो से बौद्ध धर्म के तो भारत से पैर ही उखड गये। जैन धर्म को भी प्रवल आघात लगा और आगे चल कर

---

[1] पण्डितैर्भ्रष्टचारित्रैर्वठरैश्च तपोधनै।
शासन जिनचन्द्रस्य निर्मल मलिनीकृतम्॥ – जै० सा० इति०, ४८८

[2] उ० भा० स० प०, २८

[3] वही, १२९

उसकी साधना-पद्धति एव वाह्याचार भी प्रभावित हुये बिना न रहे। शकराचार्य द्वारा स्थापित मठो के अनुकरण पर भट्टारक गद्दिया स्थापित हो गई। शकराचार्य के कार्यकलापो का वर्णन करते हुए आचार्य परशुरामजी लिखते है –

"शकराचार्य (स० ८४५-८७७) ने अपना मुख्य ध्येय बौद्ध तथा जैन जैसे अवैदिक धर्मो का इस देश से बहिष्कार कर अपने धार्मिक समाज मे एकता स्थापित करना बना रखा था। इन्होने अपने मत का मूल आधार श्रुति अर्थात् वैदिक साहित्य को ही स्वीकार किया और उसके प्रतिकूल जान पडने वाले मतो का खडन तथा घोर विरोध किया। उक्त दोनो धर्मो के अनुयायियो को नास्तिक ठहरा कर इन्होने हिन्दू धर्म के भिन्न-भिन्न प्रचलित सप्रदायो की कटु आलोचना भी की।"[1]

जब विभिन्न सस्कृतियाँ एक क्षेत्र व एक काल मे अनुकूल व प्रतिकूल घनिष्टतम सम्पर्क मे आती है तो उनमे परस्पर न्यूनाधिक प्रभाव पडता ही है एव उनमे परस्पर बहुत कुछ आदान-प्रदान भी होता ही है। जैन धर्म और सस्कृति ने भी प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप मे अन्य भारतीय सस्कृतियो को प्रभावित किया है तथा वह भी उनके प्रभावो से अछूती नही रही। जैनियो के अल्पसख्यक होने के कारण उन पर यह प्रभाव विशेष देखने मे आता है। भट्टारक युग मे व्यापक समाज के साथ अपना तालमेल बैठाने के लिए उन्होने शैव और वैष्णव क्रियाओ का अनुकरण किया। राजस्थान के इतिहास मे इस प्रकार के कई उदाहरण मिल जायेगे कि एक ही कुल मे जैन और शैव साधना चलती थी। विशेषकर वैदिक सप्रदायो का अद्भुत प्रभाव श्रमण सस्कृति पर पडा। इससे जैन समाज का ढाचा बिल्कुल ही वदल गया। एक सवर्ण हिन्दू की तरह जैन भी जातिसिद्ध उच्चता पर विश्वास करने लगे। सामाजिक और वैधानिक मामलो मे भी जैनियो ने प्राय पूरी तरह वैदिको का अनुकरण किया। उस समय की कुछ माग ही ऐसी ही थी। भट्टारक पीठो मे भी कई दृष्टियो से

[1] उ० भा० सं० प०, ३४

वैदिक पद्धतियो का प्रवेश हुआ। पद्मावती आदि देवियो को काली, दुर्गा या लक्ष्मी का ही रूपान्तर माना जाने लगा।[१] भट्टारको की मत्र-तत्र साधना पर तान्त्रिको का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। मत्र और तत्र ही एक मात्र आत्मरक्षा के उपाय मान लिये गए थे।[२] भट्टारक लोग मत्रो और तत्रो के चमत्कार दिखाकर लोगो को चमत्कृत करने लगे थे तथा इन्ही माध्यमो से अपने प्रभाव का विस्तार कर रहे थे।[३] तान्त्रिको का अन्य धर्मो पर प्रभाव स्पष्ट करते हुए डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते है – "तत्रो का यह प्रभाव केवल ब्राह्मणो पर ही नही पडा अपितु जैन और वौद्ध सम्प्रदायो पर भी यह प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। बौद्ध धर्म का अन्तिम रूप तो इस देश मे तान्त्रिक ही रहा।"[४]

जब भारतवर्ष मे मदिर तोडे जा रहे थे एव मूर्तियाँ खडित की जा रही थी, तब प्राय सभी धर्मो मे मूर्ति पूजा विरोधी सम्प्रदाय उठ खडे हुए थे। कवीर की यह आवाज –

"पाहन पूजै हरि मिले, तो मै पूजूं पहार।
ताते यह चक्की भली, पीस खात ससार।।"

युग की आवाज बन रही थी। तब अर्थात् १५ वी, १६ वी शती मे उक्त जैन सम्प्रदाय मे भी एक मूर्ति पूजा विरोधी क्राति ने जन्म लिया। श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे लोकाशाह द्वारा मूर्ति पूजा विरोधी उपदेश प्रारम्भ हुआ, जिसके फलस्वरूप स्थानकवासी सम्प्रदाय की स्थापना हुई। यह सम्प्रदाय ढूढिया नाम से भी पुकारा जाता है। इस सम्प्रदाय मे मूर्ति पूजा का विरोध किया गया है। इनके मदिर नही किन्तु स्थानक होते है और ये मूर्ति की नही किन्तु आगमो की प्रतिष्ठा करते है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के ४५ आगमो मे से कोई

---

[१] भ० स० प्रस्तावना, १७
[२] वु० वि०, छद १३१६-२२
[३] भ० स० प्रस्तावना, १५
[४] म० का० ध० सा०, ६

बारह चौदह आगमो को वे इस कारण स्वीकार नही करते क्योकि उनमे मूर्ति पूजा का विधान पाया जाता है।[1] इसी सम्प्रदाय मे से १८ वी शती के प्रारम्भ मे आचार्य भिक्षु द्वारा तेरहपथ की स्थापना हुई। वर्तमान मे इस सम्प्रदाय के नवम आचार्य तुलसीगणी है, जिन्होने अणुव्रत आन्दोलन का प्रवर्तन किया है।

दिगम्बर सम्प्रदाय मे भी सोलहवी शती मे तारण स्वामी ने एक ऐसे ही पथ की स्थापना की, जो तारण पंथ कहलाता है। इस पथ के अनुयायी विशेष रूप से मध्यप्रदेश मे पाये जाते है। तारण स्वामी का जन्म विक्रम सवत् १५०५ के अगहन मास की शुक्ला सप्तमी के दिन किसी पुष्पावती नगरी मे हुआ था और इनकी जाति परवार थी। इनके पिता गाढामूरी वासल्ल गोत्र के गढाशाह थे। इनकी माता का नाम विमलश्री देवी[2] था। ये आजन्म ब्रह्मचारी रहे और इनकी वृत्ति अपनी बाल्यावस्था से ही बराबर वैराग्यपरक रही। ये एक प्रतिभाशाली एवं संयमशील पुरुष थे। इनका प्रारम्भिक जीवन सेमरखेडी[3] के निर्जन मे बीता था तथा वेतवा नदी के तटवर्ती मुंगावली (मध्यप्रदेश) के निकट ग्राम निसई (मल्हारगढ) मे निवास करते हुए इन्होने चौदह ग्रथ लिखे। तारण स्वामी के ग्रथो के देखने से पता चला है कि उनमे मूर्ति पूजा के विरोध और समर्थन मे कही भी कुछ भी नही लिखा गया है। उनके सभी ग्रंथ विशुद्ध आध्यात्मिक, सैद्धान्तिक एवं आचार सम्बन्धी ग्रन्थ है किन्तु उनके अनुयायियो द्वारा निर्मित चैत्यालयो मे मूर्तियाँ नही है। अन्य मंदिरो के समान वेदियाँ तो है पर उनमे मूर्तियो के स्थान पर शास्त्र बिराजमान रहते है। पता नही उक्त सम्प्रदाय मे मूर्ति पूजा विरोध कब से और कहा से आया? यह एक शोध का विषय है। तारण स्वामी पर साहित्यिक और सामाजिक दृष्टि से भी शोध आवश्यक है। उन पर किया गया शोध कार्य हिन्दी साहित्य मे एक महत्त्वपूर्ण योगदान होगा।

---

[1] भा० स० जै० यो०, ४५

[2] तारण पथ के वर्तमान प्रसिद्ध विद्वान प० जयकुमार शास्त्री छिंदवाडा से सम्पर्क करने पर उन्होने बताया कि तारण स्वामी की मा का नाम वीरश्री था।

[3] यह गाव म० प्र० के सिरोज नामक नगर से पाच मील दूर है।

इन सब बातो का प्रभाव यह हुआ कि सैद्धान्तिक पक्ष के अतिरिक्त बाह्याचार मे साधारण जैनियो और हिन्दुओ मे बहुत कम अन्तर रह गया। परशुराम चतुर्वेदी के शब्दो मे "उनका (जैनियो का) मुख्य ध्येय पूर्ववत् स्थिर न रह सका और विक्रम की ९ वी, १०वी शताब्दी तक आकर उनकी साधना के अन्तर्गत विविध बाह्याचारो का समावेश हो गया। समकालीन हिन्दू और बौद्ध पद्धतियो से वे बहुत कुछ प्रभावित हो गये और इन धर्मो के साधारण अनुयायियो मे बहुत कम अन्तर दीख पड़ने लगा।"[1]

उपरोक्त परिस्थितियो मे भट्टारको का स्वरूप साधुत्व से अधिक शासकत्व की ओर झुका और अन्त मे यह प्रकट रूप से स्वीकार भी किया गया।[2] वे अपने को राजगुरु कहलाते थे और राजा के समान ही पालकी, छत्र-चवर, गादी आदि का उपयोग करते थे। वस्त्रो मे भी राजा के योग्य जरी आदि से सुशोभित वस्त्र उपयोग किये जाते थे। कमण्डलु और पिच्छि मे सोने-चादी का उपयोग होने लगा था। यात्रा के समय राजा के समान ही सेवक-सेविकाओ और गाडी-घोडो का इन्तजाम रखा जाता था तथा अपने-अपने अधिकार-क्षेत्र का रक्षण भी उसी आग्रह से किया जाता था। इसी कारण भट्टारको का पट्टाभिषेक राज्याभिषेक की तरह बडी धूम-धाम से होता था। इसके लिये पर्याप्त धन खर्च किया जाता था।[3] इनके उपदेश से नये-नये सिद्ध क्षेत्र, अतिशय क्षेत्र आदि स्थापित होने लगे। इन मदिरो और तीर्थो के व्यय-निर्वाह के लिये धन सग्रह किया जाने लगा। धन सग्रह करने की नई-नई तरकीबे निकाली गई और प्रबध के लिए कोठियाँ खोल दी गई। बहुत सी कोठियो की मालिकी भी

---

[1] उ० भा० स० प०, ४७

[2] चन्द्रसुकीर्ति पट्टोधर राजसुकीर्ति राया मरण रजी।
बानारसि मध्य विवाद करी धरी मान मिथ्यातको मनकु भजी॥
पालखी छत्र सुखासन राजित भ्राजित दुर्जन मनकु गजी।
हीरजी ब्रह्म के साहिब सद्गुरु नाम लिए भवपातक भजी॥२१८॥
— भ० स०, २८१ एव लेखाक ७२५

[3] भ० स० प्रस्तावना, ५

धीरे-धीरे भट्टारको और महन्तो के अधिकार मे आ गई और अन्त मे उसने एक प्रकार से धार्मिक दुकानदारी का रूप धारण कर लिया[१] ।

इस प्रकार भट्टारको का प्रभुत्व समाज पर बढता चला गया और समाज इनके शिकजे में जकडता चला गया। मठो, मदिरो और तीर्थो की व्यवस्था पर भट्टारको का एकाधिकार हो गया। वे लोग उनकी व्यवस्था मे सक्रिय भाग लेने लगे। यहा तक कि मदिरो को दान मे प्राप्त जमीन मे खेती-बाडी भी करने लगे। कुछ प्राप्त दानपत्र व शिलालेख इसके ऐतिहासिक प्रमाण है[२]। आध्यात्मिकता का स्थान क्रियाकाण्ड ने ले लिया और प्रवृत्ति मे शिथिलाचार उत्तरोतर बढता ही चला गया। धार्मिक मान्यताओ मे विकृति आगई। साधना के स्थान, आराधना के नाम पर आडम्बर और बाहरी क्रियाकाण्ड के स्थल मात्र वन कर रह गए। मदिरो मे ही जीमन और खेल-कूद होने लगे तथा वही पर उठना-बैठना, सोना-रहना और राधा अन्न भगवान को चढाना आदि वीतरागता के विपरीत क्रियाए होने लगी[३]। सासारिक क्रियाओ मे रत और सवस्त्र होते हुए भी भट्टारक लोग अपने को मुनि कहलाते थे। वे श्रावक सघ पर मनमाना शासन करने लगे। बात-बात पर श्रावको से कर वसूल किया जाने लगा। पडित टोडरमल सघपट्ट का उद्धरण देते हुए लिखते है – जिनसे जन्म नही हुआ, जिन्होने मोल नही लिया, जिनका कुछ कर्ज देना नही है, जिनसे किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध नही है, फिर भी ये (भट्टारक) गृहस्थो को बैल के समान जोतते है, वलात् दान लेते है। इस संसार मे कोई पूछने वाला भी नही है, कोई न्याय करने वाला भी नही है, क्या करे[४] ?

किसी मे उनका विरोध करने की हिम्मत न थी। कोई कुछ कहने की हिम्मत करता तो मदिरो से निकाल दिया जाता, समाज

---

[१] जै० सा० इति०, ४६९

[२] वही, ४८४,४८६

[३] वीरवाणी : टोडरमलाक, २८८

[४] मो० मा० प्र०, २६६

से बहिष्कृत कर दिया जाता। भट्टारक नरेन्द्रकीर्ति के सागानेर चातुर्मास के समय अमरचन्द गोदीका एव उनके पुत्र सिद्धान्त-शास्त्रो के पाठी जोधराज गोदीका को मदिर से धक्के मारकर मात्र इसलिए निकाल दिया था कि वे अध्यात्मप्रेमी थे और उनके व्याख्यान के बीच में वे उनसे प्रश्न किया करते थे[1]। शिथिलाचार पोषक श्रावकाचारो की रचनाए भी उन्होने की। तदनुसार श्रावको मे भी भ्रष्टाचार का प्रचार हुआ। विक्रम सवत् १४७८ मे वासुपूज्य ऋषि ने 'दान शासन' नाम का एक ग्रन्थ बनाया। उसमे लिखा है —श्रावको को चाहिए कि वे मुनियो को दूध, दही, छाछ, घी, शाक, भोजन, आसन और नई, बिना फटी-टूटी चटाई और नये वस्त्र दे[2]। देवोपासना मे भी आडम्बर का प्रवेश हुआ। श्रावको के लिए धर्म-तत्त्व समझने की रोक लगा दी गई। अध्यात्म-ग्रन्थो के पठन-पाठन का भी निषेध कर दिया गया। उन साधुओ के मुख से जो वचन निकले वही ब्रह्म-वाक्य बन गए। मत्र-तत्रवाद के घटाटोप मे भी जनता को उलझाए रखने का यत्न किया गया।

उक्त दुर्भाग्यपूर्ण राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियो के कारण जैन सम्प्रदाय मे प० बनारसीदास (वि० स० १६४३-१७००) के समय तक धार्मिक शिथिलाचार मे पर्याप्त वृद्धि हो चुकी थी।

---

[1] (क) सवत सोलासै पचोत्तरे, कार्तिकमास अमावस कारी।
कीर्तिनरेन्द्र भटारक सोभित, चातुर्मास सागावति धारी।।
गोदीकारा उधरो अमरोसुत शास्त्रसिधन्त पढाइयो भारी।
बीच ही बीच बखानमैं बोलत, मारि निकार दियौ दुख भारी।।
—चन्द्रकवि अ० क० भूमिका, ५२

(ख) तिनमैं अमरा भौसा जाति गोदीका यह ब्योक कहाति।
धन को गरव अधिक तिन धरयौ जिनवाणी कौ अविनय करयो ।।३१।।
तब ताकौ श्रावकनि विचारि, जिनमदिर तै दयौ निकारि।
— मिथ्यात्व खडन

[2] दुग्धश्रीधनतक्राज्यशाकभक्ष्यासानदिक।
नवीनमव्यय दद्यात्पात्राय कटमम्बरम्।।
—जै० सा० इति०, ४६१

आहार-विहार मे, धार्मिक क्रियाओं तथा वस्त्रादि के उपयोग मे कोई मर्यादा न रह गई थी। साधुजन अपने प्रत्येक शिथिलाचार को 'आपद्धर्म' कहकर अथवा स्वय को सुधारवादी कहकर ढकते चले जा रहे थे। धार्मिक दृढता (कट्टरता नही) का प्राय. अभाव होता जा रहा था[1]। विक्रम की १७ वी शती मे प० बनारसीदास ने जिस शुद्धाम्नाय का प्रचार किया और जिसे वि० की उन्नीसवी शती मे प० टोडरमल ने प्रौढता प्रदान की वह इन भट्टारको के विरोध मे ही था।

श्वेताम्बराचार्य महामहोपाध्याय मेघविजय ने वि० स० १७५७ के लगभग आगरा मे रहकर एक 'युक्तिप्रबोध' नामक प्राकृत ग्रथ स्वोपज्ञ संस्कृत टीका सहित बनाया था। उसका उद्देश्य बनारसी मत खण्डन ही था। उसका दूसरा नाम भी 'बनारसी मत खण्डन' रखा है। उसमे लिखा है कि बनारसी मत वालो की दृष्टि मे दिगबरो के भट्टारक भी पूज्य नही है। जिनके तिल-तुष मात्र भी परिग्रह है, वे गुरु नही है[2]।

धार्मिक शिथिलता और बाहरी आडम्बर के विरुद्ध यह सफल क्राति अध्यात्मपथ या तेरहपथ (तेरापथ)[3] के नाम से जानी जाती है। इसने मठपति भट्टारको की प्रतिष्ठा का अन्त कर दिया और

---

[1] क० ब० जी० कृ०, ७६

[2] तम्हा दिगम्बराण एए भट्टारगा वि णो पुज्जा।
तिलतुसमेत्तो जेसिं परिग्गहो णेव ते गुरुणो ॥१६॥

[3] तेरापथ व तेरहपथ ये दोनो नाम एक ही पथ के अर्थ मे विभिन्न विद्वानो द्वारा विभिन्न स्थानो पर प्रयुक्त हुए है। जैसे :–

(क) १ कहै जोध अहो जिन **तेरापंथ** तेरा है।
— प्रवचनसार भाषा प्रशस्ति

२. हे भगवान म्हा तो थाका वचना के अनुसार चला हो तातै **तेरापंथी** हो। — ज्ञानानन्द श्रावकाचार

३ पूर्व रीति तेरह थी, तिनको उठा विपरीत चले,
तातै **तेरापंथ** भवै। — तेरहपथ खडन

४. कपटी **तेरापंथ** है जिनसो कपट कराहिं।
— मिथ्यात्व खडन

उन्हे जड से उखाड फेका[1]। श्री परशुराम चतुर्वेदी लिखते है, "ऐसे ही समय जैन धर्मावलम्बियो मे कुछ व्यक्ति अपने समय के पाखड और दुर्नीति की आलोचना करने की ओर अग्रसर हुए और उन्होने अपनी रचनाओ और सदुपदेशो द्वारा सच्चे आदर्शो को सच्चे हृदय के साथ अपनाने की शिक्षा देना आरम्भ किया। उनका प्रधान उद्देश्य धार्मिक समाज मे क्रमश. घुस पडी अनेक बुराइयो की ओर सर्वसाधारण का ध्यान आकृष्ट कर उन्हे दूर करने के लिए उद्यत करना था[2]।"

उक्त तेरहपथ मे वाह्याचार की अपेक्षा आत्मशुद्धि पर विशेप बल दिया गया तथा विना आत्मज्ञान के वाह्य क्रियाकाण्ड व्यर्थ माना गया। पूज्य के स्थान पर केवल पचपरमेष्ठी को मान्य किया। पूजन मे शुद्ध जलाभिषेक व प्रासुक द्रव्य को अपनाया। मूर्ति पर किसी प्रकार का लेप या पुष्पारोहण अमान्य ठहराया क्योकि उससे वीतराग छबि मे दूषण लगता है[3]।

तेरहपथ की उत्पत्ति के बारे मे प० टोडरमल के समकालीन व प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी भट्टारकीय परम्परा के पोषक पडित बखतराम साह विक्रम सम्वत् १८२१ मे लिखते है कि यह पथ सबसे पहले

(ख) १ लोगन मिलिकै मती उपायो, तेरहपथ नाम अपनायो।
— मिथ्यात्व खडन

२ या विषे भी तेरहपथी सो अशुद्ध आम्नाय है।
— तेरहपथ खडन

३ जैन निवन्ध रत्नावली, प्राक्कथन, २६

[1] जै० सा० इति०, ४८३

[2] उ० भा० स० प०, ४७

[3] (क) जिण पडिमाण भूषणमल्लारुहणाइ अगपरियरण।
वाणारसियो वारइ दिगम्बरस्सागमाणाए ॥२०॥
— युक्तिप्रबोध

(ख) केसर जिनपद चरचिवो, गुरु नमिवो जगसार।
प्रथम तजी यह दोइ विधि मनमहि गणी असार ॥
— मिथ्यात्व खडन

वि० स० १६८३ मे आगरा मे चला[1]। श्वेताम्बराचार्य मेघविजय (विक्रम की अठारवी शती) ने वि० स० १६८० मे इसकी उत्पत्ति मानी है[2]। प० टोडरमल के अनन्य सहयोगी साधर्मी भाई ब्र० रायमल लिखते है कि तेरापथ तो अनादिनिधन है। जैन शास्त्रानुसार चला आया है। कोई नया पथ नही है[3]।

वस्तुतः तेरहपथ जैनियो का आध्यात्मिक मूलमार्ग है किन्तु कालवश आई हुई विकृतियो के विरुद्ध जो आध्यात्मिक क्राति हुई और जिसे तेरहपथ से पुकारा गया वह प० बनारसीदास (वि० स० १६४३-१७००) से आरभ होती है, हालाकि उक्त धारा अपने क्षीणतम रूप मे उसके पहिले भी प्रवाहित हो रही थी। बनारसीदास का इतना प्रभाव था कि जो भी व्यक्ति उनके सम्पर्क मे आता, उनसे प्रभावित हुए बिना नही रहता। व्यापारी लोग व्यापार के लिए आगरा आते थे और वहा से आध्यात्मिक रुचि लेकर वापिस जाते थे। इन आध्यात्मिक लोगो की प्रवृत्ति अध्ययन-मनन-चिन्तन और निरन्तर तत्त्वचर्चा करने की रहती थी[4]।

आगरा के बाद इसका प्रचार कामा[5] मे हुआ[6]। एक पत्र प्राप्त हुआ है, जो वि० स० १७४९ मे कामा वालो ने सागानेर के भाइयो के

---

[1] प्रथम चल्यो मत आगरे, श्रावक मिले कितेक।
सौलह से तीयासिए, गही कितू मिलि टेक ॥२०॥
— मिथ्यात्व खडन

[2] सिरि विक्कम नरनाहा गएहि सोलस सएहि वासेहि।
असि उत्तरेहि जाय वाणारसि यस्य मयमेय ॥१८॥
— युक्तिप्रबोध

[3] ज्ञानानन्द श्रावकाचार, ११६

[4] किते महाजन आगरे, जात करण व्यौपार।
बनि आवै अध्यातमी, लखि नूतन आचार ॥२६॥
ते मिलिके दिन रात वाचे चरचा करत नित ॥२७॥
— मिथ्यात्व खडन

[5] कामा राजस्थान मे भरतपुर के पास मे है।

[6] फिर कामा मे चलि पर्‌यौ, ताही के अनुसारि ॥२२॥
— मिथ्यात्व खडन

नाम लिखा है[1]। इसमे लिखा गया है कि हमने इतनी बाते छोड दी है सो आप भी छोड देना – जिन-चरणो मे केसर लगाना, बैठ कर पूजन करना, चैत्यालय भडार रखना, प्रभु को जलौटपर रख कर कलश ढालना, क्षेत्रपाल और नवग्रहो का पूजन करना, मदिर मे जुआ खेलना और पखे से हवा करना, प्रभु की माला लेना, मदिर मे भोजको को आने देना, भोजको द्वारा बाजे बजवाना, राधा हुआ अनाज चढाना, मदिर मे जीमन करना, रात्रि को पूजन करना, रथ-यात्रा निकालना, मदिर मे सोना आदि।

जयपुर के निकट सागानेर मे इसका प्रचार भट्टारक नरेन्द्रकीर्ति के समय मे हुआ[2]। भट्टारक नरेन्द्रकीर्ति की उपस्थिति प० नाथूराम प्रेमी, तर्क-वितर्क के बाद १७०३ वि० स० मे स्थिर करते है[3] जो युक्तिसगत प्रतीत होती है। सागानेर मे उक्त तेरहपथ के प्रचार के आरभ होने का दिलचस्प वर्णन प्राप्त होता है जिसका उल्लेख आगे किया गया है।

तेरहपथ के नामकरण के सम्बन्ध मे भी विभिन्न अभिप्राय मिलते है। बखतराम साह लिखते है कि तेरह व्यक्तियो ने मिल कर यह पथ चलाया अत: इसका नाम तेरहपथ पड गया। उनका कहना है कि सांगानेर मे एक अमरचद गोदीका (अमरा भौसा) नामक सेठ थे, उन्हे धन का बहुत घमड था। उन्होने जिनवाणी का अविनय

---

[1] आई सागानेर, पत्री कामा तै लिखी।
फागुन चौदसि हेर, सत्रह सौ उनचास सुदी ॥

– अ० क० भूमिका, ५२

नोट – यह पत्र लिखने वाले है कामा वाले हरिकिसन, चिन्तामणि, देवीलाल और जगन्नाथ। सागानेर के जिन भाइयो के नाम यह पत्र लिखा गया, उनके नाम हे – मुकुन्ददास, दयाचद, महासिह, छाजू, कल्ला, सुन्दर और विहारीलाल।

[2] भट्टारक आमेर के नरेन्द्रकीर्ति सु नाम।
यह कुपथ तिनके समय नयो चल्यो अघधाम ॥२५॥

– मिथ्यात्व खडन

[3] अ० क० भूमिका (शुद्धिपत्र), ११

किया था और उन्हे मदिर से निकाल दिया गया था। तब उन्होने क्रुद्ध होकर प्रतिज्ञा की कि मै नया पंथ चलाऊँगा। उनके साथ बारह अध्यात्मी और शामिल हो गए। उनमे एक राजमंत्री भी था। उन्होने एक नया मंदिर बना लिया। इस तरह एक नया पंथ चला दिया[1]।

इसी बात को चन्द्रकवि इस प्रकार लिखते है कि जब सागानेर मे नरेन्द्रकीर्ति भट्टारक का चातुर्मास था तब उनके व्याख्यान के समय अमरचद गोदीका का पुत्र (जोधराज) जो सिद्धान्तशास्त्रो का ज्ञाता था, बीच-बीच मे बहुत बोलता था। उसे व्याख्यान मे से जूते मार कर निकाल दिया गया था। इससे चिढ कर अनादि से चली अन्य तेरह बातों का उत्थापन करके उसने तेरहपथ चलाया[2]। यद्यपि

---

[1] तिनिमे अमरा भौसा जाति, गोदीका यह व्यौक कहाति।
धन को गौरव अधिक तिन धर्यो, जिनवाणी को अविनय करचो ।।३१।।
तब वाको श्रावकनि विचारि, जिन मदिर ते दियो निकारि।
जब वाने कीनो क्रोध अनत, कही चले हो नूतन पथ ।।३२।।
तब वे अध्यातमी कितेक, द्वादश मिले सबै भए एक।
नये देहुरो बान्यो और.......... ....
लोगन मिलिके मतो उपायो, तेरहपथ नाम ठहरायो।
तिनि मे मिलि नृपमत्री एक, बाधी नये पथ की टेक ।।३५।।

— मिथ्यात्व खंडन

[2] सवत् सोलासै पचोत्तरे कार्तिक मास अमावस कारी।
कीर्तिनरेन्द्र भट्टारक सोभित, चातुर्मास सागावति धारी।
गोदीकारा उधरो अमरोसुत, सास्त्रसिधत पढाइयो भारी।
बीच ही बीच वखानमै बोलत, मारि निकार दियौ दुख भारी ।।
तदि तेरह बात उथापि धरी, इह आदि अनादि को पथ निवार्यो।
हिन्दू के मारे मलेच्छ ज्यो रोवत, तैसे त्रयोदस रोय पुकार्यो।
पागरख्या मारि जिनालय से विडारि दिए,
तातै कुभाव धारि न मानै गुरु जती को।
झूठो दभ धरै फिरै झूठ ही विवाद करे
छोड़े नाहि रीस जानहार कुगती को ।।

— अ० क० भूमिका, ५२

चन्द्रकवि ने अमरचद के पुत्र का नाम स्पष्ट रूप से जोधराज नही लिखा है, तथापि सिद्धान्तशास्त्रो के विशेप विद्वान् जोधराज गोदीका ने उनके द्वारा लिखित सम्यक्तकौमुदी[1] और प्रवचनसार भाषा[2] दोनो मे ही स्वय को सागानेर निवासी अमरचदजी का पुत्र बताया है। उक्त ग्रथो का निर्माण-काल भी जो क्रमश वि० सवत् १७२४[3] एव १७२६[4] है, भट्टारक नरेन्द्रकीर्ति के समय से मिलता है। 'धर्म सरोवर' ग्रथ मे भी ऐसे ही उल्लेख है[5]।

इस तरह का कठोर व्यवहार भट्टारको के अनुयायी श्रावक लोग ही नही करते थे किन्तु भट्टारक लोग स्वय भी उसमे प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से सक्रिय रहते थे। वे ऐसा करने के लिये श्रावको को मात्र उकसाते ही नही थे वरन् स्पष्ट आदेश तक देते थे। उनके द्वारा लिखित टीका ग्रन्थो मे भी इस प्रकार के उल्लेख पाए जाते है। सोलहवी शती के भट्टारक श्रुतसागर सूरि ने कुदकुदाचार्य के पवित्रतम ग्रथ 'षट्पाहुड' (षट्प्राभृत) की टीका करते हुए इस प्रकार की अनर्गल बाते लिखी है –

"जब ये जिनसूत्र का उल्लघन करे तब आस्तिको को चाहिए कि युक्तियुक्त वचनो से इनका निपेध करे, फिर भी यदि ये कदाग्रह

---

[1] अमरपूत जिनवर-भगत, जोधराज कवि नाम।
वासी सागानेर कौ, करी कथा सुखधाम ॥

[2] ताकै राज सुचैन सौ कियो ग्रथ यह जोध।
सागानेर सुथानमै हिरदै धारि सुबोध ॥

[3] सवत् सत्तरहसौ चौबीस, फागुन वदी तेरस सुभ दीस।
सुकरवार को पूरन भई, इहै कथा समकित गुण ठही ॥

[4] सत्रह से छव्वीस सुभ, विक्रम साक प्रमान।
अरु भादो सुदी पचमी, पूरन ग्रथ बखान ॥

[5] जोध कवीश्वर होय वासी सागानेर को।
अमरपूत जगसोय, वणिक जात जिनवर भगत ॥

न छोडें तो समर्थ आस्तिक इनके मुह पर विष्ठा से लिपटे हुए जूते मारे, इसमे जरा भी पाप नही है[1] ।"

स्वयलिखित 'प्रवचनसार भाषा' के अन्त मे जोधराज गोदीका तेरहपथ की व्याख्या करते हुए लिखते है :– सब लोग, सती, क्षेत्रपाल आदि बारहपथो में भटक रहे है परन्तु जोध कवि कहता है कि हे जिनदेव! उक्त बारहपंथो से अलग आपके द्वारा बताया गया पथ (मार्ग) ही 'तेरापथ' है[2] ।

उक्त कथनो के आधार पर यह तो स्पष्ट है कि जयपुर निर्माण के पूर्व जयपुर के समीप सागानेर मे तेरहपथ का प्रचार प० टोडरमल के पूर्व अमरचद भौसा (गोदीका) या उनके पुत्र जोधराज गोदीका द्वारा हो चुका था। बखतराम साह उक्त घटना का सम्बन्ध अमरचंद गोदीका (अमरा भौसा) से जोडते है, तो चन्द्रकवि अमरचदजी के पुत्र कविवर जोधराज गोदीका से । हो सकता है कि जब उक्त घटना घटित हुई तब अमरचद गोदीका और उनके पुत्र जोधराज गोदीका दोनो ही विद्यमान हो और दोनो से ही उक्त अप्रिय प्रसग सम्बन्धित रहा हो । किसी ने पिता होने से अमरचद गोदीका का उल्लेख कर दिया एव किसी ने अधिक बुद्धिमान, विद्वान् एव कवि होने से तथा धार्मिक कार्यो मे विशेष सक्रिय होने से जोधराज के नाम का उल्लेख किया ।

---

[1] यदि जिनसूत्रमुल्लघते तदाऽऽस्तिकैर्युक्तिवचनेन निषेधनीया. । तथापि यदि कदाग्रह न मुञ्चन्ति तदा समर्थैरास्तिकैरुपानद्भि. गूथलिप्ताभिर्मुखे· ताडनीया तत्र पाप नास्ति । – षटप्राभृत टीका, ३

[2] कोई देवी खेतपाल बीजासनि मानत है,
कोई सती पित्र सीतला सौ कहै मेरा है ।
कोई कहै सावलौ, कबीर पद कोई गावै,
केई दादूपथी होई परे मोह घेरा है ।।
कोई ख्वाजै पीर माने, कोई पथी नानक के,
केई कहै महावाहू महारुद्र चेरा है ।
याही बारा पथ मे भरमि रह्यो सबै लोक,
कहै जोध अहो जिन तेरापथ तेरा है ।।

उक्त विश्लेषण से दो प्रकार के मत सामने आते है। तेरापंथ के अनुयायी उसकी व्याख्या यह करते रहे कि अनादि से चला आया शुद्ध जैन अध्यात्म मार्ग ही तेरापंथ है, वह जिनेश्वर का ही पथ है, उससे भिन्न नही। जोधराज के शब्दो मे, "हे जिन! तेरापथ तेरा है"। प० टोडरमल के अनन्य सहयोगी ब्र० रायमल 'ज्ञानानन्द श्रावकाचार' मे लिखते है कि "हे भगवान म्हा तो थांका वचना के अनुसार चलां हो तातै तेरापथी हो। ते सिवाय और कुदेवादिक को म्हा नाही सेवे है (पृ० १११) तुमही ने सैवौ सौ तेरापंथी सो म्हां तुम्हारो आज्ञाकारी सेवक हो (पृ० ११५) सो तेरा प्रकार के चारित्र के धारक ऐसे निर्ग्रंथ दिगम्बर गुरु को माने और परिग्रहधारी गुरु को नाही माने ताते गुरु अपेक्षा भी तेरापथी संभवे है" (पृ० ११२)। दूसरी ओर भट्टारक पथी यथास्थितिवादी उसकी अलग व्याख्या करते है। प० बखतराम साह तेरह मनुष्यो के मिलने से इसका नाम तेरापथ पडा, कहते है। इसी प्रकार, चन्द्रकवि और पडित पन्नालाल तेरह बातो को छोड़ देने से तेरहपथ नाम पडा कहते है। पडित पन्नालाल अपने 'तेरहपथ खण्डन' नामक ग्रथ मे लिखते है कि तेरह बाते हटाकर नई रीति चलाने के कारण इसका नाम तेरहपथ पडा। उनके अनुसार वे तेरह बाते[1] ये है :–

(१) दश दिग्पालो को नही मानना।
(२) भट्टारको को गुरु नही मानना।
(३) भगवान के चरणो मे केसर का लेपन नही करना।
(४) सचित्त फूल भगवान को नही चढ़ाना।

---

[1] पूर्व रीति तेरह थी, तिनको उठा विपरीत चले, ताते तेरापथी भवे। तेरह पूर्व किसी ताका समाधान :–

दसदिकपाल उथापि[1] गुरुचरणा नहि लागे।[2]
केसरचरणा नहि धरै[3] पुष्पपूजा फुनि त्यागै[4]॥
दीपक अर्चा छाडि[5] आसिका[6] माल न करही[7]।
जिन न्हावण ना करै[8] रात्रिपूजा परिहरही[9]॥
जिन शासन देव्या तजी[10] राध्यौ अन्न चहौडै नही[11]।
फल न चढावै हरित[12] फुनि वैठिर पूजा करै नही[13]॥
ये तेरै उर धारि पथ तेरै उरथप्पे।
जिनशासन सूत्र सिद्धांतमाहि ला वचन उथप्पे॥

(५) दीपक से पूजा नही करना ।
(६) आसिका नही लेना ।
(७) फूलमाल नही करना ।
(८) भगवान का अभिषेक (पचामृत अभिषेक) नही करना ।
(९) रात मे पूजन नही करना ।
(१०) शासन देवी को नही पूजना ।
(११) राधा अन्न भगवान को नही चढाना ।
(१२) हरे फलो को नही चढाना ।
(१३) बैठ कर पूजन नही करना ।

उक्त सन्दर्भ मे प० नाथूराम प्रेमी लिखते है, "बहुत सभव है कि ढूढियो (श्वेताम्बर स्थानकवासियों) मे से निकले हुए तेरापथियों के जैसे निद्य बतलाने के लिए भट्टारको के अनुयायी इन्हे तेरापथी कहने लगे हो और धीरे-धीरे उनका दिया हुआ यह कच्चा 'टाइटल' पक्का हो गया हो – साथ ही वे स्वयं तेरह से बड़े बीसपथी कहलाने लगे हो। यह अनुमान इसलिए भी ठीक जान पडता है कि इधर के सौ-डेढसौ वर्ष के ही साहित्य मे तेरापंथ के उल्लेख मिलते है, पहले के नही[1] ।

प० नाथूराम प्रेमी का उक्त कथन ठीक नही, क्योकि उसके पहले के दिगम्बर तेरापंथ सम्बन्धी कई उल्लेख प्राप्त है । लगभग ३०० वर्ष पूर्व के कविवर जोधराज गोदीका के 'प्रवचनसार भाषा प्रशस्ति' एव कामा वालो के सांगानेर वालो को लिखे गए पत्र के उल्लेख किए जा चुके है । प० बखतराम साह ने वि० स० १६८३ मे तथा श्वेताम्बराचार्य मेघविजय ने वि० स० १६८० में दिगम्बर जैन तेरापंथ की उत्पत्ति मानी है, इनकी चर्चा भी की जा चुकी है । दूसरी ओर श्वेताम्बर तेरापथ की स्थापना ही विक्रम की १९वी शती के पूर्वार्द्ध मे हुई है[2] । इस प्रकार, दिगम्बर तेरहपथ, श्वेताम्बर तेरापंथ से

[1] जै० सा० इति०, ४९३
[2] (क) जैन सा० इति०, ४९३
(ख) वल्लभ सदेश, १६

प्राचीन है । अत अधिक सभावना यही है कि क्रातिकारी सुधारवादी दिगम्बर तेरापंथियो, जिन्होने भट्टारको के विरुद्ध सफल आध्यात्मिक क्राति की थी, के अनुकरण पर श्वेताम्बर तेरापथियो ने अपना नाम तेरापंथी रखना ठीक समझा हो ।

तेरापथ के नामकरण के सम्बन्ध मे हुए विचार-विमर्श से सही रूप मे यह पता तो नही चलता कि इस नामकरण का वास्तविक रहस्य क्या है ? किन्तु यह पता अवश्य चलता है कि तेरापथ प्राचीन शुद्धाम्नायानुसार जैन पथ है एवं उसमे आई हुई विकृतियो के विरुद्ध जो आन्दोलन हुआ वह सत्रहवी शती मे आरभ हुआ; तथा भट्टारकीय प्रवृत्ति के यथास्थितिवादी लोग इसे एक नवीन पथ कह कर आलोचना करते रहे और इसे जैन मार्ग से अलग घोपित करते रहे । तेरापथ को नया पथ कहकर उपेक्षा करने वालो के प्रति प० टोडरमल कहते है, "जो अपनी बुद्धि करि नवीन मार्ग पकरै, तौ युक्त नाही । जो परम्परा अनादिनिधन जैनधर्म का स्वरूप शास्त्रनिविषै लिख्या है, ताकि प्रवृत्ति मेटि वीचि मे पापी पुरुषा अन्यथा प्रवृत्ति चलाई, तौ ताकौ परम्परा मार्ग कैसे कहिए । बहुरि ताकौ छोडि पुरातन जैन शास्त्रनिविषै जैसा धर्म लिख्या था, तैसै प्रवर्ते, तो ताकौ नवीन मार्ग कैसै कहिए[1] ।"

पडित टोडरमल के पूर्व यह आध्यात्मिक पथ पाच-सात स्थानो पर फैल चुका था । जगह-जगह इसका जोरदार विरोध भी हो रहा था । भट्टारको और विषम (वीस) पथियो[2] के हाथ शक्ति थी, जिसका वे प्रयोग भी करते थे । मदिरो से निकलवा देते थे, मारपीट भी करते थे । ज्यो-ज्यो इस क्राति का दमन किया जा रहा था, त्यों-त्यो यह उतने ही उत्साह से बढ भी रही थी । पंडित टोडरमल के

---

[1] मो० मा० प्र०, ३१५

[2] 'वीसपथ' को 'विषमपथ' के नाम से भी जाना जाता है । इसके २०० वर्ष पूर्व के उल्लेख प्राप्त है । वि० स० १८२८ मे कविवर टेकचन्दजी ने 'तीनलोक मडल पूजा' की प्रशस्ति मे 'विषमपथ' का उल्लेख किया है ।
– जैन निबन्ध रत्नावली, ३४३

समय यह सघर्ष अपने चरम बिन्दु पर था। भट्टारकीय प्रवृत्ति के विद्वान अस्तित्व के सघर्ष मे लगे हुए थे। वि० स० १८१८ मे, जब पडित टोडरमल ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका' समाप्त की थी, तब 'तेरहपंथ खंडन' नामक पुस्तक जयपुर मे ही लिखी गई। इसी प्रकार वि० सं० १८२१ मे जब पडित टोडरमल के निर्देशन मे 'इन्द्रध्वज विधान महोत्सव' हो रहा था– जिसमे सारे भारतवर्ष के लाखो जैनी आये थे एव जिसका विस्तृत वर्णन ब्र० रायमल द्वारा लिखित 'इन्द्रध्वज विधान महोत्सव आमत्रण पत्रिका'[1] मे मिलता है – तब इसी जयपुर मे प० बखतराम साह 'मिथ्यात्व खडन' नामक ग्रथ मे तेरहपंथ का खडन बडी ही कटुता से कर रहे थे। उन्होने लिखा है :–

"कपटी तेरापथ है जिनसौ कपट करत"[2]

उस समय प० टोडरमल और उनके सहयोगी कई विद्वान् महान ग्रथो का निर्माण कर रहे थे। सारे भारतवर्ष मे तेरापथ का डका बजाने वाले साधर्मी भाई ब्र० रायमल, अनेक पुराण-ग्रथों के जनप्रिय वचनिकाकार प० दौलतराम कासलीवाल, बीसो न्याय व सिद्धान्त-ग्रथो के समर्थ टीकाकार प० जयचद छाबडा आदि विद्वान् प० टोडरमल के सहयोग से तैयार हुए थे। इन सभी विद्वानो ने जनभाषा मे रचनाएँ की। उक्त महान् प्रयासो के फलस्वरूप यह पथ देशव्यापी हो गया और इसके प्रभाव से मठाधीशो की प्रतिष्ठा का एक तरह से अन्त ही हो गया।

---

[1] परिशिष्ट १

[2] उक्त कथन पूरा इस प्रकार है :–
जैसे बिल्ली ऊँदरा, बैर भाव को सग।
तैसै बैरी प्रगट है, तेरापथ निसग।।
बीसपथ तै निकलकर, प्रगट्यौ तेरापथ।
हिन्दुन मै से ज्यो कढचौ, यवनलोक को पथ।।
हिन्दुलोक की ज्यो क्रिया, यवन न मानै लोक।
तैसै तेरापथ भी, किरिया छाडी बोक।।
कपटी तेरापथ है, जिनसौ कपट करत।
गिरी चहोड़ी दीप कहै, खोटो मत को पथ।।

दिगम्वर जैनियो मे तेरापथियो की सख्या ही सर्वाधिक है। ये सारे उत्तर भारत मे फैले हुए है।

पडित टोडरमल के बाद उनके द्वितीय पुत्र पडित गुमानीराम ने शिथिलाचार दूर करने के उद्देश्य से उनसे भी कठोर कदम उठाए। उन्होने पूजन-पद्धति मे आए वाह्याडम्वर को बहुत कम कर दिया एव धर्म के नाम पर होने वाले राग-रग को समाप्तप्राय करने का यत्न किया। मदिरो मे होने वाले लौकिक कार्यो पर प्रतिबध लगाया। धर्मायतनो की पवित्रता कायम रखने के लिए उन्होने एक आचार-सहिता बनाई। उनके नाम पर एक पथ चल पडा जिसे गुमानपथ कहा जाता है। इस पथ का एक मदिर जयपुर मे है[1] जो गुमानपथ की गतिविधियो का केन्द्र था। इस पथ के और भी मदिर जयपुर मे और जयपुर के आस-पास के स्थानो मे है[2]।

पडित गुमानीरामजी की वनाई गुमानपथी आचार-सहिता की कुछ बाते निम्नलिखित है -

(१) सूर्योदय या काफी प्रकाश होने के पहले मदिरजी की कोई क्रिया न करे।

(२) जो सप्त व्यसन का त्यागी हो, वही श्रीजी[3] का स्पर्श करे।

---

[1] यह मदिर घी वालो के रास्ते मे स्थित है एव दीवान भदीचदजी का मदिर कहलाता है। इसका निर्माण दीवान रतनचदजी ने कराया था और अपने भाई के नाम पर इसका नाम प्रचलित किया था।

[2] गुमानपथी मदिर के वर्तमान व्यवस्थापक श्री सरदारमलजी साह के अनुसार गुमानपथ के मदिर निम्न स्थानो पर है -
जयपुर मे वडे दीवानजी का मदिर, छोटे दीवानजी का मदिर, दीवानजी की नसियाँ, मदिर श्री बुधचदजी वज, मदिर श्री वज बगीची।
जयपुर के अतिरिक्त आमेर, सागानेर, जगतपुरा, माधोराजपुरा, लाम्बा आदि स्थानो पर भी है।

[3] भगवान की मूर्ति को श्रीजी भी कहते है।

(३) जिन-प्रतिमा के चरणों पर चन्दन, केसर आदि चर्चित न करे।

(४) गधोदक[1] लगा कर हाथ धोवे।

(५) भगवान का पूजन खड़े होकर करे।

(६) पूजन मे फलो मे नारियल और बादाम आदि – सूखे फल ही चढावे। उन्हे भी साबित न चढावे।

(७) रात को जिन प्रतिमा के पास दीपक न जलावे।

(८) चमड़े की व ऊनी चीजे मदिर मे न ले जावे।

(९) मदिर मे बुहारी देना, पूजा के बर्तन माजना, बिछायत बिछाना आदि मदिर का सम्पूर्ण कार्य श्रावक स्वय अपने हाथो से करे, माली या नौकर आदि से न करावे।

(१०) मदिरजी की वस्तु लौकिक काम मे न लावे।

पडित गुमानीराम की वताई गई कई बातो का पालन तो प्राय. सभी तेरापथी मदिरो मे होता है, पर कुछ बाते जो बहुत कठोर थी वे चल न सकी। वैसे गुमानपथ का पथ के नाम से कोई विशेष प्रचार नही हुआ है और न ही पडित गुमानीराम का कोई पथ चलाने का उद्देश्य ही था। वे तो वाह्याडंबर और हिसामूलक प्रवृत्ति के विरुद्ध थे। उनके विरोधियो ने ही उनके बताए रास्ते को 'गुमानपथ' कहना आरभ कर दिया था और वे उनमे श्रद्धा रखने वालों को 'गुमानपथी' कहने लगे थे।

इस तरह हम देखते है कि पंडितजी के पूर्व एव समकालीन धार्मिक एव सामाजिक परिस्थितियाँ विषम थी और अन्य भारतीय धर्मो की भाति जैनधर्म भी कई शाखा–उपशाखाओं मे विभक्त था। जिस दिगम्वर जैन सम्प्रदाय मे पडितजी ने जन्म लिया उसमे भी भट्टारको का साम्राज्य था और दर्शन का मूल तत्त्व लुप्तप्राय· था। कही-कही पं० बनारसीदास द्वारा प्रज्वलित अध्यातमज्योति टिमटिमा रही थी। पडित टोडरमल ने उसमे तेल ही नही दिया अपितु उसे शतगुणी करके प्रकाशित किया।

---

[1] भगवान के अभिषेक के जल को गधोदक कहते है।

राजनीतिक परिस्थिति

ऐतिहासिक दृष्टि से यह काल औरगजेब का शासनकाल था, जिसमे मुगल सत्ता उतार पर थी। राजस्थान के शासक भी निष्क्रिय थे। यही कारण है कि मुगल साम्राज्य के उस विघटनकाल मे भी ये अपनी शक्तियो को सचित और एकत्र करके हिन्दू प्रभुत्व स्थापित न कर पाए[1]। फिर भी तत्कालीन जयपुर नरेश सवाई जयसिह (शासनकाल—१६६६-१७४३ ई०)[2] ने स्थिति का लाभ उठाया। उन्होने मारवाड और मेवाड के राजाओ के सहयोग से न केवल मुगल सत्ता से आत्मरक्षा की प्रत्युत उनके विघटन का लाभ भी उठाया। इन लोगों ने दिल्ली के शासन के सकट के प्रति अपनी आँखे वन्द कर ली। वहाँ होने वाले सघर्षो, षडयन्त्रो और राजनीतिक हत्याओ से जैसे इनका सरोकार ही नही था। एक ओर नादिरशाह दुर्रानी और अहमदशाह अब्दाली जैसे क्रूर आक्रांता लुटेरे दिल्ली को लूटते रहे, तो दूसरी ओर मरहठो और जाटो आदि ने भी कम लूट-पाट नही की। उक्त राजात्रयी इस राजनीतिक हलचल और खूनी लूट-खसोट मे सम्पूर्ण रूप से तटस्थ-द्रष्टा थी। वे अपने राज्यो की शक्ति, समृद्धि और व्यवस्था के पुख्ता बनाने मे लगे रहे। सवाई जयसिह पर यह बात पूर्णत· लागू होती है[3]। उन्होने अपने राज्य के चौमुखी विकास के लिए बहुत कुछ किया। वर्तमान जयपुर का निर्माण उनकी ही देन है। अपने परम्परागत राज्य को आदर्श जन-कल्याणकारी और प्रगतिशील बनाने की दिशा मे वे अपने समकालीन देशी-विदेशी शासको की तुलना मे बहुत आगे थे। धर्म-सहिष्णुता और विद्वानो के सम्मान करने में कोई उनकी होड नही कर सकता था। प्रसिद्ध इतिहासकार कर्नल टॉड ने लिखा है —इस राजा को जैनधर्म के

---

[1] रीतिकाव्य की भूमिका, ७

[2] राजस्थान का इतिहास, ६३७

[3] भा० इ० एक दृष्टि, ५६२-५६३

सिद्धान्तो एव इतिहास का अच्छा ज्ञान था और उनकी विद्या-बुद्धि के कारण भी वह जैनियो का काफी सम्मान एव आदर करता था। इस राजा की ज्योतिष-विषयक गवेषणाओ मे भी उसका प्रधान सहायक विद्याधर नामक जैन विद्वान् था[1]।

सवाई जयसिह के पश्चात् उसका वडा पुत्र ईश्वरसिह (शासन-काल—१७४४-१७५० ई०) राजा हुआ[2]। उन दिनो जयपुर के राजकीय गगन मे गृहकलह की काली घटा छाई हुई थी। यद्यपि ईश्वरसिह एक सज्जन राजा था तथापि गृहशत्रुओ के कुचक्र से उसका अन्त हुआ और उसका अनुज माधोसिह (शासनकाल—१७५१–१७६७ ई०) राजा बना[3]।

यद्यपि जयसिह के राज्यकाल के समान माधोसिह के राज्यकाल मे भी शासन-व्यवस्था मे जैनियो का महत्त्वपूर्ण योगदान एव प्रभाव रहा, शासन के उच्चपदो पर अधिकाश जैन थे, जैनियो की अहिसात्मक सस्कृति जयपुर नगर मे स्पष्ट प्रतिबिम्बित थी तथा शासकीय आदेश से जीवहिसा, वेश्यावृत्ति एव मद्यपान निषिद्ध थे[4] तथापि साम्प्रदायिक उपद्रवो की दृष्टि से माधोसिह का शासनकाल अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण रहा। इसमे जैनियो को दो बार साम्प्रदायिक विद्वेप का शिकार होना पडा। अपने समस्त उदार आश्वासनो के बावजूद भी शासन उन्हे सुरक्षा और न्याय देने मे असमर्थ रहा।

---

[1] एनल्स एण्ड एन्टीक्विटीज ऑफ राजस्थान, २९७

[2] राजस्थान का इतिहास, ६५०

[3] वही

[4] "और ई नग्र विषै सात विसन का अभाव है। भावार्थ–ई नग्र विषै कलाल कसाई वेश्या न पाईए है। अर जीव हिसा की भी मनाई है। राजा का नाम माधवसिंह है। ताके राज विषै वर्तमान एते कुविसन दरबार की आज्ञातै न पाईए है। अर जैनी लोग का समूह बसै है। दरवार के मुतसद्दी सर्व जैनी है। और साहूकार लोग सर्व जैनी है। यद्यपि और भी है परि गौणता रूप है। मुख्यता रूप नाही। छह सात वा आठ दस हजार जैनी महाजना का घर पाईए है।"

—इ० वि० पत्रिका, परिशिष्ट १

वि० स० १८१८ मे जिस समय पानीपत के मैदान मे मराठा और अफगानो के युद्ध मे दिल्ली की टूटती बादशाहत का भाग्य निर्णय हो रहा था, उस समय राजा माधोसिह का मुँहलगा पुरोहित श्याम तिवाडी जयपुर के जैनियो को साम्प्रदायिक द्वेप की ज्वाला मे भून रहा था[1]। जैन स्रोतो के अनुसार लगभग अठारह माह तक यह 'श्याम गर्दी' चली[2], जिसके वाद राजा को सुमति आई, पश्चाताप हुआ। श्याम तिवाडी को अपमानित कर राज्य से निर्वासित किया गया[3]। जैनियो के समाधान के लिए राज्य की ओर से पूरे प्रयत्न किये गए, उनकी स्थिति पूर्ववत् बना देने का प्रयास किया गया।

इस घटना का विवरण जयपुर के तत्कालीन इतिहास मे नही मिलता। ऐसे विवरण की अपेक्षा उस समय के इतिहास से की भी नही जा सकती। फिर भी एक प्रशासकीय आदेशपत्र मे जैनियो की क्षतिपूर्ति करने और उनके प्रति सहानुभूति का दृष्टिकोण अपनाने का आदेश दिया गया, इससे उक्त घटना की ऐतिहासिकता प्रमाणित होती है। यह आदेश विक्रम सवत् १८१६ मार्गशीर्ष कृष्णा २

---

[1] सवत् अट्ठारह सै गये, ऊपरि जकै अठारह भये।
तब इक भयो तिवाडी श्याम, डिभी अति पाखड को धाम ॥१२८६॥
करि प्रयोग राजा वसि कियो, माधवेश नृप गुरु पद दियो ॥१२६१॥
दिन कितेक बीते है जबै, महा उपद्रव कीन्हो तबै ॥१२६२॥
— बु० वि०

[2] "सवत् १८१७ के सालि असाढ के महैने एक स्यामराम ब्राह्मण वाके मत का पक्षी पापमूर्त्ति उत्पन्न भया। राजा माधवसह का गुर ठाहरचा, ताकरि राजानै वसि कीया पीछै। जिन धर्म सूं द्रोह करि या नग्र के वा सर्व ढुढाड देश का जिन मदिर तिनका विघ्न कीया। सर्व कू वैसनू (वैष्णव) करने का उपाय कीया। ताकरि लाखा जीवा नै महा घोरानघोर दुख हूवा अर महापाप का बध भया सो एह उपद्रव वरस ड्योढ पर्यत रह्या।"
— जीवन पत्रिका, परिशिष्ट १

[3] अकस्मात कोप्यो नृप भारो, दियो दुपहरा देश निकारो।
दुपटा धोति धरे द्विज निकस्यो, तिय जुत पापनि लखि जग विगस्यो ॥१२६६॥
— बु० वि०

के दिन जयपुर राज्य के तेतीस परगनो के नाम जारी हुआ था[1]। वि० स० १८२१ मे 'इन्द्रध्वज विधान महोत्सव' के नाम से एक विशाल और वैभवपूर्ण सार्वजनिक जैन महोत्सव कराया गया, जिसमे राज्य की ओर से पूरा समर्थन, सहयोग एव सहायता प्राप्त हुई[2]।

राजा माधोसिह के राज्यकाल मे ही वि० स० १८२३-२४ मे एक वार पुन साम्प्रदायिक उपद्रव भडके, जिनकी अतिम परिणति पं० टोडरमल के निर्मम प्राणान्त के रूप मे हुई।

माधोसिह के पश्चात् शासन पृथ्वीसिह (१७६८-१७७७ ई०) के हाथ मे आया। उसके शासनकाल मे वि० सं० १८२६ मे फिर साम्प्रदायिक उपद्रव हुआ, जिसमे जैनियो को अपार क्षति उठानी पडी[3]।

---

[1] "**हुक्मनामा** – सनद करार मिति मगसिर बदी २ सवत् १८१६ अप्रच हद सरकारी मे सरावगी वगैरह जैनधर्म साधबा वाला सू धर्म मे चालबा को तकरार छो, सो याको प्राचीन जान ज्यो का त्यो स्थापन करवो फरमायो छै सो माफिक हुक्म श्री हुजूर के लिखा छै। बीसपथ तेरापथ परगना मे देहरा वनाओ व देव गुरु शास्त्र आगे पूजै छा जी भाति पूजौ। धर्म मे कोई तरह की अटकाव न राखे। अर माल मालियत वगैरह देवरा को जो ले गया होय सो ताकीद कर दिवाय दीज्यो। केसर वगैरह को आगे जहा से पावै छा तिठासू भी दिवावो कीज्यो। मिति सदर"

– टोडरमल जयती स्मारिका, ६४-६५

[2] "ए कार्य दरवार की आज्ञासू हुवा है। और ए हुकम हुवा है जो थाकै पूजाजी कै अर्थि जो वस्तु चाहिजे सो ही दरबार सू ले जावो। सो ए वात उचित ही है। ए धर्म राजा का चलाया ही चालै हे। राजा की सहाय विना ऐसा महत परम कल्याणरूप कार्य वणै नाही। अर दोन्यू दिवान रतनचद वा वालचद या कार्य विषै अग्रेश्वरी है। तातै विशेष प्रभावना होइगी।·· ·· मिति माह बदी ६ सम्वत् १८२१"

– इ० वि० पत्रिका, परिशिष्ट १

[3] फुनि भई छब्बीसा के साल, मिले सकल द्विज लघुरविसाल।
द्विजन आदि बहुमेल हजार, विना हुकम पाये दरवार।
दोरि देहुरा जिन लिए लूटि, मूरति विघन करी वहु फूटि॥

– बु० वि०

साहित्यिक परिस्थिति

आलोच्यकाल की साहित्यिक गतिविधियाँ सतोषजनक नही थी। लडभिड कर मुगल सेना और हिन्दू राजे अपनी शक्ति खो चुके थे। विशाल राष्ट्रीय कल्पना या उच्च नैतिक आदर्श की आस्था उनमे नही थी। यही स्थिति आध्यात्मिक चितन और साधना के क्षेत्र मे थी। भक्तिकाल के वाद रीतियुग (शृ गारकाल) की मूल चेतना शृंगार थी। अधिकाश रीति-कवियो के आलम्वन राधा-कृष्ण थे। विशाल भारतीय समाज का ही एक अङ्ग होने से जैन समाज भी इन प्रभावो से अछूता नही था। वीतरागता के प्रति प्रतिबद्ध होने के कारण यद्यपि उसकी साधना मे शृ गार चेतना तो प्रविष्ट नही हो सकी तथापि भट्टारकवाद की स्थापना उसमे हो ही गई। शुद्ध शृ गार काव्य की रचना के विचार से जैन साहित्य नगण्य-सा है। यद्यपि ऐसे कवि मिलते है, जिन्होने विशुद्ध साहित्यिक दृष्टिकोण से शृंगार रचनाएँ लिखी है तथापि वाद मे वे अपनी लौकिक शृंगारपरक रचनाओ को नष्ट कर आध्यात्मिक काव्य साधना करने लगे[1]। जैन कवियो ने शृ गारमूलक प्रवृत्तियो की कडी आलोचना की। उनका कहना था कि क्या सरस्वती के वरदान का यही फल है? क्या इसका ही नाम काव्य है?

> मास की ग्रथि कुच कचन-कलश कहे,
> कहे मुख चन्द्र जो सलेषमा को घरु है।
> हाड के दशन आहि हीरा मोती कहे ताहि,
> मास के अधर ओठ कहे बिम्बफरु है॥
> हाड थभ भुजा कहे कैल नाल काम जुधा,
> हाड ही की थभा जघा कहे रभातरु है।
> यो ही झूठी जुगति बनावै औ कहावै कवि,
> एते पै कहै हमे शारदा का वरु है[2]॥

---

[1] अ० क०, ३०–३१

[2] वीरवाणी : कवि बनारसीदास विशेषाक, ४८

जब रीतिकाल मे वृद्ध कवि भी अपने सफेद बालो को देख कर खेद व्यक्त कर रहे थे[1] और 'रसिकप्रिया' जैसे शृगार काव्य का निर्माण कर रहे थे तब जैन कवि उन्हे संबोधित कर रहे थे .-

बडी नीति लघु नीति करत है, बाय सरत बदबोय भरी।
फोड़ा आदि फुन गुनी मडित, सकल देह मनु रोग दरी ॥

शोणित हाड मास मय मूरत, ता पर रीझत घरी-घरी।
ऐसी नारि निरख कर केशव, 'रसिकप्रिया' तुम कहा करी[2] ॥

नारी और 'रसिकप्रिया' विषयक ऐसे ही सशक्त कथन दादूपथी सुन्दरदासजी ने भी किए है[3]। विष्णोई कवि परमानन्ददासजी वणियाल भी काव्य मे, चाहे वह किसी भी प्रकार का हो, 'हरि नाव' चर्चा ही मुख्य मानते है, शेष कथन तो केवल 'इन्द्रीरत ग्यान' है[4]।

---

[1] "केशव" केशन अस करी जस अरि हू न कराहिं।
चन्द्रवदन मृगलोचनी, बाबा कहि कहि जाहि ॥

[2] ब्रह्मविलास, १८४

[3] (क) रसिक प्रिया रस मजरी, और सिगारहि जानि।
चतुराई करि बहुत विधि, विषै बनाई आनि ॥
विषै बनाई आनि, लगत विषयनि कौ प्यारी।
जागै मदन प्रचण्ड, सराहै नखशिख नारी ॥
ज्यौ रोगी मिष्ठान खाई, रोगहिं बिस्तारै।
सुन्दर यह गति होई, जुतौ रसिकप्रिया धारै ॥
— सुन्दर ग्रन्थावली · द्वितीय खण्ड, ३३९

(ख) सुन्दर ग्रन्थावली : द्वितीय खण्ड, ४३७–४४०
प्रथमखण्ड भूमिका, ९८–१०६

[4] हरिजस कथा साखी कहो, कवत छद सिरळोक।
परमानन्द हरि नाव की, सोभा तीन्यौ लोक ॥
निजपद की नासति करै, कथ इन्द्रीरत ग्यान।
जैसे कूवो नीर विण्य, पढिबो निरफळ जाण्य।
— जाम्भोजी विष्णोई सम्प्रदाय और साहित्य
(जम्भवाणी के पाठ सपादन सहित) : दूसरा भाग, ८५६ व ८६७

उक्त कथन मे उनका उद्देश्य नारी की निन्दा करना नही था किन्तु वासना की आग मे स्वय जल रहे मानवो को और उसी मे न धकेल देने के प्रति सावधान करना था। क्योकि –

राग उदै जग अध भयौ, सहजै सब लोगन लाज गवाई।
सीख विना नर सीखत है, विसनादिक सेवन की सुघराई।।
ता पर और रचै रस काव्य, कहा कहिए तिनकी निठुराई।
अध असूझन की अखियान मे, झौकत है रज राम दुहाई[1] ।।

भगवान नेमिनाथ और राजुल के प्रसग को लेकर शृगार रस की कविताएँ जैन कवियो की भी मिलती है पर उनमे मर्यादा का उल्लघन कही भी देखने को नही मिलता।

जैन साहित्य की मूल प्रेरणा धर्म है। जैन साहित्य ही क्या प्राय सम्पूर्ण मध्ययुगीन भारतीय साहित्य धार्मिक भावना से ओत-प्रोत है। धर्म से साहित्य का अच्छेद्य सम्वन्ध है। साहित्य को धर्म से पृथक् नही किया जा सकता है। धार्मिक साहित्य होने मात्र से कोई रचना साहित्य कोटि से अलग नही की जा सकती[2]। चाहे जिस काल का साहित्य हो उसमे तत्कालीन अवस्था का चित्र अवश्य अकित होगा[3]। साहित्य का वहुत वडा भाग धर्म पर अवलम्वित है। धार्मिक सिद्धातो के आधार पर एव धार्मिक आन्दोलनो के कारण साहित्य के विशिष्ट अङ्गो की उत्पत्ति एव विकास हुआ है[4]।

विद्वानो के ये कथन जैन साहित्य के अतिरिक्त राजस्थान मे उद्भूत अनेक सप्रदायो[5] और उनके कवियो आदि पर भी पूर्णत लागू है। विष्णोई सम्प्रदाय, दादू पथ, निरजनी सम्प्रदाय, चरणदासी सम्प्रदाय और इनके कवियो की भी मूल प्रेरणा धर्म और अध्यात्म है। यहाँ इनमे से कतिपय का नामोल्लेख ही किया जा सकता है, यथा – पदम,

---

[1] जैन शतक, छन्द ६४
[2] हिन्दी साहित्य का आदिकाल, ११
[3] जीवन और साहित्य, ६७
[4] हि० सा० इति० रसाल, १४
[5] राजस्थानी भाषा और साहित्य, २७२–२६४

ऊदोजी नैरण, मेहोजी गोदारा, वील्होजी, कैसोजी, सुरजनदासजी पूनिया, परमानन्ददासजी, (विष्णोई सम्प्रदाय[1]), बखनाजी[2], रज्जबजी[3], बाजिन्दजी[4], सुन्दरदासजी[5], (दादू पथी[6]), तुरसीदास, सेवादास, मनोहरदास, भगवानदास, (निरजनी सम्प्रदाय[7]), तथा सहजोबाई[8], दयाबाई[9], (चरणदासी संप्रदाय[10]) आदि ।

जैन साहित्य मे मानव हितविधायनी अध्यात्मपरक अनेक बहुमूल्य चर्चाएँ है । इन साहित्यकारो ने साहित्य-साधना के माध्यम से धन प्राप्ति का यत्न कभी नही किया और न ही उन्हे लोकेषणा आकर्षित कर सकी । ये लोग राजदरबारो और धनिको की गोष्ठियो से दूर ही रहे, इनकी अपनी अलग आध्यात्मिक गोष्ठियाँ थी, जिन्हे 'सैली' कहा जाता था । इन सैलियो के सदस्यो द्वारा उस युग मे महत्त्वपूर्ण विपुल साहित्य का निर्माण हुआ पर वह साहित्य शातरस प्रधान आध्यात्मिक साहित्य है । इसका तात्पर्य यह नही कि ये लोग सामाजिक समस्याओ के प्रति उदासीन थे । वे तत्कालीन समाज और उसमे आगत विकृतियो से पूर्ण परिचित एव उनके प्रति

---

[1] जाम्भोजी विष्णोई सम्प्रदाय और साहित्य [जम्भवाणी के पाठ-सम्पादन सहित] भाग १–२,
५१२–५२२, ५५८–५७८, ६१९–६३५, ६३९–६८६, ७०१–८२५, तथा ८५७–८८९

[2] बखनाजी की वाणी

[3] रज्जब बानी

[4] पचामृत मे सग्रहीत, वाजिन्द की वाणी

[5] सुन्दर ग्रन्थावली भाग १, २

[6] श्री दादू महाविद्यालय रजत-जयन्ती ग्रथ

[7] (क) मकरन्द, १६३–१७६; (ख) योग प्रवाह मे एतद् विषयक निबन्ध, (ग) श्री महाराज हरिदासजी की वाणी, (घ) निरजनी सम्प्रदाय और सत तुरसीदास निरजनी

[8] सहजोबाई की बानी

[9] दयाबाई की बानी

[10] (क) अलवर क्षेत्र का हिन्दी साहित्य (अप्रकाशित) (वि० स० १७०० से २०००), १३–१८ तथा ९६–१८६
(ख) भक्ति सागर

सजग थे। इन लोगो ने उनके विरुद्ध सशक्त आन्दोलन चलाए। इन सबमे पद्य साहित्य के क्षेत्र मे पडित बनारसीदास का नाम सबसे पहले आता है तथा गद्य साहित्य मे पडित टोडरमल अग्रणी रहे।

इस तरह आलोच्यकाल मे राजनीतिक और साहित्यिक परिस्थितियाँ भी उत्साहवर्द्धक नही थी। राजनीतिक अस्थिरता और साहित्यिक शृंगारिकता दोनो ही अध्यात्मप्रधान शान्तरसपूर्ण साहित्य के निर्माण के अनुकूल वातावरण प्रदान नही करती है। इन दोनो के सकेत पडितजी के साहित्य मे मिल जाते है। यद्यपि ये सकेत अप्रत्यक्ष रूप मे है, जैसे क्रोध के प्रकरण मे निरकुश साम्प्रदायिकता का जिक्र इस प्रकार आता है – "तहाँ क्रोध का उदय होतै पदार्थनि विषै अनिष्टपनौ वा ताका बुरा होना चाहै। कोऊ मदिरादि अचेतन पदार्थ बुरा लागै तब फोरना तोरना इत्यादि रूपकरि वाका बुरा चाहै[1]।

इसी प्रकार 'भगवान रक्षा करता है' इस मान्यता की समीक्षा करते हुए लिखते है – "हम तो प्रत्यक्ष म्लेच्छ मुसलमान आदि अभक्त पुरुपनिकरि भक्त पुरुष पीडित होते देखि व मदिरादिक कौ विघ्न करते देखि पूँछे है कि इहा सहाय न करे है सो शक्ति ही नाही, कि खबर नाही[2]। बहुरि अबहू देखिए है। म्लेच्छ आय भक्तनि कौ उपद्रव करै है, धर्म विध्वस करै है, मूर्ति को विघ्न करै है, सो परमेश्वर कौ ऐसे कार्य का ज्ञान न होय तो सर्वज्ञपनो रहै नाही[3]।"

इस प्रकार पडितजी के चारो ओर विरुद्ध और सघर्ष का वातावरण था। उस समय राजनीति मे अस्थिरता, सप्रदायो मे तनाव, साहित्य मे शृंगार, धर्मक्षेत्र मे भट्टारकवाद, आर्थिक जीवन मे विपमता और समाज मे रूढिवाद – ये सब अपनी चरम सीमा पर थे जो कि आध्यात्मिक चिन्तन मे चट्टान की तरह अडे थे। उन सबसे पडितजी को सघर्ष करना था, उन्होने डट कर किया और प्राणो की बाजी लगा कर किया।

---

[1] मो० मा० प्र०, ५६
[2] वही, १५७
[3] वही, २५०

द्वितीय अध्याय

जीवनवृत्त

व्यक्तित्व

या 'मलजी'[1] भी कहा करते थे। इनका वास्तविक नाम 'टोडरमल' ही है। टोडर और टोडरमल्ल तो छन्दानुरोध के कारण लिखे गए है क्योकि इनके उल्लेख पद्य मे ही प्राप्त होते है। इनके नाम के साथ 'पडित' शब्द का प्रयोग विद्वत्ता के अर्थ मे हुआ है। जैन परम्परा मे 'पडित' शब्द का प्रयोग किसी के भी साथ जातिगत अर्थ मे नही होता है, सर्वत्र पडित शब्द का प्रयोग विद्वत्ता के अर्थ मे ही होता रहा है। आपके नाम के साथ 'आचार्यकल्प' की उपाधि भी लगी मिलती है[2] तथा जैन समाज मे आप 'आचार्यकल्प पडित टोडरमल' के नाम से ही अधिक प्रसिद्ध है। ये रीतिकाल मे अवश्य हुए पर इनका सम्बन्ध रीतिकाव्य से दूर का भी नही है और न यह उपाधि 'काव्यशास्त्रीय आचार्य' की सूचक है। इनका सम्बन्ध तो उन महान दिगम्बराचार्यो से है, जिन्होने जैन साहित्य की वृद्धि मे अभूतपूर्व योगदान किया है। उनके समान सम्मान देने के लिए इन्हे 'आचार्यकल्प' कहा जाता है। इनका काम जैन आचार्यो से किसी भी प्रकार कम नही है, किन्तु जैन परम्परा मे 'आचार्यपद' नग्न दिगम्बर साधु को ही प्राप्त होता है, अत इन्हे आचार्य न कहकर 'आचार्यकल्प' कहा गया है।

जन्मतिथि

पडित टोडरमल की जन्मतिथि के बारे मे कोई स्पष्ट उल्लेख नही मिलता है। पडित चैनसुखदासजी ने उनका जन्म वि० स० १७९७ (सन् १७४० ईस्वी) लिखा है[3] जबकि प० नाथूराम प्रेमी[4] और डॉ० कामताप्रसाद[5] जैन के अनुसार वि० स० १७९३ है। उक्त विद्वानो

---

[1] "दक्षिण देस सू पाच सात और ग्रथ ताडपत्रा विषै कर्णाटी लिपि मैं लिख्या इहा पधारे है, ताकू **मलजी** वाचै है, वाका यथार्थ व्याख्यान करै है।
— इ० वि० पत्रिका, परिशिष्ट १

[2] अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला बम्बई एव सस्ती ग्रन्थमाला दिल्ली से प्रकाशित मोक्षमार्ग प्रकाशक के मुखपृष्ठ पर तथा दि० जैन स्वाध्याय मदिर, सोनगढ से प्रकाशित मोक्षमार्ग प्रकाशक के कवर पृष्ठ पर प० टोडरमल के नाम के आगे 'आचार्यकल्प' की उपाधि लगी हुई है।

[3] वीरवाणी . टोडरमलाक, २९९, २९८, २७७

[4] हि० जै० सा० इति०, ७२

[5] हि० जै० सा० स० इति०, १८७

ने अपने मत की पुष्टि मे कोई विचारणीय प्रमाण प्रस्तुत नही किए है। प० परमानन्द शास्त्री[1] और प० मिलापचद कटारिया[2] का कहना है कि पडितजी का जन्म हर हालत मे वि० स० १७९७ से १५–२० वर्ष पूर्व होना चाहिए।

पडित टोडरमल ने अपनी जन्मतिथि के बारे मे कही कुछ नही लिखा है, किन्तु गोम्मटसार पूजा की जयमाल मे राजा जयसिह के नाम का उल्लेख अवश्य है तथा गोम्मटसार आदि ग्रन्थो की भाषा-टीका बन जाने का भी सकेत है[3]। उक्त आधार पर इस रचना एव भाषाटीकाओ को सवाई जयसिह के राज्यकाल मे विरचित मानने पर ये रचनाएँ वि० स० १८०० के पूर्व की माननी होगी, क्योकि सवाई जयसिह का राज्यकाल वि० स० १८०० तक ही है। यदि उक्त तथ्य को सही माना जाय तो पडित टोडरमल का जन्म इससे २५-३० वर्ष पूर्व अवश्य मानना होगा, क्योकि २५-३० वर्ष की उम्र के पूर्व गोम्मटसारादि ग्रन्थो की भाषाटीका बना पाना सभव नही लगता।

उक्त भाषाटीकाओ को वि०स० १८०० से पूर्व की मानने मे सबसे बडी कठिनाई यह है कि 'सम्यक्ज्ञानचद्रिका प्रशस्ति' मे उक्त ग्रन्थो की भाषाटीका वि० स० १८१८ मे समाप्त होने का स्पष्ट उल्लेख है[4]। अत यह निश्चित है कि गोम्मटसार पूजा वि० स० १८१८ के बाद की रचना है तथा उक्त पूजा की जयमाल एव उसमे राजा जयसिह का उल्लेख प्रामाणिक नही लगते। इस पर विस्तृत विचार तीसरे अध्याय मे उक्त कृति के अनुशीलन मे किया जायगा।

---

[1] सन्मति सन्देश टोडरमल विशेषाक, ८३

[2] सन्मति सन्देश दिसम्बर १९६८, पृ० ५

[3] यह वरणत भये परम्पराय, तिहि मार्ग रची टीका बनाय।
भाषा रचि 'टोडरमल्ल' शुद्ध, सुनि रायमल्ल जैनी विशुद्ध ।।१०।।
जयपुर जयसिह महीपराज, तह जिनधर्मी जन बहुत भाज।
यह बनी विशद जयमाल जैन, पहिरै परमानद भव्य चैन ।।११।।

[4] सवत्सर अष्टादश युक्त, अष्टादशशत लौकिक युक्त।
माघशुक्ल पचमि दिन होत, भयो ग्रन्थ पूरन उद्योत ।।

दि० जैन बडा मदिर तेरापथियान, जयपुर मे प्राप्त भूधरदास के चर्चा-समाधान नामक हस्तलिखित ग्रथ पर आसोज कृष्णा ५ विक्रम सवत् १८१५ के एक उल्लेख से पता चलता है कि वि० स० १८१५ के पूर्व पडित टोडरमल उक्त ग्रन्थो की साठ हजार श्लोक प्रमाण टीका लिख चुके थे एव महान विद्वान् के रूप मे प्रतिष्ठित हो चुके थे[1]। ऐसा लगता है कि वि० सवत् १८१५ व १८१८ के बीच के तीन वर्ष सशोधनादि कार्य मे लगे होगे। ब्र० रायमल के अनुसार उक्त टीकाओ को बनाने मे तीन वर्ष का समय लगा[2]। इससे सिद्ध होता है कि वि० स० १८१२ मे इन महान ग्रन्थो की टीका का कार्य प्रारम्भ हो गया था।

ब्र० रायमल व्यक्तिगत रूप से पडित टोडरमल के सम्पर्क मे सिघाणा मे ही आए किन्तु पडितजी की विद्वत्ता व कीर्ति से वे कम से कम उससे ३-४ वर्ष पहले परिचित हो चुके थे। वे लिखते है –

"पीछै केताइक दिन रहि टोडरमल जैपुर के साहूकार का पुत्र ताकै विशेष ज्ञान जानि वासू मिलने के अर्थि जैपुर नगरि आए। सो इहा वाकू नही पाया। अर एक बसीधर······तासू मिले। पीछै वानै छोडि आगरै गए। उहा स्याहगज विषै भूधरमल्ल साहूकार······ वासू मिलि फेरि जैपुर पाछा आए। पीछै सेखावाटी विषै सिघाणा नग्र तहा टोडरमल्लजी एक दिली का बडा साहूकार साधर्मी ताकै समीप कर्मकार्य कै अर्थि वहा रहै, तहा हम गए अर टोडरमलजी सू मिले, नाना प्रकार के प्रश्न कीए। ताका उत्तर एक गोमट्टसार नामा ग्रथ की साखि सू देते भए। ता ग्रथ की महिमा हम पूर्वे सुणी थी तासू विशेष देखी। अर टोडरमल्लजी का ज्ञान की महिमा अद्भुत देखी। पीछै उनसू हम कही – तुम्हारै या ग्रथा का परचै निर्मल भया है। तुम करि याकी भाषा टीका होय तौ घणा जीवा का कल्याण होइ ····[3]।"

---

[1] जीवन पत्रिका, परिशिष्ट १

[2] वही

[3] वही

श्री दि० जैन मंदिर (बडा धडा), अजमेर में प्राप्त, वि० स० १७९३ मे लिपिबद्ध, 'सामुद्रिक पुरुष लक्षण' नामक हस्तलिखित ग्रन्थ का अतिम पृष्ठ

इस कथन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ब्र० रायमल विक्रम सवत् १८१२ मे उक्त टीका आरभ होने के ३-४ वर्ष पूर्व अर्थात् विक्रम सवत् १८०८-६ से पडित टोडरमलजी से मिलने के लिए अत्यन्त उत्सुक व प्रयत्नशील थे। तात्पर्य यह कि पडितजी तब तक बहुचर्चित विद्वान् हो चुके थे। इस तथ्य की पुष्टि उनकी प्रथम कृति 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी' से भी होती है। यह चिट्ठी वि० सवत् १८११ मे लिखी गई थी। उसकी शैली, प्रौढता एव उसमे प्रतिपादित गभीर तत्त्वचितन देखकर प्रतीत होता है कि वे उस समय तक बहुश्रुत विद्वान् एव तात्त्विक-विवेचक के रूप मे प्रतिष्ठित हो चुके थे। दूर-दूर के लोग उनसे शका-समाधान किया करते थे।

यातायात-साधनो से विहीन उस युग मे सुदूरवर्ती प्रदेशो मे उनकी प्रसिद्धि एव गोम्मटसारादि ग्रन्थो का तलस्पर्शी ज्ञान, उनकी प्रौढता को सिद्ध करता है। वे उस समय ३५-३६ वर्ष से कम किसी हालत मे नही रहे होगे।

अजमेर के बडे धडे के दिगम्बर जैन मदिर के शास्त्र-भण्डार मे वि० सवत् १७६३ का एक हस्तलिखित 'सामुद्रिक पुरुष लक्षण' नामक ग्रन्थ है। इसमे लिखा है – यह ग्रन्थ शनिवार भाद्रपद शुक्ला ४ वि० सवत् १७६३ को जोबनेर मे 'पडितोत्तम पडितप्रवर पडितजी श्री टोडरमलजी' के पढने के लिए लिखा गया है।

उक्त कथन मे पडित टोडरमल के नाम का सम्मान के साथ उल्लेख है। यदि वह इन्ही पडित टोडरमल के बारे मे है, तो स्वयसिद्ध है कि वि० सवत् १७६३ तक वे पडितोत्तम व पडितप्रवर के रूप मे ख्याति प्राप्त कर चुके थे। सभावना भी यही है क्योकि उस समय इतनी प्रसिद्धि प्राप्त कोई अन्य टोडरमल नही हुए है। उक्त स्थिति मे पडितजी का जन्म वि० स० १७६३ से कम से कम १७-१८ वर्ष पूर्व का अवश्य मानना होगा। यह कहना कोई अर्थ नही रखता कि 'सामुद्रिक पुरुष लक्षण' ग्रन्थ से इन आध्यात्मिक रुचि वाले विद्वान् को क्या प्रयोजन ? क्योकि उनकी रचनाओ मे जगह-जगह वैद्यक, ज्योतिष, काव्यशास्त्र आदि के अनेक उल्लेखो के साथ-साथ काम-शास्त्र

तक के उल्लेख मिलते है। उन्होने काम-विकार का वर्णन करते हुए रस-ग्रन्थो मे वर्णित काम की दश दशाओ का व वैद्यक-शास्त्रो मे वर्णित ज्वर के भेदो मे काम-ज्वर तक की चर्चा की है[१]। अत: सिद्ध है कि उनका अध्ययन सर्वागीण था और हो सकता है कि उन्होने उक्त ग्रथ का भी अध्ययन किया हो।

ब्र० रायमल ने गोम्मटसार ग्रन्थ की टीका करने की प्रेरणा देते समय कहा था कि "आयु का भरोसा नाही"[२] एव इन्द्रध्वज विधान महोत्सव पत्रिका मे लिखा है कि "और पाच-सात ग्रन्था की टीका बणायवे का उपाय है सो आयु की अधिकता हूवा बणैगा[३]।" ये शब्द ४०-४५ वर्ष से कम उम्र वाले व्यक्ति के लिए कहे जाना सभव नही है।

इन्ही ब्र० रायमल द्वारा विरचित चर्चा-सग्रह की एक प्रति अलीगज (जिला ऐटा – उ० प्र०) मे प्राप्त हुई है। इस हस्तलिखित प्रति के लिपिकार श्री उजागरदास है व इसको उन्होने अलीगज मे ही मार्गशीर्ष शुक्ला पचमी, रविवार, वि० सवत् १८५४ को पूर्ण की है – ऐसा ग्रन्थ के अन्त मे लिखा है। ११,२०० श्लोकप्रमाण[४] के इस ग्रन्थ के पृष्ठ १७३ पर पडित टोडरमल की चर्चा करते हुए उनका निधन ४७ वर्ष की आयु पूर्ण करने के उपरात होना लिखा है। उक्त उल्लेख इस प्रकार है –

"बहुरि बारा हजार त्रिलोकसारजी की टीका वा बारा हजार मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थ अनेक शास्त्रा के अनुस्वारि अर आत्मानुसासनजी की टीका हजार तीन या तीना ग्रन्था की टीका भी टोडरमल्लजी सैंतालीस वरस की आयु पूर्ण करि परलोक विषै गमन की।"

---

[१] मो० मा० प्र०, ७६

[२] जीवन पत्रिका, परिशिष्ट १

[३] इ० वि० पत्रिका, परिशिष्ट १

[४] चरचा सग्रह ग्रन्थ की सख्या करी सुजान।
एकादश हजार है द्वै सै ऊपर मान॥

उपर्युक्त सभी तथ्यो की गवेषणा के बाद मेरा निश्चित मत है कि पडित टोडरमल का जन्म वि० सवत् १७७६-७७ मे हुआ और मृत्यु समय उनकी आयु ४७ वर्ष की थी।

जन्मस्थान

पडित टोडरमल की जन्मतिथि के समान जन्मस्थान के सम्बन्ध मे भी कोई स्पष्ट उल्लेख नही मिलता, परन्तु ब्र० रायमल ने उन्हे जयपुर के साहूकार का पुत्र बताया है[1] तथा 'शान्तिनाथ पुराण वचनिका प्रशस्ति' मे प० सेवारामजी ने उन्हे जयपुर का वासी लिखा है –

"वासी श्री जयपुर तनौ टोडरमल्ल क्रिपाल।"

अत यह तो प्रमाणित है कि उनके जीवन का अधिकाश भाग जयपुर मे ही बीता। उन्होने स्वय लिखा है –

देश ढूढारह माहि महान, नगर सवाई जयपुर जान।
तामे ताकौ रहनौ घनो, थोरो रहनो औठे बनो[2] ॥

उक्त छन्द मे पडितजी ने कुछ समय के लिए जयपुर के बाहर रहना भी स्वीकार किया है जो उनके सिघाणा प्रवास की ओर इगित करता है। ब्र० रायमल ने उनके सिघाणा निवास की चर्चा अपनी जीवन पत्रिका मे स्पष्ट रूप से की है। जहा तक उनके जन्म-स्थान का प्रश्न है, वह तो जयपुर मे होना सभव नही लगता, क्योकि उस समय जयपुर बसा ही नही था। जयपुर का निर्माण वि० सवत् १७८४ मे हुआ है।

मृत्यु

पडित टोडरमल की मृत्यु जयपुर मे ही हुई। उनके अपूर्ण टीकाग्रन्थ 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' की भाषाटीका विक्रम सवत् १८२७ मे पूर्ण करनेवाले पडित दौलतराम कासलीवाल ने उसकी प्रशस्ति मे इसका स्पष्ट उल्लेख किया है,[3] पर कब और कैसे के सबध मे वे

---

[1] जीवन पत्रिका, परिशिष्ट १

[2] स० च० प्र०

[3] "वे तो परभव कू गये, जयपुर नगर मझारि।"

एकदम मौन है। वे राजकर्मचारी थे[1], अत उन्होने राजकीय अविवेक से हुई उनकी असामयिक मृत्यु के सम्बन्ध मे कुछ भी लिखना ठीक न समझा होगा क्योकि यह तो सभव नही है कि उन्हे उक्त काण्ड की जानकारी ही न हो, जब कि वि० स० १८२७ मे ही पडित बखतराम शाह ने 'बुद्धि विलास' समाप्त किया था और उन्होने उसमे पडित टोडरमल को दिये गए मृत्युदण्ड का विस्तृत वर्णन किया है। बखतराम शाह के अनुसार कुछ मताध लोगो द्वारा लगाये गए शिवपिण्डी को उखाडने के आरोप के सदर्भ मे राजा द्वारा सभी श्रावको को कैद कर लिया गया था और तेरापथियो के गुरु, महान धर्मात्मा, महापुरुष, पडित टोडरमल को मृत्युदण्ड दिया गया था। दुष्टो के भडकाने मे आकर राजा ने उन्हे मात्र प्राणदण्ड ही नही दिया बल्कि गदगी मे गडवा दिया था[2]। यह भी कहा जाता है कि उन्हे हाथी के पैर के नीचे कुचला कर मारा गया था[3]।

विक्रम की उन्नीसवी शती के पूर्वार्द्ध मे जयपुर मे तीन बार साम्प्रदायिक उपद्रव हुए। प्रथम विक्रम सवत् १८१८ मे व तृतीय

---

[1] "भृत्य भूप को कुल वणिक, जाको बसवो धाम।"
— पु० भा० टी० प्र०

[2] "तब ब्राह्मणनु मतौ यह कियौ, सिव उठान कौ टौना दियौ।
तामैं सबै श्रावगी कैद, करिकै दड किए नृप फैद[1] ॥१३०३॥
यक[1] तेरह पथिनु मैं[2] ध्रमी[3], हो तौ महा जोग्य साहिमी[4]।
कहै खलनि कै नृप रिसि ताहि, हति कै धर्‌यौ असुचि थल वाहि[5] ॥१३०४॥"
— बु० वि०

पाठान्तर — १३०३—(१) तामैं सबै श्रावगी कैद,
डड कियो नृप करिकै फैद।
१३०४—(१) गुरु (२) कौ (३) ध्रमी
(४) टोडरमल्ल नाम साहिमी
(५) ताहि भूप मार्‌यौ पल माहि,
गाड्‌यौ मद्धि गदगी ताहि ॥

[3] (क) वीरवाणी टोडरमलाक, २८५-२८६
(ख) हि० सा० द्वि० ख०, ५००

वि० स० १८२६ मे हुआ[1]। द्वितीय इन दोनो के बीच विक्रम सवत् १८२३ या १८२४ मे हुआ था। इसके तिथि सम्बन्धी उल्लेख नही मिलते है। पडित टोडरमल का शोचनीय व दु खद अन्त द्वितीय उपद्रव का ही परिणाम था। इतना तो निश्चित है कि यह उपद्रव राजा माधोसिह के राज्यकाल मे हुआ था[2]। राजा माधोसिह की मृत्यु तिथि चैत्र कृष्णा ३ वि० सवत् १८२४ है[3]। उक्त तिथि के बाद पडितजी की विद्यमानता स्वीकार नही की जा सकती है।

वि० सवत् १८२१ के माघ माह मे होने वाले इन्द्रध्वज विधान महोत्सव मे पडित टोडरमलजी उपस्थित थे[4]। अत वि० सवत् १८२१ के माघ माह और वि० सवत् १८२४ के चैत्र माह के बीच किसी समय पडितजी की मृत्यु हुई होगी।

जयपुर के सागाको के मदिर मे केशरीसिह पाटनी सागाको का एक हस्तलिखित गुटका है, जिसमे निम्नानुसार उल्लेख मिलता है –

"मिती कार्तिक सुदी ५ ने (को) महादेव की पिडि सहैरमाही कछु अमारगी उपाडि नाखि तीह परि राजा रोष करि सुरावग धरम्या परि दड नाख्यौ[5]।"

उक्त उल्लेख के आधार पर उनकी मृत्यु वि० सवत् १८२२-२३ या २४ की कार्तिक सुदी पचमी के आसपास सभव हो सकती है। पर 'ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वती भवन, बम्बई की तृतीय वार्षिक रिपोर्ट और ग्रन्थसूची तथा प्रशस्ति सग्रह' पृ० ७४-७६ पर मुद्रित है कि त्रिलोकसार की एक प्रति श्रावण कृष्णा ४ वि० सवत् १८२३ की लिखी हुई है (इति श्री त्रिलोकसार भाषा टीका पीठबध सम्पूर्ण

---

[1] देखिये प्रस्तुत ग्रथ, ३४-३५

[2] वीरवाणी टोडरमलाक, २८५

[3] राजस्थान का इतिहास, ६५०

[4] इ० वि० पत्रिका, परिशिष्ट १

[5] वीरवाणी टोडरमलाक, २८५

सवत् १८२३ का मिती श्रावण बद ४ दिने एपा पुस्तिका लिपी-कृत्वा ।), जिसमे निम्नानुसार उल्लेख पाया जाता है –

"यह टीका खरडा की नकल उतरी है । मल्लजी कृत पीठबध आदि सम्पूर्ण नही भई है । मूलको अर्थ सम्पूर्ण आय गयौ है । परन्तु सौधि अर मल्लजी को फरि उतरावणी छै । वीछति होवाके वास्ते जेतै खरडा ही उतार लिया है । तिहिस्यौ और परती इहीस्यौ उतरवाज्यौ मती" ।

इससे सिद्ध होता है कि श्रावण कृष्णा ४ वि० स० १८२३ तक पडित टोडरमल विद्यमान थे और उसके बाद उन्होने त्रिलोकसार का सशोधन भी किया । अत यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि पडित टोडरमल की मृत्यु कार्तिक शुक्ला ५ वि० स० १८२३ या २४ के बाद दस-पाच दिन के भीतर ही हुई होगी ।

परिवार

पडितजी के पिता का नाम जोगीदास एव माता का नाम रम्भादेवी था[1] । ये जाति से खडेलवाल थे[2] और गोत्र था गोदीका,

---

[1] "रम्भापति स्तुत गुन जनक, जाको जोगीदास ।
सोई मेरो प्रान है, धारै प्रगट प्रकाश ।।३७।।"

– स० च० प्र०

[2] खण्डेलवाल जाति का इतिहास श्वेताम्बर यति श्रीपालचन्द्र 'जैन सम्प्रदाय शिक्षा' (पृष्ठ ६५६) मे इस प्रकार बताते है – खण्डेलानगर मे सूर्यवशी चौहान खण्डेलगिरि राजा राज्य करता था । उक्त राज्य के अतर्गत ८४ ठिकाने लगते थे । एक समय वहाँ भयकर महामारी का प्रकोप हुआ । हजारो लोग काल-कवलित होने लगे । वहाँ का राजा दिगम्बर आचार्य जिनसेन की शरण मे गया और उनके प्रताप से शान्ति हुई । परिणामस्वरूप राजा ने ८४ ठिकानो के उमरावो सहित जैन धर्म स्वीकार कर लिया । खण्डेला से सम्बन्धित होने से सभी खण्डेलवाल कहलाए । राजा का गोत्र शाह रखा गया तथा बाकी लोगो के गोत्र ग्राम के अनुसार रखे गए ।

जिसे भौसा व बडजात्या भी कहते है[1] । इनके वशज 'ढोलाका' भी कहलाते थे[2] । वे विवाहित थे, लेकिन उनकी पत्नी व ससुराल पक्ष वालो का कही कोई उल्लेख नही मिलता । उनके दो पुत्र थे – हरिचद और गुमानीराम । गुमानीराम उनके ही समान उच्चकोटि के विद्वान् और प्रभावक आध्यात्मिक प्रवक्ता थे । उनके पास बडे-बड़े विद्वान् भी तत्त्व का रहस्य समझने आते थे । घुमक्कड विद्वान् पडित देवीदास गोधा ने 'सिद्धान्तसार टीका प्रशस्ति' मे इसका स्पष्ट उल्लेख किया है[3] । पडित टोडरमल की मृत्यु के उपरान्त वे पडित टोडरमल द्वारा सचालित धार्मिक क्रान्ति के सूत्रधार रहे ।

जैसे – अजमेर निवासी अजमेरा कहलाए । इसी से मिलता-जुलता विवरण पडित लक्ष्मीचन्दजी लश्कर वालो ने अपने लक्ष्मी विलास मे दिया है । वीरवाणी (सन् १९४७-४८) मे श्री राजमल सघी द्वारा लिखित 'खण्डेलवाल जाति की उत्पत्ति का इतिहास' शीर्षक एक लेखमाला क्रमश. कई अको मे प्रकाशित हुई है, उसमे भी इससे मिलता-जुलता वर्णन है ।

[1] विभिन्न जातियो की वशावली को सुरक्षित रखने के लिए अलग-अलग जातियो के अपने भाट, पाटिया, पडे आदि होते हैं । खण्डेलवाल जाति के भी अपने भाट है । उनके अनुसार गोदीका, भौसा, बडजात्या ये तीनो गोत्र एक ही है । इनमे आपस मे शादी-विवाह भी नही होते है । इन तीनो गोत्रो के एक ही होने का दिलचस्प विवरण इस प्रकार है :–

खण्डेलगिरि के राजा का गोत्र 'शाह' और उनके भाई का गोत्र 'भाई शाह' रखा गया था, जो कि बिगडते-बिगडते 'भावसा', फिर 'भौसा' हो गया । भौसा को लोग भैंसा कहकर मजाक उडाने लगे । तब सब ने निर्णय किया कि ये बडी जाति के है, भैसा शब्द अच्छा नही लगता, अत उनका गोत्र 'बडजात्या' कर दिया जाय । तब वे बडजात्या कहलाने लगे । उनमे से कोई किसी की गोद चला गया तो गोद जाने वाले को 'गोदीका' कहने लगे ।

[2] ढोलाका बैंक है, गोत्र नही ।

[3] "…. तथा तिनिके पीछे टोडरमलजी के बडे पुत्र हरीचदजी तिनिते छोटे गुमानीरामजी महाबुद्धिमान वक्ता के लक्षण कू धारै तिनिके पास किछू रहस्य सुनि करि कछू जानपना भया ।"

उनके नाम से एक पथ भी चला जो गुमान-पथ के नाम से जाना जाता है[1]।

शिक्षा और शिक्षागुरु

वे मेधावी और प्रतिभासम्पन्न थे एव सदा अध्ययन, मनन, चितन मे अपना समय सार्थक करते थे। थोडा बहुत समय खाने-खेलने मे गया होगा, उसके लिये उन्होने स्वय खेद व्यक्त किया है[2]। उनकी शिक्षा जयपुर मे ही हुई। स्वय उन्होने अपने गुरु का उल्लेख कही भी नही किया है। अन्यत्र भी स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नही है।

तत्कालीन समाज मे धार्मिक अध्ययन के लिए आज के समान सुव्यवस्थित विद्यालय, महाविद्यालय नही चलते थे। लोग स्वय ही 'सैलियो' के माध्यम से तत्त्वज्ञान प्राप्त करते थे। तत्कालीन समाज मे जो आध्यात्मिक चर्चा करने वाली दैनिक गोष्ठियाँ होती थी, उन्हे सैली कहा जाता था। ये सैलियाँ सम्पूर्ण भारतवर्ष मे यत्रतत्र थी। महाकवि बनारसीदास भी आगरा की एक सैली मे ही शिक्षित हुए थे[3]। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल लिखते है –

"बीकानेर जैनलेख-संग्रह मे अध्यात्मी सम्प्रदाय का उल्लेख भी ध्यान देने योग्य है। वह आगरे के ज्ञानियो की मण्डली थी, जिसे सैली कहते थे। ज्ञात होता है कि अकबर की 'दीने-इलाही' प्रवृत्ति भी इसी प्रकार की आध्यात्मिक खोज का परिणाम थी। बनारस मे भी आध्यात्मियो की एक सैली या मण्डली थी। किसी समय राजा टोडरमल के पुत्र गोवर्धनदास इसके मुखिया थे[4]।"

---

[1] (क) "तेरापथिन मे भी बरस पच्चीसेक सू गुमानीराम भेद थाप्या है।"
– बृ० वि०, १२८

(ख) हि० ग० वि०, १८८

[2] "ऐसौ यह मानुष पर्याय, बधत भयो निज काल गमाय।"
– स० च० प्र०

[3] (क) अ० क० भूमिका, २५
(ख) जैन शोध और समीक्षा, १५१

[4] मध्यकालीन नगरो का सास्कृतिक अध्ययन जैन सदेश शोधाक, जून १६५७

उपनिषद् काल से ही भारतवर्ष मे इस तरह की परिषदो या स्वाध्याय-मण्डलो का उल्लेख मिलता है। यह आलोच्य युग की सैली भी उन्ही का विकसित और परिवर्द्धित रूप जान पडता है[1]।

पडितप्रवर जयचन्द छाबडा ने 'सर्वार्थसिद्धि वचनिका प्रशस्ति' मे जयपुर की तेरापथी सैली मे शिक्षित होने की चर्चा इस प्रकार की है –

"निमित्त पाय जयपुर मे आय, बडी जु सैली देखी भाय।
गुणी लोक साधरमी भले, ज्ञानी पडित बहुते मिले ।।
पहले थे बशीधर नाम, धरै प्रभावन-भाव सुठाम।
'टोडरमल' पडित मतिखरी, 'गोम्मटसार' वचनिका करी ।।
ताकी महिमा सब जन करे, वाचे-पढे वुद्धि विस्तरे।
'दौलतराम' गुणी अधिकाय, पडितराय राज मे जाय ।।
ताकी वुद्धि लसै सब खरी, तीन पुरान वचनिका करी।
'रायमल्ल' त्यागी गृहवास, 'महाराम' व्रत शील निवास ।।
मै हूँ इनकी सगति ठानि, बुद्धि सारू जिनवाणी जानि।
शैली तेरापथ सुपथ, तामे बडे गुणी गुन-ग्रन्थ।
तिनकी सगति मे कछु बोध, पायो मै अध्यातम सोध ।।

पडित टोडरमल ने भी जयपुर की सैली मे ही शिक्षा प्राप्त की थी। उन्होने वाद मे उक्त सैली का सफल सचालन भी किया। उनके पूर्व बाबा बशीधरजी उक्त सैली के सचालक थे। वे पुरुषो, महिलाओ और बच्चो को धार्मिक शिक्षा के साथ-साथ न्याय, व्याकरण, छद,

---

[1] "इन लोगो ने अपने विचारो के अनुयायी राष्ट्रो मे परिपदे स्थापित की थी और व्रात्य-सघो के सदृश ही इनके भी स्वाध्याय-मण्डल थे, जो व्रात्य-सघो से पीछे के नही, अपितु पहले के थे।"

– काव्य और कला तथा अन्य निवन्ध, ५३

अलकार, काव्य आदि विषय भी पढाते थे[१]। अत सभावना यही है कि उनके शिक्षागुरु बाबा बशीधर ही रहे होगे। उक्त सैलियो मे विधिवत् निर्वाचित नेता कोई नही होता था। प्राय तत्त्वप्रेमी बराबरी के रूप मे रहते थे, किन्तु विद्वान् और प्रामाणिक वक्ता के रूप मे कुछ व्यक्तित्व स्वय उभर आते थे और उनके निर्देश मे गोष्ठियाँ सचालित होने लगती थी। अत नेतृत्व या गुरु-शिष्य परम्परा सम्बन्धी कोई उल्लेख मिलना सभव नही है। जो भी कथन मिलते है वे सामान्य रूप से सैलियो के मिलते है। यही कारण है कि प० टोडरमल ने व्यक्ति विशेष का गुरु रूप मे उल्लेख नही किया तथा उनसे ज्ञान लाभ लेने वालो ने भी उनका सीधे गुरु रूप मे स्मरण न कर सैली मे प्रमुख वक्ता एव लेखक के रूप मे उल्लेख किया है तथा सैली मे आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त करने के उल्लेख किए है। 'रत्नकरण्डश्रावकाचार भाषा वचनिका प्रशस्ति' मे प० सदासुखदास कासलीवाल लिखते है –

> गोत कासलीवाल है, नाम सदासुख जास।
> सैली तेरापथ मे, करे जु ज्ञान अभ्यास ॥११॥

गूढ तत्त्वो के तो प० टोडरमल स्वयबुद्ध ज्ञाता थे। 'लब्धिसार' व 'क्षपणासार' की सदृष्टियाँ आरम्भ करते हुए वे स्वय लिखते है, "शास्त्र विषै लिख्या नाही और बतावने वाला मिल्या नाही।"

कन्नड भाषा और लिपि का ज्ञान एव अभ्यास भी उन्होने स्वय किया। उसमे अध्यापको के सहयोग की सम्भावना भी नही की जा सकती है क्योकि उस समय उत्तर भारत मे कन्नड के अध्यापन की

---

[१] (क) "अर एक बसीधर किंचित् सजम का धारक विशेष व्याकरणादि जैनमत के शास्त्रा का पाठी, सौ-पचास लडका-पुरुष-बाया जानषै व्याकरण, छन्द, अलकार काव्य चरचा पढै तासू मिले।"

– जीवन पत्रिका, परिशिष्ट १

(ख) "अर अबै वर्तमान काल विषै बाबा बसीधरजी व मलजी साहिब ये दोय सैलीनि विषै मुख्य है।"

– टो० ज० स्मा०, ४

व्यवस्था दुस्साध्य कार्य था। कन्नड एक कठिन लिपि है, द्राविड परिवार की सभी लिपियाँ कठिन है। उसको किसी की सहायता के विना सीखना और भी कठिन था पर उन्होने उसका अभ्यास कर लिया और साधारण अभ्यास नही – वे कन्नड भाषा के ग्रन्थो पर व्याख्यान करते थे एव उन्हे कन्नड लिपि मे लिख भी लेते थे। ब्र० रायमल ने लिखा है, "दक्षिण देस सू पाच-सात और ग्रथ ताडपत्रा विषै कर्णाटी लिपि मै लिख्या इहा पधारे है, ताकू मलजी बाचै है, वाका यथार्थ व्याख्यान करै है वा कर्णाटी लिपि मै लिखि लेहै[1]।"

व्यवसाय

उनकी आर्थिक स्थिति साधारण थी। उनको अपनी आजीविका के लिये जयपुर छोडकर सिघाणा जाना पडा था। सिघाणा जयपुर के पश्चिम मे करीव १५० किलोमीटर दूर वर्तमान खेतडी प्रोजेक्ट के पास स्थित है। वहाँ भी उनका कोई स्वतत्र व्यवसाय नही था। वे दिल्ली के एक साहूकार के यहाँ कार्य करते थे[2] और निश्चित रूप से वे वहा चार-पाँच वर्ष से कम नही रहे।

उनके व्यवसाय और आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध मे कुछ भ्रान्तियाँ प्रचलित है। कहा जाता है कि वे आर्थिक दृष्टि से बहुत सम्पन्न थे। उनको पढाने के लिए बनारस से विद्वान् बुलाया गया था[3]। उनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर उनके अध्ययन की व्यवस्था अमरचदजी दीवान ने की थी। दीवान अमरचदजी के कारण उनको राज्य मे सम्माननीय पद प्राप्त था[4]। इस राजकर्मचारी पद से राज्य और प्रजा के हित के उन्होने अनेक कार्य किए[5]। उनका प्रखर पाण्डित्य

---

[1] इ० वि० पत्रिका, परिशिष्ट १

[2] "पीछै सेखावाटी विषै सिघाणा नग्र तहा टोडरमल्लजी एक दिली का वडा साहूकार साधर्मी ताकै समीप कर्मकार्य के अर्थि वहा रहै, तहा हम गए अर टोडरमलजी सू मिले।" – जीवन पत्रिका, परिशिष्ट १

[3] सन्मति सन्देश टोडरमल विशेषाक, वर्ष १० अक ५, पृ० ७२

[4] हि० सा० स० इति०, १८५, १८६

[5] (क) वही, १८८
(ख) रहस्यपूर्ण चिट्ठी की भूमिका, ६-१०

राज्य की विद्वत्परिषद् को अखरने लगा और कई बार पराजित होने से वे उन पर द्वेषभाव रखने लगे[१] ।

यह बात सम्भव नही है कि जिस व्यक्ति को उस युग मे – जब कि कोई व्यक्ति घर से बाहर जाना पसन्द नही करता था और यातायात के समुचित साधन उपलब्ध नही थे – अपनी अल्पवय मे आजीविका के लिये बाहर जाना पडा हो, वह आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न रहा होगा और वह भी इतना कि उसकी शिक्षा के लिए उसके माता-पिता बनारस से विद्वान् बुला सकने की स्थिति मे हो ।

दूसरे यह भी सभव नही कि दीवान अमरचन्दजी ने उनके पढाने की व्यवस्था की हो या उन्हे राज्य मे कोई अच्छा पद दिलाया हो क्योकि प० टोडरमल के दिवगत होने तक अमरचन्दजी दीवान-पद पर प्रतिष्ठित नही हुए थे । पडितजी के राजकर्मचारी पद से राजा और प्रजा के हित मे अनेक कार्य करने की बात निरी कल्पना ही लगती है । न तो लेखक ने इसके सबध मे कोई प्रमाण ही प्रस्तुत किया है और न इस सबध मे अन्य कोई जानकारी उपलब्ध है । राजा की विद्वत्परिषद् मे जाने एव वहाँ वाद-विवाद करने के कोई उल्लेख नही मिलते और न यह सब उनकी प्रकृति के अनुकूल ही था ।

अध्ययन और जीवन

पडितजी का अध्ययन विस्तृत और गभीर था । वे थोडे ही समय मे न्याय, व्याकरण, छन्द, अलकार, गणित आदि विषयो एव प्राकृत सस्कृत भाषा के विद्वान हो गए थे तथा जैन-सिद्धान्त और अध्यात्म का गहन अभ्यास उन्होने कर लिया था । ब्र० रायमल ने उनके विषय मे लिखा है –

"ढूढाड देश विषै सवाई जैपुर नगर ता विषै तेरापथ्या का देहरा विषै टोडरमल्लजी वडे पुण्यवान श्रेष्टी अवर्तसम्यकदृष्टी न्याय

---

[१] मोक्षमार्ग प्रकाशक अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला बम्बई, भूमिका, २३

व्याकरण छद अलकार गणित आदि शास्त्र के पारगामी विशेष तत्वज्ञानी आतमअनुभवी बडे अध्यात्मी[१]...... ।"

वे स्वय लिखते है –

"हमारे पूर्व सस्कार तै वा भला होनहार तै जैन शास्त्रनिविषै अभ्यास करने का उद्यम होत भया। तातै व्याकरण, न्याय, गणित, आदि उपयोगी ग्रन्थनि का किंचित् अभ्यास करि टीकासहित समयसार, पचास्तिकाय, प्रवचनसार, नियमसार, गोमट्टसार, लब्धिसार, त्रिलोकसार, तत्त्वार्थसूत्र इत्यादि शास्त्र अर क्षपणासार, पुरुपार्थ-सिद्ध्युपाय, अष्टपाहुड, आत्मानुशासन आदि शास्त्र अर श्रावक मुनि का आचार के प्ररूपक अनेक शास्त्र अर सुस्ठुकथा सहित पुराणादि शास्त्र इत्यादि अनेक शास्त्र है तिनि विषै हमारै बुद्धि अनुसारि अभ्यास वर्तै है[२] ।"

जैन दर्शन के साथ-साथ आपको समस्त भारतीय दर्शनो का अध्ययन भी था। मोक्षमार्ग प्रकाशक के पाँचवे अधिकार मे प्रयुक्त अनेको भारतीय दर्शन-ग्रन्थो के उद्धरण इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। प्राकृत, सस्कृत और हिन्दी भाषा के तो वे विशेष विद्वान् थे ही, साथ ही कन्नड भाषा और लिपि का भी उन्हे अभ्यास था। प्राकृत और सस्कृत के गभीर ग्रन्थो की टीकाएँ तो उन्होने जनभाषा मे लिखी ही है, कन्नड ग्रन्थो पर भी उन्होने जयपुर की जैन सभाओ मे प्रवचन दिए थे[३] ।

गार्हस्थ जीवन व्यतीत करते हुए भी उनकी वृत्ति सात्विक, निरीह एव साधुता की प्रतीक थी।[४] उनका जीवन आध्यात्मिक जीवन था। उनका अध्ययन, मनन, पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिए नही,

---

[१] देखिये प्रस्तुत ग्रथ, ५१–५२

[२] मो० मा० प्र०, १६–१७

[३] इ० वि० पत्रिका, परिशिष्ट १

[४] "भापाटीका ता उपरि, कीनी टोडरमल्ल।
मुनिवत वृत्ति ताकी रहे, वाके माहि अचल्ल ।।"
—पु० भा० टी० प्र०, १२६

वरन् अपने दोषो को दूर कर जीवन को परम पवित्र बनाने के लिए था। मोक्षमार्ग प्रकाशक मे अनेक प्रकार के मिथ्यादृष्टियो (अज्ञानियो) का वर्णन करने के उपरान्त वे लिखते है –

"यहाँ नाना प्रकार मिथ्यादृष्टीनि का कथन किया है। याका प्रयोजन यह जानना, जो इन प्रकारनिकौ पहिचानि आपविषै ऐसा दोष होय तौ ताकौ दूर करि सम्यक्श्रद्धानी होना। औरतिही के ऐसे दोष देखि कषायी न होना। जातै अपना भला बुरा तौ अपने परिणामनि तै हो है। औरनिकौ तो रुचिवान देखिए, तो किछू उपदेश देय वाका भी भला कीजिए। तातै अपने परिणाम सुधारने का उपाय करना योग्य है[१]।"

कार्यक्षेत्र और प्रचार कार्य

आत्मस्वरूप की प्राप्ति[२] और आध्यात्मिक तत्त्व-प्रचार ही उनका एकमात्र लक्ष्य था। लौकिक कार्यो मे आपकी कोई रुचि न थी। साहित्य निर्माण तो तत्त्व-प्रचार का माध्यम था[३]। यही कारण है कि आप अपने जीवन का अधिकाश समय स्वानुभव प्राप्ति के यत्न और शास्त्राध्ययन, मनन, चिन्तन, लेखन, तत्त्वोपदेश एव तत्सम्बन्धी साहित्य-निर्माण मे ही लगाते थे। अपने पाठको और श्रोताओ को भी निरन्तर इसी की प्रेरणा दिया करते थे[४]। वे सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका की पीठिका मे लिखते है –

"परन्तु अभ्यासविषै आलसी न होना। देखो, शास्त्राभ्यास की महिमा जाकौ होतै परम्परा आत्मानुभव दशा कौ प्राप्त होइ। सो मोक्षमार्ग रूप फल निपजै है, सो तौ दूर ही तिष्ठौ, तत्काल ही इतने गुण हो है, क्रोधादि कषायनि की तौ मदता हो है, पचेन्द्रियनि की विषयनि विषै प्रवृत्ति रुकै है, अति चचल मन भी एकाग्र हो है, हिसादि पच पाप न प्रवर्त्तै है" ।

---

[१] मो० मा० प्र०, ३९२

[२] क्षपणासार भाषाटीका, अन्तिम वाक्य

[३] मो० मा० प्र०, २९–३०

[४] रहस्यपूर्ण चिट्ठी

यद्यपि उनके जीवन का अधिकाश समय जयपुर और सिघाणा मे ही बीता था तथापि उनके द्वारा अध्यात्म-तत्त्व का प्रचार सुदूरवर्ती क्षेत्रो मे भी हुआ था।[१] दूर-दूर से लोग उनसे चर्चा करने आते और उनसे अपनी शकाओ का समाधान प्राप्त कर अपने को कृतार्थ मानते थे। साधर्मी भाई ब्र० रायमल शाहपुरा से उनसे मिलने सिघाणा गए तथा उनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर तीन वर्ष तक वही तत्त्वाभ्यास करते रहे। जो व्यक्ति उनके पास न आ सकते थे, वे पत्र-व्यवहार द्वारा अपनी शकाओ का समाधान किया करते थे[२]। इस सदर्भ मे मुलतान वालो की शकाओ के समाधान मे लिखा गया पत्र अपने आप मे एक ग्रन्थ[३] बन गया है। 'शान्तिनाथ पुराण वचनिकाकार' प० सेवाराम[४] और गभीर न्याय सिद्धान्त-ग्रन्थो के टीकाकार प० जयचन्दजी छावडा[५] जैसे कई बडे-बडे विद्वान् भी आपके द्वारा सुपथ मे लगे थे एव कई विद्वानो ने आपसे प्रेरणा पाकर अपना जीवन माँ सरस्वती की सेवा में समर्पित कर दिया था।

उनकी आत्मसाधना और तत्त्वप्रचार का कार्य सुनियोजित एव सुव्यवस्थित था। मुद्रण की सुविधा न होने से तत्सम्बन्धी अभाव की पूर्ति हेतु दश-बारह सवैतनिक कुशल लिपिकार शास्त्रो की प्रतिलिपियाँ करते रहते थे। पण्डित टोडरमल का व्याख्यान सुनने उनकी

---

[१] "देश ढुढारह आदि दे, सम्बोधे बहु देश।
रचि-रचि ग्रन्थ कठिन किए, टोडरमल्ल महेश॥"
— शा० पु० ब० प्र०

[२] "देश-देश का प्रश्न यहा आवै तिनका समाधान होय उहा पहुचे"।
— जीवन पत्रिका, परिशिष्ट १

[३] 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी' जिसका विस्तृत परिचय तीसरे अध्याय मे दिया गया है।

[४] "वासी श्री जयपुर तनो, टोडरमल्ल क्रिपाल।
ता प्रसग को पायकै, गह्यौ सुपथ विशाल॥
तिनही को उपदेश लहि, सेवाराम समान।
रच्यो ग्रन्थ शुभकीर्ति को, बडे हर्ष अधिकान॥"
—शा० पु० ब० प्र०

[५] सर्वार्थसिद्धि बचनिका प्रशस्ति

शास्त्रसभा मे हजार-बारह सौ स्त्री-पुरुष प्रति दिन आते थे। बालक-बालिकाओ एव प्रौढ पुरुष एव महिला वर्ग के धार्मिक अध्ययन-अध्यापन की पूरी-पूरी व्यवस्था थी। उक्त सभी व्यवस्था की चर्चा ब्र० रायमल ने विस्तार से की है[1]।

उनका कार्यक्षेत्र सम्पूर्ण भारतवर्ष था। उनका प्रचार कार्य ठोस था। यद्यपि उस समय यातायात की कोई सुविधाएँ नही थी, तथापि उन्होने दक्षिण भारत मे समुद्र के किनारे तक धवलादि सिद्धान्त-शास्त्रो की प्राप्ति के लिए प्रयत्न किया था। उक्त सदर्भ मे ब्र० रायमल लिखते है, "और दोय-च्यार भाई धवल, महाधवल, जयधवल लेने कू दक्षिण देशविषै जैनबद्रीनगर वा समुद्र ताई गये थे[2]।"

बहुत परेशानी उठाने के बाद भी, यहाँ तक कि एक व्यक्ति की जान भी चली गई, उन्हे उक्त शास्त्र प्राप्त करने मे सफलता नही मिली, किन्तु उन्होने प्रयास करना नही छोडा। ब्र० रायमल इसी सदर्भ मे आगे लिखते है –

"तातै ई देश मै सिद्धान्ता का आगमन हूवा नाही। रुपया हजार दोय २०००) पाच-सात आदम्या कै जावै आवै खरचि पड्या। एक साधर्मी डालूराम की उहा ही पर्याय पूरी हुई। · · बहुरि या बात के उपाय करने मै बरस च्यारि पाच लागा। पाच विश्वा औरू भी उपाय वर्तै है। औरगाबाद सू सौ कोस परै एक मलयखेडा है तहा भी तीनू सिद्धान्त बिराजै है। · · मलयखेडा सू सिद्धान्त मगायवे का उपाय है सो देखिए ए कार्य बणने विषै कठिनता विशेष है"[3]।

सम्पर्क और साहचर्य

पण्डित टोडरमल के अद्वितीय सहयोगी थे साधर्मी भाई ब्र० रायमल जिन्होने अपना जीवन तत्त्वाभ्यास और तत्त्वप्रचार के लिए ही समर्पित कर दिया था। उनकी प्रेरणा से ही प० टोडरमल ने

---

[1] जीवन पत्रिका, परिशिष्ट १

[2] इ० वि० पत्रिका, परिशिष्ट १

[3] वही

श्री दि० जैन मंदिर भदीचंदजी, घी वालो का रास्ता, जयपुर मे उपलब्ध, साधर्मी भाई ब्र० रायमल द्वारा लिखित 'जीवन पत्रिका' व 'इन्द्रध्वज विधान महोत्सव पत्रिका' की मूल प्रति का क्रमश. अंतिम व प्रथम पृष्ठ

गोम्मटसारादि ग्रन्थो की टीका बनाई थी[1]। जब ये दोनो "मल्ल" (टोडरमल और रायमल) तत्त्वप्रचार के अखाडे मे उतरकर आए तो फिर और मल्लो की आवश्यकता ही नही रही थी[2]।

इन दोनो महानुभावो ने मात्र ग्रन्थो की रचनाएँ ही नही की, वरन् उन्हे पढाया, उन पर प्रवचन दिए[3], उनकी वहुत सी प्रतिलिपियाँ कराई और जहाँ-जहाँ आवश्यकता समझी, पहुँचाई[4]। इस प्रकार उन्होने सर्वत्र आध्यात्मिक वातावरण बना दिया।

सिंघाणा से जयपुर लौटने के वाद तत्कालीन जयपुर नरेश माधोसिह के दीवान रतनचद और बालचद छावड़ा उनके सम्पर्क मे आए। वे उनकी दैनिक सभा के श्रोता थे। पं० टोडरमल के सान्निध्य मे वर्तमान मे राजस्थान की राजधानी गुलावी नगर जयपुर मे वि० स० १८२१ मे 'इन्द्रध्वज विधान महोत्सव' नामक विशाल उत्सव का सफल सचालन दीवान रतनचदजी एव दीवान बालचदजी छाबडा ने ही किया था[5]। दीवान रतनचदजी की पडित टोडरमलजी के प्रति

---

[1] "रायमल्ल साधर्मी एक, धर्म सधैया सहित विवेक।
सो नाना विधि प्रेरक भयो, तव यहु उत्तम कारज थयो॥"
— स० च० प्र०

[2] "वासी श्री जयपुर तनो, टोडरमल्ल क्रिपाल।
पुनि ताके तट दूसरो रायमल्ल वुधराज।
जुगल मल्ल जव ये जुरे, और मल्ल किह काज॥"
— शा० पु० व० प्र०

[3] "सभाविषै गोमट्टसारजी का व्याख्यान होय है। ······ एह व्याख्यान टोडरमल्लजी करै है।"
— इ० वि० पत्रिका, परिशिष्ट १

[4] "तहाँ गोम्मटसारादि च्यारो ग्रथा कू सोधि याकी बहोत प्रति उतराई, जहाँ सैली छी तहाँ-तहाँ सुधाई-सुधाई पधराई।"
— इ० वि० पत्रिका, परिशिष्ट १

[5] "अर दोन्यू दीवान रतनचद व बालचद या कार्य विषै अग्रेसरी हैं।"
— इ० वि० पत्रिका, परिशिष्ट १

अपार श्रद्धा थी। उन्होने पडित टोडरमल की मृत्यु के उपरान्त उनके अपूर्ण टीका ग्रन्थ 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय भाषाटीका' को पूर्ण करने का आग्रह पडित दौलतराम कासलीवाल, जयपुर से किया[1]। उन्ही की प्रेरणा के फलस्वरूप पडित दौलतराम कासलीवाल ने उक्त टीका को विक्रम संवत् १८२७ मे पूर्ण किया।

दीवान रतनचद और बालचद छाबडा के अतिरिक्त उदासीन श्रावक महाराम ओसवाल, अजबराय, त्रिलोकचद पाटनी, त्रिलोकचद सौगाणी, नयनचद पाटनी आदि पडित टोडरमल के सक्रिय सहयोगी एव उनकी दैनिक सभा के श्रोता थे[2]।

प्रमेयरत्नमाला, आप्तमीमांसा, समयसार, अष्टपाहुड, सर्वार्थसिद्धि आदि अनेको गभीर न्याय और सिद्धान्तग्रन्थो के सफल टीकाकार पडितप्रवर जयचद छाबडा[3], आदिपुराण, पद्मपुराण, हरिवशपुराण आदि अनेक पुराणो के लोकप्रिय बचनिकाकार पडित दौलतराम कासलीवाल, गुमानपथ के सस्थापक प० गुमानीराम तथा अत्यन्त उत्साही और घुमक्कड विद्वान् प० देवीदास गोधा[4] ने पडित टोडरमल की सगति से लाभ उठाया था।

---

[1] "आनन्द सुत तिनकौ सखा, नाम जु दौलतराम।
तासूं रतन दीवान ने, कही प्रीति धर एह।
करिए टीका पूरणा, उर धरि धर्म सनेह॥"
—पु० भा० टी० प्र०

[2] "सो टोडरमलजी के श्रोता विशेष बुद्धिमान दीवान रतनचदजी, अजवरायजी, त्रिलोकचदजी पाटनी, महारामजी विशेष चर्चावान ओसवाल क्रियावान उदासीन तथा त्रिलोकचदजी सौगाणी, नयनचदजी पाटनी इत्यादि ....."
— सिद्धान्तसार सग्रह बचनिका प्रशस्ति

[3] सर्वार्थसिद्धि बचनिका प्रशस्ति

[4] सिद्धान्तसार सग्रह बचनिका प्रशस्ति

व्यक्तित्व

पंडित टोडरमल गभीर प्रकृति के आध्यात्मिक महापुरुष थे। वे स्वभाव से सरल, ससार से उदास, धुन के धनी, निरभिमानी, विवेकी, अध्ययनशील, प्रतिभावान, वाह्याडम्बर-विरोधी, दृढश्रद्धानी, क्रातिकारी, सिद्धान्तो की कीमत पर कभी न झुकने वाले, आत्मानुभवी, लोकप्रिय प्रवचनकार, सिद्धान्त-ग्रन्थो के सफल टीकाकार एव परोपकारी महामानव थे।

उनका जीवन आध्यात्मिक था। वे अपने दैनिक पत्र-व्यवहार मे भी लोगो को आध्यात्मिक प्रेरणाएँ दिया करते थे। मुलतान की चिट्ठी मे लिखे गए निम्नलिखित वाक्य उनके जीवन के प्रतिबिम्ब है –

"इहा जिथा सभव आनन्द है, तुम्हारे चिदानन्दघन के अनुभव से सहजानन्द की वृद्धि चाहिजे।"

इस वात का उन्हे वहुत दु ख था कि वर्तमान मे आध्यात्मिक रसिक विरले ही है। अध्यात्म की चर्चा करने वालो से उन्हे सहज अनुराग था[1]। वे व्यर्थ की लौकिक चर्चाओ से युक्त पत्र-व्यवहार करना पसन्द नही करते थे, पर अध्यात्म और आगम की चर्चा उन्हे वहुत प्रिय थी। अत इस प्रकार के पत्रो को पाकर उन्हे प्रसन्नता होती थी और अपने स्नेहियो को इस प्रकार के पत्र देने के लिए प्रेरणा भी दिया करते थे[2], किन्तु सर्वोपरि प्रधानता आत्मानुभव को ही देते थे। अत वे अपने पत्रो मे बार-बार यह प्रेरणा देना आवश्यक समझते थे कि "अर निरन्तर स्वरूपानुभव मे रहना।" स्वरूपानुभव के बाद द्वितीय वरीयता देते हुए वे लिखते है, "तुम अध्यातम तथा आगम ग्रन्थो का अभ्यास रखना।"

---

[1] "अवार वर्तमान काल मे अध्यातम के रसिक वहुत थोडे है। धन्य है जे स्वात्मानुभव की वार्ता भी करै है।" – रहस्यपूर्ण चिट्ठी

[2] "और अध्यातम आगम की चर्चागर्भित पत्र तो शीघ्र-शीघ्र देवौ करौ। मिलाप कभी होगा तब होगा।" – रहस्यपूर्ण चिट्ठी

अध्ययन और ध्यान यही उनकी साधना थी। निरन्तर आध्यात्मिक अध्ययन, चिन्तन, मनन के फलस्वरूप 'मै टोडरमल हूँ' की अपेक्षा 'मै जीव हूँ' की अनुभूति उनमे अधिक प्रबल हो उठी थी। यही कारण है कि जब वे सम्यग्ज्ञानचद्रिका प्रशस्ति मे अपना परिचय देने लगे तो सहज ही लिखा गया –

मै तो जीव-द्रव्य हूँ। मेरा स्वरूप तो चेतना (ज्ञानदर्शन) है। मै अनादि से ही कर्मकलक-मल से मैला हूँ। कर्मो के निमित्त से मुझमे राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है। राग-द्वेष मेरे स्वभाव मे नही है। राग-द्वेष के निमित्त से दुष्ट की सगति के समान इस शरीर का सग हो गया है। मै तो रागादि और शरीर दोनो से ही भिन्न ज्ञान-स्वभावी जीव तत्त्व हूँ। रागादि भावो के निमित्त से कर्म बध और कर्मोदय के निमित्त से रागादि भाव होते है। इस प्रकार इनका यत्रवत चक्र चल रहा है। इसी चक्र मे मै मनुष्य हो गया हूँ। निज पद (परमात्म पद) प्राप्ति का उपाय यदि बन सकता है तो इस मनुष्य पर्याय मे ही बन सकता है[1]।

मै एक आत्मा और शरीर के अनेक पुद्गल स्कध मिल कर एक असमान जाति पर्याय का रूप बन गया है, जिसे मनुष्य कहते है। इस मनुष्य पर्याय मे जो जानने-देखने वाला ज्ञानाश है, वह मै हूँ। मै अनादि अनन्त एक अमूर्तिक अनन्त गुणो से युक्त जीव-द्रव्य हूँ। कर्मोदय का निमित्त पाकर मुझमे रागादिक दु खदायी भावो की

---

[1] मै हूँ जीव-द्रव्य नित्य चेतना स्वरूप मेर्यो,
लग्यो है अनादि तै कलक कर्म मल को।
ताहि को निमित्त पाय रागादिक भाव भये,
भयो है शरीर को मिलाप जैसे खल कौ॥
रागादिक भावनि को पायके निमित्त पुनि,
होत कर्म बध ऐसौ है बनाव जैसे कल कौ।
ऐसे ही भ्रमत भयो मानुष शरीर जोग,
बनै तो बनै यहा उपाव निज थल को॥३६॥

उत्पत्ति होती है। ये रागादिक भाव मेरे स्वभाव भाव नही है, ये तो औपाधिक भाव है, यदि ये नष्ट हो जावे तो मैं पूर्ण परमात्मा ही हूँ[1]।

प्रतिभा के धनी और आत्मसाधना-सम्पन्न होने पर भी उन्हे अभिमान छू भी नही गया था। अपनी रचनाओ के कर्तृत्व के सबध मे वे लिखते है –

वोलना, लिखना तो जड (पुद्गल) की क्रिया है। पाँचो इन्द्रियाँ और मन भी पुद्गल के ही वने हुए है। इनसे हमारा कोई सम्वन्ध नही है, क्योकि मै तो चेतन द्रव्य आत्मा हूँ और ये जड पुद्गल है, अत मै इनका कर्त्ता कैसे हो सकता हूँ[2] ?

वोलने के भावरूप राग और वोलने मे निमित्त की अपेक्षा से कारण-कार्य सम्वन्ध है, अत जगत को इनकी भिन्नता भासित नही होती है। इनमे भिन्नता तो विवेक की आँख से ही दिखाई देती है और सारा जगत विवेक के बिना अधा हो रहा है[3]।

वे आगे लिखते है – उक्त टीका ग्रन्थो का मात्र मै ही कर्त्ता नही हूँ, क्योकि इनकी रचना तो कागजरूप पुद्गल-स्कन्धो पर स्याही के परमाणुओ के बिखरने से हुई है। मैने तो मात्र इसे जाना है और मुझे उक्त ग्रन्थो की टीका करने का राग भी हुआ है। अत इसकी रचना मे ज्ञानाश और रागाश तो मेरा है, वाकी सब पुद्गल

---

[1] मै आतम अरू पुद्गल खध, मिलकै भयो परस्पर वध।
सो असमान जाति पर्याय, उपज्यो मानुप नाम कहाय ॥३८॥
तिस पर्याय विपै जो कोय, देखन-जानन हारो सोय।
मै हू जीव-द्रव्य गुण भूप, एक अनादि अनन्त अरूप ॥४२॥
कर्म उदय को कारण पाय, रागादिक हो हैं दु खदाय।
ते मेरे औपाधिक भाव, इनिकौ विनसै मै शिवराय ॥४३॥

[2] वचनादिक लिखनादिक क्रिया, वर्णादिक अरु इन्द्रिय हिया।
ये सव है पुद्गल के खेल, इनमे नाहिं हमारो मेल ॥४४॥
– स० च० प्र०

[3] रागादिक वचनादिक घना, इनके कारण कारिज पना।
तातै भिन्न न देख्यो कोय, विनु विवेक जग अधा होय ॥४५॥
– स० च० प्र०

(जड) की परिणति है । यह शास्त्र तो एक पुद्गल का पिण्ड मात्र है, फिर भी इसमे श्रुतज्ञान निबद्ध है[1] ।

वे विनम्र थे, पर दीन नही । स्वाभिमान उनमें कूट-कूट कर भरा था । विद्वानो का धनवानो के सामने झुकना उन्हे कदापि स्वीकार न था । 'सम्यग्यज्ञानचद्रिका' की पीठिका मे धन के पक्षपाती को लक्ष्य करके वे कहते है –

"तुमने कहा कि धनवानो के निकट पडित आकर रहते है सो लोभी पडित हो और अविवेकी धनवान हो वहाँ ऐसा होता है । शास्त्राभ्यास वालो की तो इन्द्रादिक भी सेवा करते है । यहाँ भी बडे-बडे महन्त पुरुष दास होते देखे जाते है, इसलिए शास्त्राभ्यास वालो से धनवानो को महन्त न जान ।"

वे सरल स्वभाव के साधु पुरुष थे । पडित दौलतराम कासलीवाल ने उनको मुनिवरवत वृत्ति लिखा है[2] । वे लोकेषणा से दूर रहनेवाले लोकोत्तर महापुरुष थे । उन्होने साहित्य का निर्माण लोक-वडाई और आर्थिक लाभ के लिए नही किया था । यह कार्य उनकी परोपकार वृत्ति का सहज परिणाम था । मोक्षमार्ग प्रकाशक के आरभ मे वे स्वय लिखते है – "वहुरि इहाँ जो मै यहु ग्रन्थ बनाऊ हूँ सो कषायनि तै अपना मान वधावने कौ वा लोभ साधने कौ वा यश होने कौ वा अपनी पद्धति राखने कौ नाही बनाऊँ हूँ । ...... इस समय विषै मदज्ञानवान जीव बहुत देखिये है तिनिका भला होने के अर्थि धर्मबुद्धि तै यह भाषामय ग्रन्थ बनाऊँ हूँ[3] ।"

अपने विषय के अधिकारी एव अद्वितीय विद्वान् और सबके द्वारा सम्मानित होने पर भी 'सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका' जैसी महान टीका

---

[1] "ज्ञान राग तो मेरौ मिल्यौ, लिखनौ करनौ तनु को मिल्यौ ।
कागज मसि अक्षर आकार, लिखिया अर्थ प्रकाशन हार ।।
ऐसौ पुस्तक भयो महान, जातै जाने अर्थ सुजान ।
यद्यपि यहु पुद्गल कौ खद, है तथापि श्रुतज्ञान निवध ।।"
–स० च० प्र०

[2] "मुनिवत वृत्ति वाकी रही, ताकै माहि अचल्ल ।" –पु० भा० टी० प्र०

[3] मो० मा० प्र०, २६

लिखने के उपरान्त वे लिखते है – "विशेष ज्ञानवान पुरूषनि का प्रत्यक्ष सयोग है नाही, ताते परोक्ष ही तिनिसो विनती करो हो कि मै मदबुद्धि हो, विशेष ज्ञानरहित हो, अविवेकी हो, शब्द, न्याय, गणित, धार्मिक आदि ग्रन्थनि का विशेष अभ्यास मेरे नाही है तातै शक्तिहीन हो तथापि धर्मानुराग के वशतै टीका करने का विचार किया है सो या विषै जहा चूक होई अन्यथा अर्थ होई तहाँ-तहाँ मो ऊपरि क्षमाकरि तिस अन्यथा अर्थ को दूरिकरि यथार्थ अर्थ लिखना, ऐसी विनती करि जो चूक होइगी ताकै शुद्ध होने का उपाय कीया है[1] ।"

इसी प्रकार रहस्यपूर्ण चिट्ठी मे गूढ और गभीर शकाओ का समुचित समाधान करने के उपरान्त लिखते है – "अर मेरी तो इतनी बुद्धि नाही ।" तथा गोम्मटसार टीका की प्रस्तावना मे वे लिखते है – "ऐसे यहु टीका बनेगी ता विषै जहा चूक जानो तहा बुधजन सवारि शुद्ध करियौ छद्मस्थ के ज्ञान सावर्ण हो है, ताते चूक भी परै । जैसे जाको थोरा सूझै अर वह कही विषम मार्ग विषै स्खलित होई तो बहुत सूझने वाला वाकी हास्य न करै ।"

पडितजी द्वारा रचित मौलिक ग्रन्थो और टीकाओ मे उनकी प्रतिभा के दर्शन सर्वत्र होते है । उनकी प्रतिभा के सम्बन्ध मे उनके सम्पर्क मे आने वाले समकालीन विद्वानो ने स्पष्ट उल्लेख किए है । ब्र० रायमल लिखते है – "अर टोडरमलजी के ज्ञान की महिमा अद्भुत देखी[2] । ऐसे महन्तवुद्धि का धारक ईकाल विषै होना दुर्लभ है[3] ।" पडित देवीदास गोधा ने उन्हे महाबुद्धिमान लिखा है[4] । पडितप्रवर जयचदजी ने भी उनकी प्रतिभा को सराहा है[5] ।

तत्कालीन जैन समाज मे जैन सिद्धान्त के कथन मे उनकी प्रमाणिकता प्रसिद्ध थी । विवादस्थ विषयो मे उनके द्वारा प्रतिपादित

---

[1] स० च० पी०

[2] जीवन पत्रिका, परिशिष्ट १

[3] इ० वि० पत्रिका, परिशिष्ट १

[4] सिद्धान्तसार सग्रह भाषा वचनिका

[5] सर्वार्थसिद्धि भाषा वचनिका, प्रशस्ति

वस्तुस्वरूप प्रमाणिक माना जाता था। श्री दि० जैन बडा मदिर तेरापंथियान, जयपुर मे वि० संवत् १८१५ की लिखित भूधरकृत 'चरचा समाधान' ग्रन्थ की एक प्रति प्राप्त हुई है, जिसमे उनकी प्रमाणिकता के सम्बन्ध मे निम्नानुसार उल्लेख है :-

"यह चरचा समाधान ग्रथ भूधरमल्लजी आगरा मध्ये वनाया। सु एक सो अडतीस १३८ प्रश्न का उत्तर है या ग्रन्थ विषै। सु सवाई जयपुर विषै टोडरमल्लजी नै बाच्या। सु प्रश्न बीस-तीस का उत्तर तो आमनाय मिलता है। अबसेष प्रश्न का उत्तर आमनाय मिलता नाही। सु बुधजन कु यह ग्रन्थ बांचि अर भरम नही खाना औरा मूल ग्रथा सौ मिलाय लेणा। सु भूधरमल्लजी बीच टोडरमल्लजी विशेष ग्याता है। जिनौने गोमट्टसारजी वा त्रिलोकसारजी वा लब्धिसारजी वा क्षिपणासारजी सपूर्ण खोल्या अर ताकी भाषा साठि हजार ६०,००० बचनका बनाई अर और भी ग्रन्थ घना देख्या। सु इहा ईका वचन प्रमान है यामै सन्देह नाही।......"

अपनी विद्वत्ता और प्रामाणिकता के आधार पर वे तेरापथियो के गुरु कहलाते थे। उनके समकालीन प्रमुख प्रतिद्वद्वी विद्वान् पंडित बखतराम शाह तक ने उनको धर्मात्मा और तेरापथियो का गुरु लिखा है[1]।

इस प्रकार पडित टोडरमल का जीवन चितन और साहित्य-साधना के लिये समर्पित जीवन है। केवल अपने कठिन परिश्रम एव प्रतिभा के बल पर ही उन्होंने अगाध विद्वत्ता प्राप्त की व उसे बांटा भी दिल खोलकर। अत तत्कालीन धार्मिक समाज मे उनकी विद्वत्ता व कर्त्तृत्व की धाक थी।

जगत के सभी भौतिक द्वन्द्वो से दूर रहने वाले एव निरन्तर आत्मसाधना व साहित्यसाधना रत इस महामानव को जीवन की मध्यवय मे ही साम्प्रदायिक विद्वेप का शिकार होकर जीवन से हाथ धोना पडा।

---

[1] गुर तेरह पथिन को भ्रमी, टोडरमल्ल नाम साहिमी — बु० वि०, १५३

श्री दि० जैन बडा मदिर तेरा पथियान, जयपुर मे प्राप्त, विक्रम सवत् १८१५ मे लिखित, 'चर्चा समाधान' नामक हस्तलिखित ग्रथ का अतिम पृष्ठ

रचनाएँ और उनका वर्गीकरण

पडित टोडरमल आध्यात्मिक साधक थे। उन्होंने जैन दर्शन और सिद्धान्तो का गहन अध्ययन ही नही किया, अपितु उसे तत्कालीन जनभाषा मे लिखा भी है। इसमे उनका मुख्य उद्देश्य अपने दार्शनिक चिन्तन को जनसाधारण तक पहुँचाना था। पडितजी ने प्राचीन जैन ग्रंथों की विस्तृत, गहन परन्तु सुबोध भाषा टीकाएँ लिखी। इन भाषा टीकाओ मे कई विषयो पर बहुत ही मौलिक विचार मिलते है, जो उनके स्वतत्र चिन्तन के परिणाम थे। बाद में इन्ही विचारो के आधार पर उन्होने कतिपय मौलिक ग्रथो की रचना भी की।

अभी तक पंडित टोडरमल की कुल ११ रचनाएँ ही प्राप्त थी। उनके नाम कालक्रम से निम्नलिखित है –

(१) रहस्यपूर्ण चिट्ठी (वि० स० १८११)
(२) गोम्मटसार जीवकाण्ड भाषाटीका
(३) गोम्मटसार कर्मकाण्ड भाषाटीका
(४) अर्थसदृष्टि अधिकार
(५) लब्धिसार भाषाटीका
(६) क्षपणासार भाषाटीका
[(२) से (६): सम्यग्ज्ञानचद्रिका (वि०सं० १८१८)]
(७) गोम्मटसार पूजा (वि० सं० १८१५–१८१८)
(८) त्रिलोकसार भाषाटीका (वि०स० १८१५–१८२३)
(९) मोक्षमार्ग प्रकाशक [अपूर्ण] (वि०स० १८१८-१८२३-२४)
(१०) आत्मानुशासन भाषाटीका (वि०स० १८१८-१८२३)
(११) पुरुषार्थसिद्ध्युपाय भाषाटीका [अपूर्ण] (वि०स० १८२१-१८२७)

ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन, बम्बई मे प्राप्त त्रिलोकसार मे एक २० पृष्ठीय 'समोसरण रचना वर्णन' नामक रचना और प्राप्त हुई है, जो कालक्रम मे त्रिलोकसार भाषाटीका के बाद आती है।

इनमे से सात तो टीका ग्रथ है और पाच मौलिक रचनाएँ है।

उनकी रचनाओ को दो भागो मे बाँटा जा सकता है –

(१) मौलिक रचनाएँ (२) व्याख्यात्मक टीकाएँ

मौलिक रचनाएँ गद्य और पद्य दोनो रूपो मे है। गद्य रचनाएँ चार शैलियो मे मिलती है –

(क) वर्णनात्मक शैली (ख) पत्रात्मक शैली

(ग) यत्र-रचनात्मक (चार्ट) शैली (घ) विवेचनात्मक शैली

वर्णनात्मक शैली मे समोसरण आदि का सरल भाषा मे सीधा वर्णन है। पडितजी के पास जिज्ञासु लोग दूर-दूर से अपनी शकाएँ भेजते थे, उनके समाधान मे वह जो कुछ लिखते थे, वह लेखन पत्रात्मक शैली के अतर्गत आता है। इसमें तर्क और अनुभूति का सुन्दर समन्वय है। इन पत्रो मे एक पत्र बहुत महत्त्वपूर्ण है। १६ पृष्ठो का यह पत्र 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी' के नाम से प्रसिद्ध है। यत्र-रचनात्मक शैली मे चार्टो द्वारा विषय को स्पष्ट किया गया है। 'अर्थसहष्टि अधिकार' इसी प्रकार की रचना है। विवेचनात्मक शैली मे सैद्धान्तिक विषयो को प्रश्नोत्तर पद्धति मे विस्तृत विवेचन करके युक्ति व उदाहरणो से स्पष्ट किया गया है। 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' इस श्रेणी मे आता है।

पद्यात्मक रचनाएँ दो रूपो मे उपलब्ध है –

(क) भक्तिपरक (ख) प्रशस्तिपरक

भक्तिपरक रचनाओ मे गोम्मटसार पूजा एव ग्रथो के आदि, मध्य और अन्त मे प्राप्त फुटकर पद्यात्मक रचनाएँ है। ग्रथो के अन्त मे लिखी गई परिचयात्मक प्रशस्तियाँ प्रशस्तिपरक श्रेणी मे आती है।

प० टोडरमल की व्याख्यात्मक टीकाएँ दो रूपो मे पाई जाती है –

(क) सस्कृत ग्रथो की टीकाएँ (ख) प्राकृत ग्रथो की टीकाएँ

सस्कृत ग्रथो की टीकाएँ आत्मानुशासन भाषाटीका और पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय भाषाटीका है। प्राकृत ग्रथो मे गोम्मटसार जीवकाण्ड, गोम्मटसार कर्मकाण्ड, लब्धिसार-क्षपणासार और त्रिलोकसार है, जिनकी भाषाटीकाएँ उन्होने लिखी है।

उपर्युक्त वर्गीकरण इस चार्ट द्वारा समझा जा सकता है —

पडित टोडरमल कृत रचनाएँ
मौलिक ग्रन्थ
टीका ग्रन्थ
गद्य
पद्य
सस्कृत
प्राकृत
वर्णनात्मक
यन्त्र-रचनात्मक
भक्तिपरक
प्रशस्तिपरक
समोसरण वर्णन
अर्थसदृष्टि अधिकार
प्रशस्तियाँ
पत्रात्मक
विवेचनात्मक
रहस्यपूर्ण चिट्ठी
मोक्षमार्ग प्रकाशक
गोम्मटसार पूजा
फुटकर मगलाचरण के रूप मे प्राप्त पद
आत्मानुशासन भापाटीका
पुरुपार्थसिद्ध्युपाय भापाटीका
सम्यग्ज्ञानचद्रिका
गोम्मटसार जीवकाण्ड भापाटीका
गोम्मटसार कर्मकाण्ड भाषाटीका
लब्धिसार भापाटीका
क्षपणासार भापाटीका
त्रिलोकसार भाषाटीका
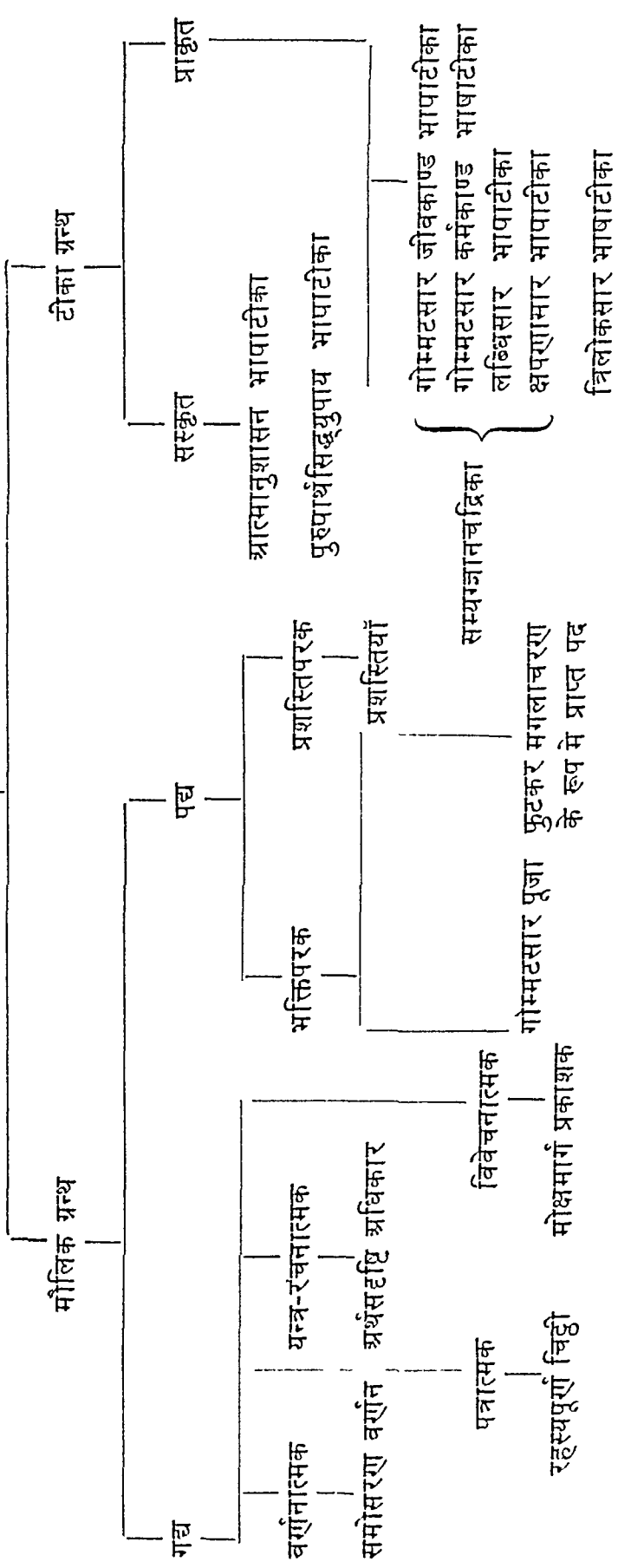
रचनाओं का परिचयात्मक अनुशीलन

रहस्यपूर्ण चिट्ठी

यह पत्रशैली मे लिखी गई सोलह पृष्ठो की छोटी सी रचना है। इसमे सैद्धान्तिक प्रश्नो का तर्कसम्मत समाधान प्रस्तुत किया गया है। इस चिट्ठी का महत्त्व इस बात मे है कि यह दो सौ बीस वर्ष पूर्व लिखित एक ऐसी चिट्ठी है, जिसमे आध्यात्मिक अनुभूति का वर्णन है। यह मोक्षमार्ग प्रकाशक के साथ तो कई बार प्रकाशित हो चुकी है[१], स्वतत्र रूप से भी इसका प्रकाशन हुआ है[२]। टोडरमल जयती स्मारिका मे भी यह अविकल रूप से छपी है[३]। इस पर सौराष्ट्र के आध्यात्मिक सत कानजी स्वामी ने कई बार आध्यात्मिक प्रवचन दिए जो कि 'अध्यात्म सदेश' नाम से हिन्दी[४] और गुजराती[५] मे प्रकाशित हो चुके है।

---

[१] मोक्षमार्ग प्रकाशक के निम्नलिखित सस्करणो मे प्रकाशित –

(क) सस्ती ग्रथमाला, नया मदिर, धरमपुरा, दिल्ली के पाच सस्करणो मे – ६५००

(ख) आचार्यकल्प पडित टोडरमल ग्रथमाला, ए-४, बापूनगर, जयपुर-४ के प्रथम सस्करण मे – ३३००

(ग) श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मदिर ट्रस्ट, सोनगढ के प्रथम व द्वितीय सस्करणो मे – १८०००

[२] (क) दिगम्बर जैन पुस्तकालय, कापडिया भवन, सूरत

(ख) कर्त्तव्य प्रबोध कार्यालय, खुरई

[३] टो० ज० स्मा०, २६१

[४] आचार्यकल्प पडित टोडरमल ग्रथमाला, ए-४ बापूनगर, जयपुर-४

[५] श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मदिर ट्रस्ट, सोनगढ

इसका नाम अधिकाश विद्वानो ने 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी' ही माना है किन्तु कही-कही इसका नाम 'आध्यात्मिक पत्रिका' और 'आध्यात्मिक पत्र' भी मिलता है। दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत से प्रकाशित सस्करणो मे आवरण पृष्ठ पर 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी' नाम है पर भीतर मुखपृष्ठ पर 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी अर्थात् आध्यात्मिक पत्रिका' नाम भी मिलता है। पडित परमानन्द ने अपने प्रकाशनो[1] मे 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी' ही नाम दिया है। डॉ० लालवहादुर शास्त्री ने इसका उल्लेख 'आध्यात्मिक पत्र' नाम से किया है परतु उन्होने इसकी प्रसिद्धि 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी' नाम से स्वीकार की है[2]।

पडित टोडरमल ने स्वय इस रचना का कोई नामकरण नही किया है क्योकि उनकी दृष्टि मे यह तो एक सामान्य पत्र है, कोई कृति नही। परन्तु विषय की गंभीरता और शैली की प्रौढता की दृष्टि से इसका महत्त्व किसी कृति से कम नही है। लेखक की ओर से नाम के सम्वन्ध मे कोई निर्देश न होने से लोग अपनी-अपनी रुचि के अनुसार विभिन्न नामो से इसे पुकारने लगे। अत्यधिक प्रसिद्धि के कारण हमने इसे 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी' नाम से ही अभिहित किया है।

इस रचना का प्रेरणा-स्रोत मुलतान निवासी भाई खानचद, गगाधर, श्रीपाल और सिद्धारथदास का वह पत्र है, जिसमे उन्होने कुछ सैद्धान्तिक और अनुभवजन्य प्रश्नो के उत्तर जानना चाहे थे और जिसके उत्तर मे यह रहस्यपूर्ण चिट्ठी लिखी गई। चिट्ठी के आरम्भ मे इसकी चर्चा की गई है। मुलतान नगर के पाकिस्तान मे चले जाने से वहा के जैन वन्धु देश के वटवारे के समय सन् १९४७ ई० मे जयपुर आ गए थे। वे अपने साथ कई जिन-प्रतिमाएँ एव शास्त्र-भडार भी लाए थे। उन्होने आदर्शनगर, जयपुर मे एक दि० जैन मदिर वनाया है, उसमे रहस्यपूर्ण चिट्ठी की एक वहुत प्राचीन प्रति प्राप्त है, जिसे वे मूल प्रति कहते है। उक्त प्रति की प्राचीनता असदिग्ध होने पर भी उसके मूल प्रति होने के ठोस व स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध नही होते।

---

[1] मो० मा० प्र० के अन्त मे प्रकाशित

[2] मो० मा० प्र० मथुरा, प्रस्तावना, ४३

तत्त्वजिज्ञासु अध्यात्मप्रेमी मुमुक्षु भाइयो की शकाओ का समाधान करना ही इस रचना का मूल उद्देश्य रहा है। यह रहस्यपूर्ण चिट्ठी फाल्गुन कृष्णा ५ वि० स० १८११ को लिखी गई थी, जैसा कि उसके अन्त मे स्पष्ट उल्लेख है।

यह सम्पूर्ण रचना पत्रशैली मे लिखी गई है। अत चिट्ठी का आरम्भ तत्कालीन समाज मे लिखे जाने वाले पत्रो की पद्धति से होता है। इसमे सामान्य शिष्टाचार के उपरान्त आत्मानुभव करने की प्रेरणा देते हुए आगम और अध्यात्म चर्चा से गर्भित पत्र देते रहने का आग्रह किया गया है। तदुपरान्त पूछे गये प्रश्नो का उत्तर आगम, युक्ति और उदाहरणो द्वारा दिया गया है।

सर्वप्रथम अनुभव का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। उसके उपरान्त आत्मानुभव के सम्बन्ध मे उठने वाले प्रत्यक्ष-परोक्ष, सविकल्पक-निर्विकल्पक सम्बन्धी प्रश्नो के उत्तर दिये गए है। अन्त मे लिखा है कि विशेष कहाँ तक लिखे, जो बात जानते है, सो लिखने मे आती नही, मिलने पर कुछ कहा जा सकता है, पर मिलना सहज सम्भव नही है। अत समयसारादि अध्यात्मशास्त्र व गोम्मटसारादि सिद्धान्तशास्त्रो का अध्ययन करना और स्वरूपानन्द मे मग्न रहने का यत्न करना। इस प्रकार अलौकिक औपचारिकता के साथ चिट्ठी समाप्त हो जाती है। इसमे पडित टोडरमल की आध्यात्मिक रुचि के दर्शन सर्वत्र होते है।

शैली के क्षेत्र मे दो सौ बीस वर्ष पूर्व का यह अभिनव प्रयोग है। शैली सहज, सरल और बोधगम्य है। विषय की प्रामाणिकता के लिए आवश्यक आगम प्रमाण[१], विषयो को पुष्ट करने के लिए समुचित तर्क तथा गम्भीर विषय पाठको के गले उतारने के लिए लोकप्रचलित उदाहरण यथाप्रसग प्रस्तुत किये गए है। शुभाशुभ परिणाम के काल मे सम्यकत्व की उत्पत्ति सिद्ध करते हुए वे लिखते है –

---

[१] पद्मनदि पचविशतिका, वृहन्नयचक्र, समयसार नाटक, तत्त्वार्थसूत्र, तर्कशास्त्र, अष्टसहस्त्री, गोम्मटसार, समयसार, आत्मख्याति आदि आगम ग्रथो के उद्धरण रहस्यपूर्ण चिट्ठी मे दिये गए है।

"जैसे कोई गुमास्ता साहू के कार्यविषै प्रवर्तै है, उस कार्य को अपना भी कहै है, हर्ष-विषाद को भी पावै है, तिस कार्य विषै प्रवर्तते अपनी और साहू की जुदाई कौ नाही विचारै है, परन्तु अन्तरग श्रद्धान ऐसा है कि यह मेरा कारज नाही। ऐसा कार्य करता गुमास्ता साहूकार है, परन्तु वह साहू के धन कू चुराय अपना मानै तो गुमास्ता चोर ही कहिए। तैसे कर्मोदयजनित शुभाशुभ रूप कार्य को करता हुआ तद्रूप परिणमै, तथापि अतरग ऐसा श्रद्धान है कि यह कार्य मेरा नाही। जो शरीराश्रित व्रत सयम को भी अपना मानै तो मिथ्यादृष्टि होय[1]।"

सम्यग्ज्ञानचंद्रिका

'सम्यग्ज्ञानचद्रिका' पडित टोडरमल के गम्भीर अध्ययन का परिणाम है। यह ३४०९ पृष्ठो का एक महान् ग्रथ है जिसमे करणानुयोग के गम्भीर ग्रथो को सरल, सुबोध एव देशभाषा मे समझाने का सफल प्रयत्न किया गया है। इसमे गणित के माध्यम से विषय स्पष्ट किया गया है। विषय को स्पष्ट करने के लिए यथास्थान सैकडो चार्ट्स जोडे गए है तथा एक 'अर्थसदृष्टि अधिकार' नाम से अलग अधिकार लिखा गया है। इसमे उनका अगाध पाण्डित्य और अद्भुत कार्यक्षमता प्रगट हुई है। यह टीकाग्रथ अत्यन्त लोकप्रिय रहा है। उस समय सारे भारतवर्ष मे चलने वाली प्रसिद्ध 'सैलियो' मे इसका स्वाध्याय होता था। आज भी विद्वद् समाज मे इसका पूर्ण समादर है। इसकी महिमा के सम्बन्ध मे ब्र० रायमल ने लिखा है -

"ताका नाम सम्यक्ज्ञानचद्रका है। ताकी महिमा वचन अगोचर है, जो कोई जिनधर्म की महिमा अर केवलग्यान की महिमा जाणी चाहौ तौ या सिद्धात का अनुभवन करौ। घणी कहिवा करि कहा[2]।"

यह महाग्रथ जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी सस्था, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित हो चुका है। इसके आधार पर बनाई गई सक्षिप्त टीकाऍ भी

---

[1] मो० मा० प्र०, ५०५

[2] देखिए प्रस्तुत ग्रथ, पृ० ५२

प्रकाशित हो चुकी है। इसकी पीठिका का पूर्वार्द्ध अलग पडित भागचद छाजेड के 'सत्तास्वरूप' के साथ भी प्रकाशित हो चुका है[1]।

गोम्मटसार जीवकाण्ड, गोम्मटसार कर्मकाण्ड, लब्धिसार और क्षपणासार की भाषाटीकाएँ पडित टोडरमल ने अलग-अलग बनाई थी, किन्तु उक्त चारो टीकाओ को परस्पर एक-दूसरे से सम्बन्धित एव परस्पर एक का अध्ययन दूसरे के अध्ययन मे सहायक जान कर, उक्त चारो टीकाओ को मिलाकर उन्होने एक कर दिया तथा उसका नाम 'सम्यग्ज्ञानचद्रिका' रख दिया। इसका उल्लेख उन्होने प्रशस्ति मे स्पष्ट रूप से किया है[2] तथा पीठिका मे उक्त चारो ग्रथो की टीका मिला कर एक कर देने के सम्बन्ध मे उन्होने सयुक्ति समर्थ कारण प्रस्तुत किए है[3]।

इन चारो ग्रथो की भाषाटीकाओ का एक नाम 'सम्यग्ज्ञानचद्रिका' रख दिए जाने के अनन्तर भी इनके नाम पृथक्-पृथक् – गोम्मटसार जीवकाण्ड भाषाटीका, गोम्मटसार कर्मकाण्ड भाषाटीका एव लब्धिसार-क्षपणासार भाषाटीका भी चलते रहे। कारण कि इतने विशाल ग्रथ न तो एक साथ छापे ही गए एव न ही हस्तलिखित प्रतियो मे एक साथ लिखे गए और न शास्त्र-भडारो मे रखे गए, तथा मूल ग्रथो के नाम अपने आप मे अधिक लोकप्रिय होने से उन्हे लोग उन्ही नामो के आगे 'भाषाटीका' शब्द लगा कर ही प्रयोग मे लाते रहे। अत 'सम्यग्ज्ञानचद्रिका' वास्तविक नाम होने पर भी प्रयोग मे कम आया।

---

[1] प्रकाशक श्री दि० जैन मुमुक्षु मण्डल, सनावद (म० प्र०)

[2] या विधि गोम्मटसार लब्धिसार ग्रन्थनि की,
भिन्न-भिन्न भाषाटीका कीनी अर्थ गायकै।
इनिकै परस्पर सहायकपनौ देख्यौ,
तातै एक करि दई हम तिनकौ मिलाइकै ।।
सम्यग्ज्ञान चद्रिका धर्यो है याकौ नाम,
सोई होत है सफल ज्ञानानन्द उपजायकै।
कलिकाल रजनी मे अर्थ को प्रकाश करै,
यातै निजकाज कीजै इष्ट भाव भायकै ।।३०।।

[3] स० च० पी०, ५०

पडित टोडरमल ने पूर्ण सम्यग्ज्ञानचद्रिका की पीठिका एक साथ लिखी और वह स्वभावत प्रथम ग्रथ गोम्मटसार जीवकाण्ड भाषाटीका के आरम्भ मे लिखी व छापी गई, अत लोग उसे 'गोम्मटसार भाषाटीका पीठिका' ही कहते रहे। इसी प्रकार लब्धिसार भाषाटीका के साथ ही क्षपणासार भाषाटीका लिखी गई, जिसे उन्होने स्वय 'क्षपणासार गर्भित लब्धिसार भाषाटीका' कहा, वे छपी भी इसी रूप मे, अत. वे अकेले 'लब्धिसार भाषाटीका' नाम से चल पडी। लब्धिसार-क्षपणासार भाषाटीका, सम्यग्ज्ञानचद्रिका का अतिम भाग था, अत. ग्रथ की अतिम ६३ छन्दो वाली प्रशस्ति सहज ही उसके अत मे लिखी गई। अत उक्त प्रशस्ति को 'लब्धिसार भाषाटीका प्रशस्ति' भी कहा व लिखा जाता रहा।

ऐसी स्थिति मे हम उक्त पीठिका व सर्वात की वृहद् प्रशस्ति को सम्यग्ज्ञानचद्रिका पीठिका व प्रशस्ति कहना सही मानते है तथा हमने उक्त पीठिका व प्रशस्ति का प्रयोग इसी नाम से किया है। किन्तु पडितजी ने गोम्मटसार जीवकाण्ड, गोम्मटसार कर्मकाण्ड, लब्धिसार-क्षपणासार की भाषाटीकाओ की छोटी-छोटी प्रशस्तियाँ भी लिखी है, जिन्हे हमने गोम्मटसार जीवकाण्ड भाषाटीका प्रशस्ति आदि कहना उपयुक्त समझा है तथा सदर्भो मे भी पृष्ठ सख्या देने की सुविधा को ध्यान मे रखते हुए गोम्मटसार भाषाटीका आदि नामो का ही यथास्थान प्रयोग किया है। सम्यग्ज्ञानचद्रिका की आदि से अत तक लगातार पृष्ठ सख्या न होने से ऐसा करना आवश्यक हो गया।

गोम्मटसार जैन समाज का एक बहुत ही सुप्रसिद्ध सिद्धान्त-ग्रथ है जो जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड नाम के दो बडे भागो मे विभक्त है। वे भाग एक प्रकार से अलग-अलग ग्रथ समझे जाते है, वे अलग-अलग मुद्रित भी हुए है। जीवकाण्ड की अधिकार सख्या २२ और गाथा सख्या ७३३ है और कर्मकाण्ड की अधिकार सख्या ९ एव गाथा सख्या ९७२ है। इस समूचे ग्रथ का दूसरा नाम 'पचसंग्रह' भी है[1],

---

[1] पु० जै० वा० सू० प्रस्तावना, ६८

क्योकि इसमे निम्नलिखित पांच बातो का वर्णन है –

१ वध २. वध्यमान, ३. वधस्वामी, ४ वधहेतु,
५ वधभेद ।

सम्यग्ज्ञानचद्रिका प्रशस्ति मे पडित टोडरमल ने दोनो नामो का उल्लेख इस प्रकार किया है –

"बधकादि सग्रह तै नाम पचसग्रह है,
अथवा गोम्मटसार नाम को प्रकाश है ।"

इसके आगे का भाग लब्धिसार-क्षपणासार है, उसकी गाथा सख्या ६५३ है ।

इन ग्रथो का निर्माण राजा चामुण्डराय की प्रेरणा से उनके पठनार्थ हुआ था । वे गगवशी राजा राजमल्ल के प्रधान मत्री एव सेनापति थे । उन्होने श्रवणबेलगोला मे बाहुबलि की सुप्रसिद्ध विशाल और अनुपम मूर्ति का निर्माण कराया था । चामुण्डराय का दूसरा नाम गोम्मटराय भी था, अत इस ग्रथ का नाम गोम्मटसार पडा[1] । यह महाग्रथ जैन परीक्षाबोर्डो के पाठ्यक्रम मे निर्धारित है और समस्त जैन महाविद्यालयो मे नियमित रूप से पढाया जाता है ।

इस गोम्मटसार ग्रथ पर मुख्यत चार टीकाएँ उपलब्ध है । एक है– अभयचन्द्राचार्य की सस्कृत टीका 'मदप्रबोधिका' जो जीवकाण्ड की गाथा ३८३ तक ही पाई जाती है । दूसरी केशव वर्णी की सस्कृत मिश्रित कन्नडी टीका 'जीवतत्त्वप्रदीपिका' है जो सम्पूर्ण गोम्मटसार पर विस्तृत टीका है और जिसमे 'मदप्रबोधिका' का पूरा अनुसरण किया गया है । तीसरी है– नेमिचन्द्राचार्य की सस्कृत टीका 'जीवतत्त्वप्रदीपिका' जो पिछली दोनो टीकाओ का पूरा-पूरा अनुसरण करती हुई सम्पूर्ण गोम्मटसार पर यथेष्ट विस्तार के साथ लिखी गई है, और चौथी है पडित टोडरमल की हिन्दी टीका 'सम्यग्ज्ञानचद्रिका' जिसमे सस्कृत टीका के विषय को खूब स्पष्ट किया है और जिसके

---

[1] पु० जै० वा० सू० प्रस्तावना, ६९

आधार पर हिन्दी, अग्रेजी तथा मराठी के अनुवादो[1] का निर्माण हुआ है[2]।

कन्नडी और सस्कृत टीकाओ का एक ही नाम (जीवतत्त्व-प्रदीपिका) होने, मूलग्रथकर्त्ता तथा सस्कृत टीकाकार का भी एक ही नाम (नेमिचद्र) होने, कर्मकाण्ड की गाथा न० ९७२ के अस्पष्ट उल्लेख पर से चामुण्डराय को कन्नडी टीका का कर्त्ता समझे जाने और सस्कृत टीका के 'श्रित्वाकर्णाटकी वृत्ति' पद्य के द्वितीय चरण मे 'वर्णिश्रीकेशवै कृता' की जगह कुछ प्रतियो मे 'वर्णिश्रीकेशवै कृति' पाठ उपलब्ध होने आदि कारणो से पिछले अनेक विद्वानो को, जिनमे पडित टोडरमल भी शामिल है, सस्कृत टीका के कर्त्ता के विषय मे भ्रम रहा है और उसके फलस्वरूप उन्होने उसका कर्त्ता 'केशव वर्णी' लिख दिया है[3]। इस फैले भ्रम को डॉ० ए० एन० उपाध्ये ने तीनो टीकाओ और गद्य-पद्यात्मक प्रशस्तियो की तुलना द्वारा 'अनेकान्त' मे प्रकाशित एक लेख मे स्पष्ट किया है[4]।

पडित टोडरमल ने सम्यग्ज्ञानचद्रिका, जीवतत्त्वप्रदीपिका नामक सस्कृत टीका के आधार पर बनाई है। इस बात का स्पष्ट उल्लेख उन्होने पीठिका मे किया है[5]। जीवतत्त्वप्रदीपिका, गोम्मटसार जीवकाण्ड, गोम्मटसार कर्मकाण्ड पर पूरी है, पर लब्धिसार-क्षपणासार पर गाथा न० ३९१ के आगे नही है। नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती के शिष्य माधवचद्र त्रैविद्य के द्वारा रचित एक सस्कृत 'क्षपणासार'

---

[1] हिन्दी अनुवाद जीवकाण्ड पर पडित खूबचद का, कर्मकाण्ड पर पडित मनोहरलाल का, अग्रेजी अनुवाद जीवकाण्ड पर मिस्टर जे० एल० जैनी का, कर्मकाण्ड पर ब्र० शीतलप्रसाद तथा बाबू अजितप्रसाद का, और मराठी अनुवाद गाधी नेमचद बालचद का है। लब्धिसार-क्षपणासार पर भी प० मनोहरलाल का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हुआ है।

[2] पु० जै० वा० सू०, प्रस्तावना, ८८—८९

[3] वही, ८९

[4] अनेकान्त वर्ष ४, किरण १, पृ० ११३-१२०

[5] स० च० पी०, ५

नामक ग्रंथ है। लब्धिसार-क्षपणासार की आगे की टीका पडित टोडरमल ने उसके आधार पर बनाई है, जिसका उल्लेख उन्होने लब्धिसार टीका के आरम्भ मे तथा सम्यग्ज्ञानचद्रिका प्रशस्ति मे किया है।

सम्यग्ज्ञानचद्रिका यद्यपि जीवतत्त्वप्रदीपिका का अनुसरण करती है तथापि उससे पूरी तरह बधी हुई नही है। जहाँ कही चद्रिकाकार को इष्ट हुआ और उन्होने आवश्यक समझा, वहाँ विषय विस्तृत किया है। सहज बोधगम्य विषय को सकुचित भी किया है तथा आवश्यक समझा तो अन्य ग्रथो के आधार पर विषय का विश्लेषण भी किया है। वे मात्र अनुवादक नही है, वरन् व्याख्याकार है। पडितजी ने अपनी स्थिति को पीठिका मे स्पष्ट कर दिया है[1]।

प० टोडरमल को सम्यग्ज्ञानचद्रिका की रचना की प्रेरणा ब्र० रायमल से प्राप्त हुई। उन्होने स्वय लिखा है –

"रायमल्ल साधर्मी एक, धरम सधैया सहित विवेक।
सौ नाना विधि प्रेरक भयो, तब यहु उत्तम कारज थयो[2]।।"

ब्र० रायमल ने उन्हे मात्र प्रेरणा ही नही दी वरन् पूर्ण सहयोग दिया। जब तक उक्त टीका का निर्माण कार्य चलता रहा तब तक वे पडितजी के साथ ही रहे। पडित टोडरमल का स्वय का विचार भी टीका लिखने का था पर ब्र० रायमल की प्रेरणा से यह महान् कार्य द्रुतगति से हुआ और अल्पकाल मे ही सम्पन्न हो गया। उक्त सदर्भ मे ब्र० रायमल अपनी जीवन पत्रिका मे लिखते है:–

"पीछै उनसूं हम कही तुम्हारै या ग्रथा का परचै निर्मल भया है, तुम करि याकी भाषाटीका होय तौ घणा जीवा का कल्याण होइ' ······ तातै तुम या ग्रथ की टीका करने का उपाय शीघ्र करो,

---

[1] "बहुरि जो यहु सम्यग्ज्ञानचद्रिका नामा भाषाटीका करिए है तिहि विषै सस्कृत टीका तै कही अर्थ प्रगट करने के अर्थि वा कही प्रसगरूप वा कही अन्य ग्रथ अनुसारि लेई अधिक भी कथन करियेगा। अर कही अर्थ स्पष्ट न प्रतिभासेगा तो न्यून कथन होइगा ऐसा जानना।" – स० च० पी०, १८

[2] स० च० प्र०

आयु का भरोसा है नाही।.........पूर्वं भी याकी टीका करने का इनका मनोर्थ था ही, पीछै हमारे कहने करि विशेष मनोर्थ भया, तव शुभ दिन मुहूर्त्त विषै टीका करने का प्रारम्भ सिघाणा नग्र विषै भया, सो वै तौ टीका बणावते गए हम बाचते गए[1]।"

सम्यग्ज्ञानचद्रिका की रचना का उद्देश्य स्वपर-हित ही रहा है। स्वहित का आशय उपयोग की पवित्रता एव ज्ञानवृद्धि से है। सामान्य जिज्ञासु जनो को तत्त्वज्ञान की प्राप्ति सहज एव सरलता से हो सके, यह परहित का भाव है। सम्मान, यश, धनादि की प्राप्ति का कोई प्रयोजन इसकी रचना के पीछे नही था। मूल ग्रथ तो प्राकृत भाषा मे है और उनकी प्राचीन टीकाएँ सस्कृत और कन्नड मे है। जिन लोगो को सस्कृत, प्राकृत और कन्नड का ज्ञान नही है, उनके हित को लक्ष्य मे रख कर इस टीका की रचना हुई है। इस बात को सम्यग्ज्ञानचद्रिका की पीठिका[2] एव प्रशस्ति[3] मे पडित टोडरमल ने स्पष्ट किया है।

सम्यग्ज्ञानचद्रिका माघ शुक्ला पचमी, वि० स० १८१८ मे बनकर तैयार हुई थी, जैसा कि प्रशस्ति मे लिखा है –

"सवत्सर अष्टादश युक्त, अष्टादश शत लौकिक युक्त।
माघ शुक्ल पचमि दिन होत, भयो ग्रथ पूरन उद्योत।।"

किन्तु अन्य उल्लेख ऐसे भी प्राप्त हुए है कि यह टीका वि० स० १८१५ मे बन चुकी थी। दि० जैन बडा मदिर तेरापथियान, जयपुर मे प्राप्त भूधरदास के 'चर्चा समाधान' नामक हस्तलिखित ग्रन्थ पर आसोज कृष्णा ५ वि० स० १८१५ का लिखित एक उल्लेख प्राप्त हुआ है[4], जिसमे लिखा है कि पडित टोडरमल ने गोम्मटसार आदि ग्रन्थो की साठ हजार श्लोक प्रमाण टीका बनाई है। इससे प्रतीत

---

[1] परिशिष्ट १

[2] स० च० पी०, ३

[3] स० च० प्र०, छन्द १९-२०-२१

[4] देखिए प्रस्तुत ग्रथ, ७६

होता है कि सम्यग्ज्ञानचद्रिका अपने मूल रूप मे तो विक्रम सवत् १८१५ मे तैयार हो चुकी थी, शेष तीन वर्ष तो उसके सशोधनादि कार्य मे लगे। ब्र० रायमल के कथनानुसार तीन वर्ष उसके निर्माण मे भी लगे थे, अत उसका निर्माण कार्य का आरम्भ वि० स० १८१२ मे हो गया होगा, किन्तु वह पूर्ण रूप से सशोधित होकर माघ शुक्ला पचमी, वि० स० १८१८ को ही तैयार हुई है।

सम्यग्ज्ञानचद्रिका की रचना तो सिघाणा मे हो चुकी थी, पर इसका सशोधनादि कार्य जयपुर मे ही हुआ। ब्र० रायमल ने इस सम्बन्ध मे स्पष्ट उल्लेख किया है "तब शुभ दिन मुहूर्त्त विषै टीका करने का प्रारम्भ सिघाणा[1] नग्र विषै भया, सो वै तो टीका बणावते गए हम वाचते गए। ' '' 'पीछै सवाई जैपुर आए। तहा गोमटसारादि च्यारौ ग्रन्था कू सोधि याकी वहोत प्रति उतराई। जहा सैली छी तहा सुधाइ सुधाइ पधराई। ऐसै या ग्रथा का अवतार भया[2]।"

सम्यग्ज्ञानचद्रिका का परिमाण ब्र० रायमल ने इक्यावन हजार श्लोक[3] प्रमाण लिखा है[4], जिसमे गोम्मटसार जीवकाण्ड और गोम्मटसार कर्मकाण्ड की भाषाटीका अडतीस हजार श्लोक प्रमाण एव लब्धिसार-क्षपणासार की भाषाटीका तेरह हजार श्लोक प्रमाण है। इस परिमाण मे 'अर्थसदृष्टि अधिकार' की सदृष्टियॉ नही आती है, वे अलग है। टीकाओ के बीच-बीच मे आई अक-सदृष्टियॉ भी इसमे नही आती है, वे भी पृथक् है। इकहत्तर पृष्ठ की पीठिका भी अलग है। सदृष्टियॉ पीठिका आदि सब मिला कर शास्त्राकार तीनहजार चारसौ नौ पृष्ठो मे यह टीका प्रकाशित हुई है।

---

[1] सिघाणा नगर जयपुर से पश्चिम मे करीब १५० कि० मी० दूर वर्तमान खेतडी प्रोजेक्ट के पास है।

[2] जीवन पत्रिका, परिशिष्ट १

[3] एक श्लोक बत्तीस अक्षरो का माना जाता है।

[4] जीवन पत्रिका, परिशिष्ट १

सम्यग्ज्ञानचद्रिका के आरम्भ मे पीठिका है, जिसमे वर्ण्य-विषय का पूरा परिचय दिया गया है। पीठिका के आरम्भ मे ग्रथ-रचना का प्रयोजन और उपयोगिता, टीकाकार की अपनी स्थिति और मर्यादा, टीका की प्रामाणिकता आदि पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। सम्पूर्ण भाषाटीका मे प्रयुक्त गणित की सामान्य जानकारी भी पीठिका मे प्रस्तुत की गई है।

सम्यग्ज्ञानचद्रिका की प्रशस्ति मे, जो कि लब्धिसार भाषाटीका के अन्त मे दी गई है, वर्ण्य-विषय का परिचय सक्षेप मे इस प्रकार दिया गया है –

करि पीठबध जीवकाण्ड भाषा कीनी,
तामै गुणस्थान आदि दोयबीस अधिकार है।
प्रकृतिसमुत्कीर्तन आदि नवग्रथनि कौ,
समुदाय कर्मकाण्ड ताकी भाषा सार है।
ऐसे अनुक्रम सेती पीछै लीख्यो इनही की,
सद्दृष्टिनि कौ स्वरूप जहा अर्थ भार है।
पूरन गोम्मटसार भापा टीका भई,
याकौ अवगाहै भव्य पावै भव पार है ॥२८॥

समकित उपशम क्षायिक को है वखान,
पीछे देश-सकल चरित्र कौ वखान है।
उपशम क्षपक ए श्रेणी दोए तिनहू कौ,
कीयौ है बखान ताकौ जाने गुणवान है।
सयोग अयोगी जिन सिद्धन कौ वर्णन करि,
लब्धिसार ग्रथ भयो पूरन प्रमान है।
इसकी सद्दृष्टि को लिखि कै स्वरूप,
ताकी सपूरन भाषा टीका भायो ज्ञान है ॥२९॥

सम्यग्ज्ञानचद्रिका को हम निम्नलिखित चार महाअधिकारो मे विभक्त पाते है –

(१) गोम्मटसार जीवकाण्ड भाषाटीका महाअधिकार
(२) गोम्मटसार कर्मकाण्ड भाषाटीका महाअधिकार
(३) अर्थसदृष्टि महाअधिकार
(४) लब्धिसार-क्षपणासार भाषाटीका महाअधिकार

सर्वप्रथम गोम्मटसार ग्रथ की टीका की गई है। गोम्मटसार ग्रथ मे दो महाअधिकार है – (१) जीवकाण्ड और (२) कर्मकाण्ड। जीवकाण्ड के अन्तर्गत निम्नलिखित बाईस अधिकार है, जिनमे प्रत्येक मे अपने-अपने नामानुसार विषयो का विस्तृत वर्णन है –

(१) गुणस्थान अधिकार
(२) जीवसमास अधिकार
(३) पर्याप्ति अधिकार
(४) प्राण अधिकार
(५) सज्ञा अधिकार
(६) गतिमार्गणा अधिकार
(७) इन्द्रियमार्गणा अधिकार
(८) कायमार्गणा अधिकार
(९) योगमार्गणा अधिकार
(१०) वेदमार्गणा अधिकार
(११) कषायमार्गणा अधिकार
(१२) ज्ञानमार्गणा अधिकार
(१३) सयममार्गणा अधिकार
(१४) दर्शनमार्गणा अधिकार
(१५) लेश्यामार्गणा अधिकार
(१६) भव्यमार्गणा अधिकार
(१७) सम्यक्त्वमार्गणा अधिकार

(१८) सज्ञामार्गणा अधिकार
(१९) आहारमार्गणा अधिकार
(२०) उपयोग अधिकार
(२१) ओघादेशयोगप्ररूपणा-प्ररूपण अधिकार
(२२) आलाप अधिकार

कर्मकाण्ड महाअधिकार के अन्तर्गत निम्नलिखित नौ अधिकार है, इनमे भी अपने-अपने नामानुसार विषयो का बहुत विस्तार से वर्णन है :–

(१) प्रकृतिसमुत्कीर्तन अधिकार
(२) बन्धोदयसत्व अधिकार
(३) विशेषसत्तारूपसत्वस्थान अधिकार
(४) त्रिचूलिका अधिकार
(५) स्थानसमुत्कीर्तन अधिकार
(६) प्रत्यय अधिकार
(७) भावचूलिका अधिकार
(८) त्रिकरणचूलिका अधिकार
(९) कर्मस्थितिरचना अधिकार

इस कर्मकाण्ड महाअधिकार में आठ प्रकार के कर्म, उनकी एक सौ अडतालीस प्रकृतियाँ, कर्मबन्ध की प्रक्रिया, वन्ध के भेद, प्रकृति, स्थिति, अनुभाग व प्रदेश का विस्तार से वर्णन किया गया है। कर्मो के वन्ध, उदय, सत्व, अबन्ध, अनुदय, असत्व; वन्ध व्युच्छत्ति, उदय व्युच्छत्ति एव सत्व व्युच्छत्ति आदि का अनेक प्रकार से विस्तृत वर्णन है।

गोम्मटसार जीवकाण्ड कर्मकाण्ड के अन्त मे इन्ही के परिशिष्ट रूप मे अर्थसदृष्टि महाअधिकार है जिसमे रेखाचित्रो (चार्टो) के के द्वारा गोम्मटसार जीवकाण्ड और गोम्मटसार कर्मकाण्ड मे आए गूढ विपयो को स्पष्ट किया गया है।

लब्धिसार-क्षपणासार महाअधिकार के भी दो विभाग है –

(१) लब्धिसार भाषाटीका अधिकार

(२) क्षपणासार भाषाटीका अधिकार

लब्धिसार भाषाटीका अधिकार मे सम्यक्त्व का और क्षपणासार भाषाटीका अधिकार मे चारित्र सम्बन्धी विशेष वर्णन है।

लब्धिसार भाषाटीका अधिकार मे दर्शन-मोह के उपशम व क्षपण तथा सम्यग्दर्शन की प्राप्तिकाल मे होने वाली पाँच लब्धियो (क्षयोपशमलब्धि, देशनालब्धि, विशुद्धिलब्धि, प्रायोग्यलब्धि, करण-लब्धि) का विस्तार से वर्णन है। विशेषकर करणलब्धि के भेद अध करण, अपूर्वकरण, अनवृत्तिकरण का वर्णन करते हुए अनेक चार्टो द्वारा परिणामो (भावो) के तारतम्य का विस्तृत वर्णन है। सम्यग्दर्शन के भेद – उपशम सम्यग्दर्शन, क्षयोपशम सम्यग्दर्शन, और क्षायिक सम्यग्दर्शन तथा इनके भी अतर्गत प्रभेदो का विस्तार से वर्णन किया गया है।

इसी प्रकार क्षपणासार भाषाटीका अधिकार मे चारित्र-मोह के उपशम व क्षपण का विस्तृत विवेचन है, तथा देशचारित्र व सकलचारित्र, उपशमश्रेणी व क्षपकश्रेणी, सयोग केवली व अयोग केवली आदि का भी वर्णन है। श्रेणीकाल मे होने वाले अध करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण परिणामो के तारतम्य को वहुत वारीकी से गणित द्वारा समझाया गया है। अन्त मे लब्धिसार और क्षपणासार के विषय को सदृष्टियो द्वारा स्पष्ट किया गया है।

वैसे तो प्रत्येक महाअधिकार के अन्त मे उपसहारात्मक छोटी-छोटी प्रशस्तियाँ दी गई है किन्तु सर्वान्त मे त्रेसठ छन्दो की विस्तृत प्रशस्ति दी गई है, जिसमे ग्रथ सम्वन्धी चर्चा ही अधिक की गई है, लेखक के सम्बन्ध मे वहुत कम लिखा गया है। जो कुछ लिखा गया है वह आध्यात्मिक दृष्टिकोण से लिखा गया है। उसमे उनके आध्यात्मिक जीवन की झलक तो मिल जाती है किन्तु भौतिक जीवन की जानकारी न के वरावर प्राप्त होती है।

सम्यग्ज्ञानचद्रिका विवेचनात्मक गद्यशैली मे लिखी गई है। प्रारभ मे इकहत्तर पृष्ठ की पीठिका है। आज नवीन शैली से सपादित ग्रथो मे प्रस्तावना का बडा महत्त्व माना जाता है। शैली के क्षेत्र मे दो सौ वीस वर्ष पूर्व लिखी गई सम्यग्ज्ञानचद्रिका की पीठिका आधुनिक भूमिका का आरभिक रूप है। सम्यग्ज्ञानचद्रिका की पीठिका, भूमिका का आद्य रूप होने पर भी उसमे प्रौढता पाई जाती है। हल्कापन कही भी देखने को नही मिलता। इसके पढने से ग्रथ का पूरा हार्द खुल जाता है एव इस गूढ ग्रथ के पढने मे आने वाली पाठक की समस्त कठिनाइयाँ दूर हो जाती है। हिन्दी आत्मकथा-साहित्य मे जो महत्त्व महाकवि वनारसीदास के 'अर्द्धकथानक' को प्राप्त है, वही महत्त्व हिन्दी भूमिका-साहित्य मे 'सम्यग्ज्ञानचद्रिका' की पीठिका का है।

विषय को गणित के माध्यम से समझाया गया है। विषय को स्पष्ट करने के लिए सदृष्टियो के चार्टस् तैयार किये गए है। सदृष्टियो का प्रयोग यथास्थान तो किया ही गया है, साथ मे एक सदृष्टि अधिकार अलग से भी लिखा गया है।

गोम्मटसार पूजा

'गोम्मटसार पूजा' प० टोडरमल की एक मात्र प्राप्त पद्यकृति है। इसमे उन्होने गोम्मटसार जीवकाण्ड, गोम्मटसार कर्मकाण्ड एव लब्धिसार और क्षपणासार नामक महान सिद्धान्त-ग्रथो के प्रति अपनी भक्ति-भावना व्यक्त की है। यह ५७ छन्दो की छोटी सी कृति है, जिसमे ४५ छन्द सस्कृत भाषा मे एव १२ छन्द हिन्दी भाषा मे है। इसमे पूजा के अष्टक और प्रत्येक पूजा के अर्घ[1] सम्वन्धी छन्द सस्कृत भाषा मे लिखे गए है तथा जयमाल हिन्दी भाषा मे है।

यह कृति प्रकाशित हो चुकी है[2]। पडित कमलकुमार शास्त्री व फूलचद 'पुष्पेन्दु' खुरई ने इसके सस्कृत छन्दो का हिन्दी भाषा मे

[1] जलादि अष्ट द्रव्य के समुदाय को अर्घ कहा जाता है।

[2] भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी सस्था, श्याम वाजार, कलकत्ता

पद्यानुवाद भी किया है। वह भी मूल के साथ प्रकाशित हो चुका है[1]। इसकी प्राचीन हस्तलिखित प्रतिलिपियाँ भी प्राप्त है।

यद्यपि इसमे गोम्मटसार जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड के अतिरिक्त लब्धिसार और क्षपणासार की भी स्तुति है, उन्हे भी अर्घ दिए गए है और गोम्मटसार के मूलस्रोत धवल, जयधवल एव महाधवल की भी चर्चा है, कुन्दकुन्दाचार्य देव को भी याद किया गया है, तथापि मुख्य रूप से गोम्मटसार पर लक्ष्य रहा है, अत इसका नाम 'गोम्मटसार पूजा' ही उपयुक्त है। यह नाम लेखक को भी इष्ट है एव समाज मे प्रचलित भी यही है।

सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका मे पडित टोडरमल ने जिन महान ग्रथो की भापाटीकाएँ लिखी है, उन्ही के प्रति अन्तर मे उठी भक्ति-भावना ही इस रचना की प्रेरक रही है तथा उनके प्रति भक्तिभाव प्रकट करना ही इसका उद्देश्य रहा है। ऐसा लगता है कि इसकी रचना सम्यग्ज्ञान-चद्रिका की रचना के उपरान्त हुई होगी। जब सम्यग्ज्ञानचद्रिका समाप्त हुई तो पडित टोडरमल को बहुत प्रसन्नता हुई थी, जिसका उल्लेख उन्होने स्वय किया है[2]। उक्त प्रसन्नता के उपलक्ष्य मे उन ग्रथो की पूजा का उत्सव किया गया होगा और उस निमित्त इस पूजा का निर्माण हुआ लगता है। सम्यग्ज्ञानचद्रिका की समाप्ति माघ शुक्ला ५ वि० स० १८१८ को हुई है, अत उसी समय इसका रचनाकाल माना जा सकता है। यदि और पहले की इस रचना को माने तो वि० स० १८१५ तक पहुँचा जा सकता है क्योकि तब तक सम्यग्ज्ञानचद्रिका तैयार हो चुकी थी। पूजा की जयमाल मे इस टीका के लिखे जाने का स्पष्ट उल्लेख है[3], किन्तु साथ ही राजा जयसिह के नाम का भी उल्लेख है जिससे सशय उत्पन्न होता है कि

---

[1] श्री कुन्थुसागर स्वाध्याय सदन, खुरई

[2] "आरभो पूरण भयौ, शास्त्र सुखद प्रासाद।
अब भये हम कृतकृत्य उर, पायो अति आह्लाद ॥"
— स० च० प्र०

[3] गोम्मटसार पूजा, १२

यदि जयसिह के राज्यकाल मे इसकी रचना हुई माने तो फिर विक्रम सवत् १८०० के पूर्व की रचना मानना होगा क्योकि राजा जयसिह का राज्यकाल विक्रम सवत् १८०० तक ही रहा है[1] और उसके पूर्व सम्यग्ज्ञानचद्रिका का निर्माण मानना होगा, जब कि 'सम्यग्ज्ञानचद्रिका प्रशस्ति' मे विक्रम सवत् १८१८ मे बनने का स्पष्ट उल्लेख है। बारीकी से अध्ययन करने पर यह सशय उत्पन्न होता है कि क्या पूजा की जयमाल पडित टोडरमल की ही बनाई हुई है ? शका के कारण निम्नानुसार है :—

(क) पूर्ण पूजा सस्कृत मे है, फिर जयमाल हिन्दी मे क्यो ? पूजा के समान जयमाल भी सस्कृत मे होनी चाहिए थी।

(ख) "भाषा रचि टोडरमल शुद्ध, सुनि रायमल्ल जैनी विशुद्ध" क्या यह पक्ति स्वय पडित टोडरमल लिख सकते थे, जिसमे स्वय रचित भाषाटीका को शुद्ध कहा गया हो, जब कि उन्होने अपनी अन्य कृतियो मे सर्वत्र लघुता प्रगट की है ?

(ग) राजा जयसिह के राज्यकाल मे न लिखी जाकर भी क्या पडित टोडरमल द्वारा जयसिह के नाम का उल्लेख किया जा सकता था ?

ऐसा लगता है या तो पडित टोडरमल ने इसकी जयमाल लिखी ही न हो या फिर खो गई हो और बाद मे किसी धर्मप्रेमी बधु ने पूजा मे जयमाल का अभाव देख कर स्वय बना दी हो, और उसमे उक्त दोषो का ध्यान न रखा जा सका हो। जयमाल की रचना भी उनके स्तर के अनुरूप नही लगती।

इसका रचनाकाल सम्यग्ज्ञानचद्रिका की रचना के उपरान्त ही माना जा सकता है। इसकी रचना जयपुर मे ही हुई है क्योकि सम्यग्ज्ञानचद्रिका का अतिम निर्माण जयपुर मे ही हुआ था।

---

[1] राजस्थान का इतिहास, ६३७

यह एक पूजा है, अत इसमे वर्ण्य-विषय की मुख्यता नही है। सर्वप्रथम स्थापना का छन्द है, जिसमे गोम्मटसार की भक्तिपूर्वक हृदय मे स्थापना की गई है। तदुपरान्त जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फल और अर्घ से अर्चा की गई है। इसके बाद गोम्मटसार जीवकाण्ड के प्रत्येक अधिकार मे वर्णित विषय का सकेत देते हुए प्रत्येक अधिकार को अर्घ समर्पित किये गए है। तदनन्तर गोम्मटसार कर्मकाण्डगत प्रत्येक अधिकार को भी इसी प्रकार अर्घ समर्पित है। उक्त अर्घो के अन्त मे एक अर्घ लब्धिसार-क्षपणासार को दिया गया है।

इसके बाद जयमाल आरभ होती है। जयमाल मे पचपरमेष्ठी, चौबीस तीर्थकर व गणधरदेव को नमस्कार करके गोम्मटसार शास्त्र मे वर्णित विषय का सक्षिप्त एव सकेतात्मक वर्णन है। उसके बाद आदि शास्त्रकर्त्ता आचार्य कुन्दकुन्द एव धवलादि शास्त्रो के सार को लेकर गोम्मटसार बनाने वाले आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती को स्मरण कर पडित टोडरमल द्वारा भाषाटीका बनाने की चर्चा है।

जैनियो की पूजन-प्रणाली की एक निश्चित पद्धति है, उसी मे इस पूजा की भी रचना हुई है। प्रारम्भ मे स्थापना, उसके बाद जलादि अष्ट द्रव्यो से पूजन, उसके बाद आवश्यक अर्घ और अन्त मे जयमाल होती है, जिसमे पूज्य के गुणो का स्तवन होता है। इस पूजन मे इसी परम्परागत शैली का अनुकरण है।

त्रिलोकसार भाषाटीका

'त्रिलोकसार' आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती द्वारा रचित ग्रथ है। इसमे तीनो लोको (उद्ध्र्व, मध्य, अध)का विस्तृत वर्णन है। इस ग्रथ पर पडित टोडरमल ने सरल, सुबोध भाषा मे भाषाटीका लिखी है, जो हिन्दी साहित्य प्रसारक कार्यालय, हीराबाग, बम्बई से प्रकाशित हो चुकी है। इसकी दो सौ वर्ष से भी अधिक प्राचीन कई हस्तलिखित प्रतिलिपियाँ प्राप्त है। यह करणानुयोग का ग्रथ है। इसको समझने के लिए गणित का ज्ञान होना बहुत आवश्यक है। अत यह ग्रथ प्राय विद्वानो के अध्ययन का ही विषय बना रहा।

इस टीका का नाम पडित टोडरमल ने कुछ नही दिया। पडित परमानन्द शास्त्री इसे भी सम्यग्ज्ञानचद्रिका मे सम्मिलित मानते है[1], पर ग्रथकार ने स्पष्ट रूप से कई स्थानो पर लिखा है कि 'सम्यग्ज्ञान-चद्रिका' गोम्मटसार जीवकाण्ड, गोम्मटसार कर्मकाण्ड, लब्धिसार और क्षपणासार की टीका का नाम है[2]। कही भी त्रिलोकसार के नाम का उल्लेख नही किया है। लब्धिसार-क्षपणासार भाषाटीका समाप्त करते हुए लिखा है, "इति श्रीमत् लब्धिसार वा क्षपणासार सहित गोम्मटसार शास्त्र की सम्यग्ज्ञानचद्रिका भाषाटीका सम्पूर्ण[3]।" अत यह तो निश्चित ही है कि 'त्रिलोकसार भाषाटीका' सम्यग्ज्ञान-चद्रिका का अग नही है।

हिन्दी साहित्य प्रसारक कार्यालय, गिरगाव, वम्बई से प्रकाशित त्रिलोकसार के मुखपृष्ठ पर 'भाषा बचनिका' शब्द का उल्लेख है किन्तु उन्होने इस नाम का उल्लेख किस आधार पर किया है इसका पता नही चलता है, जब कि उन्ही के द्वारा प्रकाशित इस ग्रथ की

---

[1] मो० मा० प्र० प्रस्तावना, २८

[2] श्रीमत् लब्धिसार वा क्षपणासार सहित श्रुत गोमटसार।
ताकी सम्यग्ज्ञानचद्रिका भाषामय टीका विस्तार॥
प्रारभी पूरन हुई, भए समस्त मगलाचार।
सफल मनोरथ भयो हमारो, पायो ज्ञानानन्द अपार॥१॥
या विधि गोम्मटसार लब्धिसार ग्रथनि की,
भिन्न भिन्न भाषाटीका कीनी अर्थ गायकैं।
इनिकैं परस्पर सहायकपनौ देख्यौ,
तातैं एक करि दई हम तिनकौं मिलाइकैं॥
सम्यग्ज्ञानचद्रिका धर्यो है याको नाम,
सोई होत है सफल ज्ञानानन्द उपजाय कैं।
कलिकाल रजनी मे अर्थ को प्रकाश करै,
यातैं निज काज कीजै इष्ट भाव भायकैं॥३०॥
— स० च० प्र०

[3] श्री दि० जैन बडा मदिर तेरापथियान, जयपुर मे प्राप्त हस्तलिखित प्रति (वि० स० १८५०), पृ० २८५

भूमिका[1] (पीठिका) तथा अतिम प्रशस्ति[2] मे 'भापाटीका' शब्द मिलता है। अत इसका सही नाम 'त्रिलोकसार भाषाटीका' ही है।

त्रिलोकसार मूल ग्रथ प्राकृत भाषा मे गाथावद्ध है, जिसमे १०१८ गाथाएँ है। इसकी सस्कृत टीका आचार्य माधवचद्र त्रैविद्य के द्वारा बनाई गई थी[3]। इसके आधार पर ही इस भाषाटीका का निर्माण हुआ है[4]। इस टीका का निर्माण टीकाकार की अन्त प्रेरणा[5] एव ब्र० रायमल की प्रेरणा[6] से हुआ है। स्वपर-हित, धर्मानुराग तथा करुणाबुद्धि ही अन्त प्रेरणा की प्रेरक रही है। सस्कृत, प्राकृत भाषा ज्ञान से रहित मन्दबुद्धि जिज्ञासु जीवो को त्रिलोक सबधी ज्ञान प्राप्ति की सुविधा प्रदान करना ही इसका मुख्य उद्देश्य रहा है[7]।

'त्रिलोकसार भापाटीका' की रचना सम्यग्ज्ञानचद्रिका की रचना के उपरान्त ही हुई क्योकि पडित टोडरमलजी ने सम्यग्ज्ञानचद्रिका का उल्लेख त्रिलोकसार भापाटीका के परिशिप्ट मे किया है। वे लिखते है, "बहुरि अलौकिक गणित अपेक्षा गणितनि की सदृष्टि

[1] "इस श्रीमत् त्रिलोकसार नाम शास्त्र के सूत्र नेमिचन्द्र नामा सिद्धान्तचक्रवर्ती करि विरचित है। तिनकी सस्कृत टीका की अनुसार लैई इस **भाषाटीका** विपै अर्थ लिखौगा।"

[2] "ग्रथ त्रिलोकसार की **भाषाटीका** पूरन भई प्रमान।
याके जाने जानतु है सब नाना रूप लोक सस्थान॥"

[3] पु० जै० वा० सू०, ९२

[4] "अथ मगलाचरण करि श्रीमत् त्रिलोकसार नाम शास्त्र की **भाषाटीका** करिए है। अब सस्कृत टीका अनुसार लिए मूल शास्त्र का अर्थ लिखिये।"
– त्रिलोकसार, १

[5] "तहा प्रशस्त राग करि मेरे ऐसी इच्छा भई जो शास्त्र का अर्थ भापा रूप अक्षरनि करि लिखिए तौ इस क्षेत्र काल विपै मदबुद्धि घने है, तिनका भी कल्याण होई।" – त्रिलोकसार पी०

[6] जीवन पत्रिका, परिशिष्ट १

[7] त्रिलोकसार, १

वा सकलनादि की सदृष्टि का वर्णन गोम्मटसार शास्त्र की भाषाटीका[1] विषै सदृष्टि अधिकार कीया है तहा लिखी है, सो तहा तै जाननी[2] ।"

सम्यग्ज्ञानचद्रिका टीका विक्रम सवत् १८१८ मे समाप्त हुई पर उसका निर्माण कार्य तो वि० स० १८१५ मे हो चुका था । शेष तीन वर्ष तक तो उसका सशोधनादि कार्य चलता रहा । इसी बीच त्रिलोकसार भाषाटीका भी बन चुकी थी । दि० जैन बडा मदिर तेरापथियान, जयपुर मे प्राप्त आसोज कृष्णा ५ वि० स० १८१५ मे लिखित भूधरदास के 'चर्चा समाधान' नामक हस्तलिखित ग्रथ पर प्राप्त उल्लेख[3] मे त्रिलोकसार भाषाटीका लिखे जाने की भी चर्चा है । सम्यग्ज्ञानचद्रिका की पीठिका मे त्रिलोकसार भाषाटीका की पीठिका लिखी जा चुकने का भी उल्लेख[4] है । वि० स० १८२१ के पूर्व लिखी जाने की बात तो माघ शुक्ला ५ विक्रम सवत् १८२१ मे लिखित ब्र० रायमल की 'इन्द्रध्वज विधान महोत्सव पत्रिका' के उल्लेखो से सिद्ध है ही किन्तु इसका सशोधनादि कार्य वि० स० १८२३ तक चलता रहा, जैसा कि श्रावण कृष्णा ४ वि० स० १८२३ की चदेरी मे लिखी त्रिलोकसार की प्रति के निम्नलिखित उल्लेख से स्पष्ट है –

"यह टीका खरडा की नकल उतरी है । मल्लजी कृत पीठबध आदि सम्पूर्ण नही भई है । मूल को अर्थ सम्पूर्ण आय गयो है । परन्तु सौधि अर मल्लजी को फरि उतरावणी छै । वीछति होवा के वास्ते जेतै खरडा ही उतार लिया है । तिहिस्यौ और परती इहीस्यौ उतरवाज्यौ मती ।"

उक्त विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि इसकी रचना (रफ कापी) तो विक्रम सवत् १८१५ मे हो चुकी थी किन्तु इसका सशोधनादि कार्य वि० स० १८२३ तक चलता रहा ।

---

[1] गोम्मटसार भाषाटीका सम्यग्ज्ञानचद्रिका का ही एक अग है ।

[2] त्रि० भा० टी० परिशिष्ट, २१

[3] देखिए प्रस्तुत ग्रथ, ७६

[4] स० च० पी०, ६१

त्रिलोकसार भाषाटीका की रचना सिघाणा मे हो चुकी थी पर इसका सशोधनादिकार्य जयपुर मे ही हुआ। ब्र० रायमत ने इस सवध मे अपनी जीवन पत्रिका मे स्पष्ट उल्लेख किया है[1]। त्रिलोकसार भाषाटीका का परिमाण ब्र० रायमल द्वारा चौदह हजार श्लोक प्रमाण बताया गया है[2]।

सम्यग्ज्ञानचद्रिका के समान इसके आरभ मे भी पीठिका लिखी गई है। इसमे रचना का प्रयोजन, उद्देश्य एव ग्रथकार ने अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए वक्ता-श्रोता की योग्यता और ग्रथ की प्रामाणिकता पर विचार किया है। ग्रथारम्भ मगलाचरणपूर्वक किया गया है। ग्रथ के नामानुसार इसमे तीन लोक की रचना का विस्तार से वर्णन किया गया है। यह एक तरह से जैन दर्शन सम्बन्धी भूगोल का ग्रथ है। इसमे गणित के माध्यम से तीन लोक की रचना को समझाया गया है। अत आरम्भ मे गणित के ज्ञान की आवश्यकता प्रतिपादित करते हुए आवश्यक गणित को विस्तार से समझाया गया है। सर्वप्रथम परिकर्माष्टक का स्वरूप समझाते हुए उसके निम्न आठ अगो को स्पष्ट किया है – (१) सकलन, (२) व्यकलन, (३) गुणाकार, (४) भागहार, (५) वर्ग, (६) वर्गमूल, (७) घन, और (८) घनमूल। उसके बाद त्रैराशिक श्रेणीव्यवहार, सर्वधारा, क्षेत्रमिति (रेखागणित) आदि का वर्णन किया है। इसके वाद ग्रथ का मूल विषय आरम्भ होता है। इसके छ अधिकार है –

(१) लोक सामान्य अधिकार
(२) भवनवासी लोक अधिकार
(३) व्यतर लोक अधिकार
(४) ज्योतिर्लोक अधिकार
(५) वैमानिक लोक अधिकार
(६) मनुष्यतिर्यग्लोक अधिकार

---

[1] परिशिष्ट १

[2] वही

लोक सामान्य अधिकार मे तीनो लोको का सामान्य वर्णन करके अधोलोक का विस्तार से वर्णन किया गया है। अधोलोक के वर्णन मे सातो नरको की रचना; उनके बिल, बिलो की सख्या, उनके पटल, पटलो की सख्या तथा नारकियो के दु ख, स्थिति आदि का वर्णन किया गया है।

भवनवासी लोक अधिकार मे भवनवासी देवो के निवास, आयु, उनके भेद-प्रभेदो आदि का विस्तार से वर्णन है।

व्यतर लोक अधिकार मे व्यतर जाति के देवो के भेद-प्रभेद, निवास, आयु, स्वभाव आदि का विस्तृत वर्णन है।

ज्योतिर्लोक अधिकार मे ज्योतिषी देवो के भेद-प्रभेद, उनके विमान, स्थान, आयु आदि का विस्तृत विवेचन है।

वैमानिक लोक अधिकार मे वैमानिक देवो के निवास स्थान ऊर्द्ध्वलोक का वर्णन है – जिसमे सोलह स्वर्ग, नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश, पच पचोत्तर विमानो का एव उनमे रहने वाले इन्द्र, अहमिन्द्र, देव-देवांगनाओ की स्थिति, लेश्या, सुख, ऊचाई, वैभव आदि का विस्तृत वर्णन है।

मनुष्यतिर्यग्लोक अधिकार मे मध्यलोक का वर्णन है – जिसमे जम्बूद्वीप आदि द्वीपो और लवणसमुद्र आदि समुद्रो का विस्तारपूर्वक वर्णन है। जम्बूद्वीप के अन्तर्गत भरत आदि सात क्षेत्र, हिमवन् आदि छ पर्वत, पद्म आदि छ तालाब, गगा–सिधु आदि चौदह नदियो, सुमेरु पर्वत, विजयार्द्ध पर्वत, आर्य खड, म्लेच्छ खड आदि का विस्तृत वर्णन है। इसी प्रकार धातकी खण्ड आदि द्वीपो का भी विस्तार से वर्णन है। तदनन्तर भरत क्षेत्र मे अवसर्पिणी कालोत्पन्न चौदह कुलकर, चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नव नारायण, नव प्रतिनारायण, नव बलभद्र आदि के नाम, समय आदि का एव अकृत्रिम जिन चैत्यालयो का तथा नन्दीश्वर द्वीप मे स्थित जिन चैत्यालयो एव जिनबिम्बो आदि का भी विस्तृत वर्णन है।

अन्त में प्रशस्तिपूर्वक ग्रथ समाप्त होता है।

यह टीका भी सम्यग्ज्ञानचद्रिका के समान विवेचनात्मक गद्यशैली मे लिखी गई है। उसके समान इसके आरभ मे भी पीठिका है, जो कि आधुनिक भूमिका का ही पूर्व रूप है। यद्यपि यह टीका सस्कृत टीका के अनुकरण पर लिखी गई है तथापि यह मात्र अनुवाद ही नही है, किन्तु गूढ विषयो की स्पष्टता के लिए यथास्थान समुचित विस्तार किया गया है। आवश्यकतानुसार विषय का सकोच भी किया गया है, जैसा कि टीकाकार ने स्वय स्वीकार किया है[१]। रचनाशैली सरल, सुबोध एव प्रवाहमयी है।

समोसरण वर्णन

तीर्थंकर भगवान की धर्मसभा का वर्णन करने वाली यह रचना अब तक अज्ञात थी। श्री ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन, बम्बई मे एक त्रिलोकसार टीका की प्रति प्राप्त हुई है। यह प्रति मार्गशीर्ष कृष्णा १३ वि० स० १८३३ की लिखी हुई है। इसे रायमल्लजी ने चदेरी मे लिपिकार वैद्य फैजुल्लाखाँ द्वारा लिखाया था। प्रति के अन्त मे इस बात का स्पष्ट उल्लेख है। 'समोसरण वर्णन' नामक यह रचना त्रिलोकसार की इसी प्रति के अन्त मे प्राप्त हुई है। अभी तक इसका प्रकाशन नही हुआ है।

पडित टोडरमल ने इसके नाम के रूप में 'समोसरण' और 'समवसरण' दोनो शब्दो का प्रयोग किया है। ग्रथ के आरभ[२] और अन्त[३] मे 'समोसरण' शब्द का प्रयोग है तथा मगलाचरण के दोहा मे 'समवसरण'[४] का। तीर्थंकर भगवान की धर्मसभा के लिए दोनो ही

---

[१] "तिनकी सस्कृत टीका का अनुसार लैंई इस भाषा टीका विपै अर्थ लिखौगा। कही कोई अर्थ न भासैगा, ताकौ न लिखौगा। कही समझाने के अर्थ वधाय करि लिखौगा।" – त्रि० भा० टी० परिशिष्ट

[२] त्रि० भा० टी० हस्तलिखित प्रति, ३१६
– ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वती भवन, बम्बई

[३] वही, ३२७

[४] "असरण सरन जिनेस को, समवसरन शुभ थान"

नामो का प्रयोग शास्त्रो मे मिलता है तथा समाज मे भी दोनो ही नाम प्रचलित है। आदि और अन्त मे 'समोसरण' शब्द का प्रयोग होने से हमने इस कृति के नाम के रूप मे उसका ही प्रयोग उचित समझा है। हमे जो एक मात्र प्रति प्राप्त हुई है, उसमे 'समोसरण' के 'ण' के स्थान पर एकाध स्थान पर 'न' का प्रयोग भी मिला है, किन्तु अधिकाश स्थानो पर 'ण' का ही प्रयोग है। अत हमने 'ण' को ही ग्रहण किया है।

यह रचना त्रिलोकसार के अन्त मे लिखी हुई अवश्य प्राप्त हुई है पर यह त्रिलोकसार ग्रथ का अग नही है। यह एक स्वतत्र रचना है। इसका आधार भी त्रिलोकसार ग्रथ नही है। इसका आधार 'धर्म संग्रह श्रावकाचार, आदि पुराण, हरिवश पुराण, और त्रिलोक प्रज्ञप्ति' है। ग्रथ के आरभ मे ग्रथकार ने इस तथ्य को स्पष्ट स्वीकार किया है[1]।

'समोसरण वर्णन' लिखने की प्रेरणा पडित टोडरमल को त्रिलोकसार भाषाटीका मे वर्णित अकृत्रिम जिन चैत्यालयों के वर्णन से प्राप्त हुई। अकृत्रिम जिन चैत्यालयो मे अरहन्त प्रतिमाएँ रहती है, ये एक तरह से समोसरण के ही प्रतिरूप है। उनके वर्णन के समय पडित टोडरमल को यह विचार आया कि अरहन्त की साक्षात् धर्मसभा समोसरण का भी वर्णन करना चाहिए[2]। इसका उद्देश्य अरहन्त भगवान की धर्मसभा समोसरण की रचना का सामान्य ज्ञान जनसाधारण को देना है। इसकी रचना त्रिलोकसार भाषाटीका के बाद ही हुई है। अत· विक्रम सम्वत् १८१८ से वि० स० १८२४ के बीच ही इसका रचनाकाल रहा है।

इसमे तीर्थंकर भगवान की धर्मसभा का वर्णन किया गया है। जैन परिभाषा मे तीर्थंकर भगवान की धर्मसभा को 'समोसरण' या

---

[1] "आगै धर्मसग्रह श्रावकाचार वा आदि पुराण वा हरिवश पुराण, वा त्रिलोक प्रज्ञप्ति या कै अनुसारि समोसरण का वर्णन करिए है। सु हे भव्य तू जानि।"

[2] त्रि० भा० टी० हस्तलिखित प्रति, ३१९
– ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वती भवन, बम्बई

'समवशरण' कहते है। इसकी रचना इन्द्र की आज्ञा से कुबेर करता है और इसमे देव, मनुष्य, स्त्री, पुरुष, पशु-पक्षी आदि सभी के बैठने की पूरी-पूरी व्यवस्था रहती है। भगवान की दिव्यवाणी सुनने का लाभ सभी प्राणियो को समान भाव से प्राप्त होता है। अतिशययुक्त भगवान की वाणी को सभी अपनी-अपनी भाषा मे समझ लेते है।

ग्रथ का आरभ मगलाचरण रूप दोहा से किया गया है, जिसमे इष्ट देव का स्मरण कर 'समोसरण वर्णन' के लिखने की प्रतिज्ञा की गई है। यह वर्णन दो भागो मे विभक्त है –

(१) समोसरण वर्णन

(२) विहार वर्णन

समोसरण वर्णन मे समोसरण का विस्तार, लम्बाई, चौडाई, ऊचाई, द्वार, सोपान, मानस्तम्भ, कोट, खाइयाँ, उपवन, बावडी, नृत्यशालाये, सभा भवन और अष्ट प्रातिहार्य तथा समोसरण मे विद्यमान अतिशयो का विस्तृत वर्णन है।

विहार वर्णन मे तीर्थंकर भगवान के विहार (गमन), समोसरण के विघटन, मार्ग की स्वच्छता, निष्कटकता, अनेक अतिशययुक्तता, विहार का कारण आदि का वर्णन है।

ग्रथ की समाप्ति 'ऐसे विहार सहित समोसरण का वर्णन सम्पूर्णम्' वाक्य द्वारा की गई है।

यह रचना वर्णनात्मक गद्यशैली मे लिखी गई है। आज के वर्णनात्मक निबधो का यह करीब २१० वर्ष पुराना रूप है। अपने प्रारभिक रूप मे होने पर भी इसमे शिथिलता और अव्यवस्था नही पाई जाती है। प्रत्येक वस्तु का बारीकी से वर्णन किया गया है, फिर भी प्रवाह मे रुकावट नही आई है। भाषा सहज, सरल एव प्रवाहमयी है। किसी भी वर्णनात्मक निबध की विशेषता इस बात मे है कि जिसका वर्णन किया जा रहा हो, उसका चित्र पाठक के ध्यान मे आ जावे। यह रचना इस कसौटी पर खरी उतरती है।

मोक्षमार्ग प्रकाशक

मोक्षमार्ग प्रकाशक पडित टोडरमल का एक महत्त्वपूर्ण ग्रथ है। इस ग्रथ का आधार कोई एक ग्रथ न होकर सम्पूर्ण जैन साहित्य है। यह सम्पूर्ण जैन सिद्धान्त को अपने मे समेट लेने का एक सार्थक प्रयत्न था पर खेद है कि यह ग्रथराज पूर्ण न हो सका। अन्यथा यह कहने मे सकोच न होता कि यदि सम्पूर्ण जैन वाङ्मय कही एक जगह सरल, सुबोध और जनभाषा मे देखना हो तो मोक्षमार्ग प्रकाशक को देख लीजिए। अपूर्ण होने पर भी यह अपनी अपूर्वता के लिये प्रसिद्ध है। यह एक अत्यन्त लोकप्रिय ग्रथ है जिसके कई सस्करण निकल चुके है[1],

	प्रकाशक	प्रकाशन तिथि	भाषा	प्रतियाँ
[1] (क)	बाबू ज्ञानचदजी जैन, लाहौर	वि० स० १९५४	ब्रजभाषा	१०००
(ख)	जैनग्रथ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई	सन् १९११ ई०	,,	३०००
(ग)	बाबू पन्नालाल चौधरी, वाराणसी	वी० नि० स० २४५१	,,	१०००
(घ)	अनन्तकीर्ति ग्रथमाला, बम्बई	वी० नि० स २४६३	,,	१०००
(ङ)	सस्ती ग्रथमाला, दिल्ली		,,	४०००
(च)	सस्ती ग्रथमाला, दिल्ली		,,	१०००
(छ)	सस्ती ग्रथमाला, दिल्ली		,,	२३००
(ज)	सस्ती ग्रथमाला, दिल्ली	सन् १९६५ ई०	,,	२२००

एव खडी बोली मे इसके अनुवाद भी कई वार प्रकाशित हो चुके है[१]। यह उर्दू मे भी छप चुका है[२]। गुजराती और मराठी मे इसके अनुवाद प्रकाशित हो चुके है[३]। समूचे समाज मे यह स्वाध्याय और प्रवचन का लोकप्रिय ग्रथ है। इसकी मूल प्रति भी उपलब्ध है[४] एव उसके फोटोप्रिन्ट करा लिए गए है जो जयपुर[५], बम्बई[६], दिल्ली[७] और सोनगढ[८] मे सुरक्षित है। इस पर स्वतत्र प्रवचनात्मक व्याख्याएँ भी मिलती है[९]।

	प्रकाशक	प्रकाशन तिथि	भाषा	प्रतियाँ
१ (क)	भा० दि० जैन सघ, मथुरा	वी० नि० स० २००५	खडी बोली	१०००
(ख)	श्री दि० जैन स्वाध्याय मदिर ट्रस्ट, सोनगढ	वि० स० २०२३	,,	११०००
(ग)	श्री दि० जैन स्वाध्याय मदिर ट्रस्ट, सोनगढ	वि० स० २०२६	,,	७०००
२	दाताराम चैरिटेबिल ट्रस्ट, १५८३, दरीबाकलाँ, देहली	वि० स० २०२७	उर्दू	१०००
३ (क)	श्री दि० जैन स्वाध्याय मदिर ट्रस्ट, सोनगढ		गुजराती	६७००
(ख)	महावीर ब्र० आश्रम, कारजा		मराठी	२०००

४ श्री दि० जैन मदिर दीवान भदीचदजी, घी वालो का रास्ता, जयपुर

५ वही

६ श्री दि० जैन सीमधर जिनालय, जवेरी बाजार, बम्बई

७ श्री दि० जैन मुमुक्षु मडल, श्री दि० जैन मदिर, धर्मपुरा, देहली

८ श्री दि० जैन स्वाध्याय मदिर ट्रस्ट, सोनगढ

९ आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी द्वारा किये गए प्रवचन, 'मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरणे' नाम से दो भागो मे दि० जैन स्वाध्याय मदिर ट्रस्ट, सोनगढ से हिन्दी व गुजराती मे कई बार प्रकाशित हो चुके है।

ग्रथ के नाम के सम्बन्ध मे विद्वानो मे दो मत है –
(१) मोक्षमार्ग प्रकाश (२) मोक्षमार्ग प्रकाशक

प्रथम मत मानने वाले डॉ० लालबहादुर शास्त्री है। उन्होंने अपने मत की पुष्टि मे निम्नलिखित तर्क दिये है[1] –

(१) पडित टोडरमल ने स्वय मगलाचरण के बाद ग्रथ की उत्थानिका मे इसका नाम –'मोक्षमार्ग प्रकाश' स्वीकार किया है जैसा कि उनकी इस पक्ति से स्पष्ट है –

"अथ मोक्षमार्ग प्रकाश नाम शास्त्र का उदय हो है"

(२) १८८० वि० मे जयपुर निवासी पडित जयचद्र ने काशी निवासी वृन्दावनदास को एक पत्र मे उनके प्रश्न का उत्तर देते हुए ग्र थ का नाम 'मोक्षमार्ग प्रकाश' लिखा है।

(३) इस नाम वाले अन्य ग्रथो मे भी 'प्रकाश' शब्द देखा गया है, 'प्रकाशक' नही। योगीन्द्रदेव कृत 'परमात्म प्रकाश' इसका उदाहरण है।

डॉ० शास्त्री के उक्त कथन विशेष महत्त्वपूर्ण और साधार प्रतीत नही होते। मोक्षमार्ग प्रकाशक की मूल प्रति मे 'प्रकाशक' शब्द पाया गया है, 'प्रकाश' नही। उक्त पक्ति इस प्रकार है –

"अथ मोक्षमार्ग प्रकाशक नाम सास्त्र का उदय हो है[2]।"

जहाँ तक पडित जयचद के पत्र की बात है, जिसमे 'मोक्षमाग प्रकाश' दिया है – उस पत्र के सदर्भ का उल्लेख डॉ० शास्त्री ने नही किया है, लेकिन वह श्री नाथूराम प्रेमी द्वारा सपादित 'वृन्दावन विलास' के अन्त मे दिया गया पत्र प्रतीत होता है। श्री नाथूराम प्रेमी द्वारा प्रकाशित मोक्षमार्ग प्रकाशक मे कही 'मोक्षमार्ग प्रकाश', कही 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' दोनो ही शब्दो का प्रयोग किया गया है।

---

[1] मो० मा० प्र० मथुरा, भूमिका, ४

[2] उक्त पृष्ठ की मूल प्रति का ब्लाक अधिकाश प्रकाशित मोक्षमार्ग प्रकाशको मे छपा है। यहाँ भी संलग्न है।

ॐ मोक्षः

ॐ नमः सिद्धं॥ अथ मोक्षमार्गप्रकाशक नाम शास्त्र लिख्यते॥ दोहा॥ मंगलमय मंगलकरण वीतराग
विज्ञान॥ नमौं ताहि जातैं भए अरहंतादि महान॥१॥ करि मंगल करिहौं महा ग्रंथ करनकौ काज
जातैं मिलै समाज सब पावै निजपद राज॥२॥ अथ मोक्षमार्गप्रकाशक नाम शास्त्रका उदय हो है। तहां मंग
ल करिए है॥ णमो अरहंताणं॥ णमो सिद्धाणं॥ णमो आयरियाणं॥ णमो उवज्झायाणं॥ णमो लोए
सव्वसाहूणं॥ यह प्राकृतभाषामय नमस्कारमंत्र है सो महामंगलस्वरूप है। बहुरि याका संस्कृत ऐ
सा हो है॥ नमोऽर्हद्भ्यः। नमः सिद्धेभ्यः। नमः आचार्येभ्यः। नम उपाध्यायेभ्यः। नमो लोके सर्वसाधुभ्यः। बहु
रि याका अर्थ ऐसा है। नमस्कार अरहंतनिकै अर्थि। नमस्कार सिद्धनिकै अर्थि। नमस्कार आचार्यनि
कै अर्थि। नमस्कार उपाध्यायनिकै अर्थि। नमस्कार लोकविषै समस्त साधुनिकै अर्थि। ऐसे याविषै नमस्का
र कीया तातैं याका नाम नमस्कारमंत्र है। अब इहां जिनकौं नमस्कार कीया तिनिका स्वरूप चिंत
वन कीजिए है। तहां प्रथम अरहंतनिका स्वरूप विचारिए है। जे गृहस्थपनौं त्यागि मुनिधर्म अंगीकार
करि निजस्वभावसाधनतैं च्यारि घातिकर्मनिकौं खिपाय अनंतचतुष्टयविराजमान भए। तहां अ
नंतज्ञानकरि तौ अपने अनंत गुणपर्यायसहित समस्त जीवादि द्रव्यनिकौं युगपत विशेषपनैं करि
प्रत्यक्ष जानै है। अनंतदर्शनकरि तिनिकौं सामान्यपनैं अवलोकै है। अनंतवीर्यकरि ऐसी सामर्थ्यकौं
धारै है। अनंतसुखकरि निराकुल परमानंदकौं अनुभवै है। बहुरि सर्वथा सर्व रागद्वेषादि विकारभाव
निकरि रहित होय शांतरसरूप परिणए है। बहुरि क्षुधा तृषा आदि समस्त दोषनितैं मुक्त होइ देवाधिदेव

पडित टोडरमलजी के स्वय के हाथ से लिखे हुए 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' का प्रथम पृष्ठ

डॉ० शास्त्री ने प्रेमीजी द्वारा लिखित उक्त नामो को स्वय भ्रमात्मक सिद्ध किया है[1]।

'परमात्म प्रकाश' से मोक्षमार्ग प्रकाशक का दूर का भी सम्बन्ध नही है, अत उसके नाम के आधार पर इसका नाम रखा जाना युक्तिसंगत प्रतीत नही होता।

पडित वशीधरजी ने उक्त ग्रथ का नाम 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' ही लिखा है[2]। समाज मे भी प्रचलित नाम 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' ही है। इसके प्रकाशित सस्करणो मे अधिकाश मे 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' नाम ही दिया गया है, पर किसी-किसी ने कही-कही 'मोक्षमार्ग प्रकाश' नाम भी दे दिया है। जैसे श्री नाथूराम प्रेमी ने मुखपृष्ठ पर मोक्षमार्ग प्रकाश नाम दिया है, पर भीतर सधियो मे मोक्षमार्ग प्रकाशक दिया हुआ है। इसी प्रकार प० रामप्रसाद शास्त्री ने कवर पृष्ठ पर मोक्षमार्ग प्रकाशक और अन्दर भी सधियो मे कई स्थानो पर मोक्षमार्ग प्रकाशक नाम दे रखा है, पर अन्दर मुखपृष्ठ पर मोक्षमार्ग प्रकाश नाम दिया है। इससे पता चलता है कि उक्त विद्वानो का लक्ष्य ग्रन्थ के नाम की ओर नही गया, अन्यथा एक ही सस्करण मे कही मोक्षमार्ग प्रकाशक और कही मोक्षमार्ग प्रकाश देखने को नही मिलता।

पडित परमानन्द शास्त्री ने गत सस्करणो मे मोक्षमार्ग प्रकाश नाम दिया था, पर अतिम सस्करण मे उन्होने मात्र सुधार ही नही किया वरन् भूमिका मे सिद्ध किया है कि ग्रन्थ का नाम मोक्षमार्ग प्रकाशक ही है, मोक्षमार्ग प्रकाश नही। उन्होने अपने मत की पुष्टि मे मूल प्रति का आधार प्रस्तुत किया है।

पडित टोडरमल के अनन्य सहयोगी साधर्मी भाई ब्र० रायमल ने इन्द्रध्वज विधान महोत्सव पत्रिका की मूल प्रति मे[3] उक्त ग्रन्थ का उल्लेख करते हुए ग्रन्थ का नाम 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' ही लिखा है।

---

[1] मो० मा० प्र० मथुरा, भूमिका, ४

[2] आत्मानुशासन, प्रस्तावना, १०

[3] श्री दि० जैन मदिर भदीचन्दजी जयपुर मे प्राप्त, परिशिष्ट १

पडित टोडरमल ने स्वय मूल प्रति मे कई वार 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' शब्द का स्पष्ट उल्लेख किया है[१] तथा ग्रन्थ के नाम की सार्थकता सिद्ध करते हुए इसका नाम अनेक तर्क और उदाहरणो से 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' ही सिद्ध किया है[२]।

प्रकाशक का प्रकाश हो जाना किसी लिपिकार की भूल (पैनस्लिप) का परिणाम लगता है, जिससे यह भ्रम चल पडा। प्रकाश और प्रकाशक मोटे तौर पर एकार्थवाची होने से किसी ने इस पर विशेष ध्यान भी नही दिया। वस्तुत ग्रथ का नाम 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' ही है और यही ग्रथकार को इष्ट है।

पडितजी ने मूल प्रति मे 'मोक्षमार्ग' शब्द को 'मोक्षमार्ग्ग'[३] लिखा है, किन्तु अत्यधिक प्रचलित होने से हमने सर्वत्र 'मोक्षमार्ग' ही रखा है।

इस ग्रन्थ का निर्माण ग्रन्थकार की अन्त प्रेरणा का परिणाम है। अल्पबुद्धि वाले जिज्ञासु जीवो के प्रति धर्मानुराग ही अन्त प्रेरणा का प्रेरक रहा है[४]। ग्रन्थ निर्माण के मूल मे कोई लौकिक आकाक्षा नही थी। धन, यश और सम्मान की चाह तथा नया पथ चलाने का मोह भी इसका प्रेरक नही था, किन्तु जिनको न्याय, व्याकरण, नय और प्रमाण का ज्ञान नही है और जो महान शास्त्रो के अर्थ समझने मे सक्षम नही है, उनके लिये जनभाषा मे सुबोध ग्रन्थ बनाने के पवित्र उद्देश्य से ही इस ग्रन्थ का निर्माण हुआ है[५]।

---

[१] (क) "अथ **मोक्षमार्ग्ग प्रकाशक** नामा शास्त्र लिख्यते।"
— देखिए प्रस्तुत ग्रथ, ११२

(ख) प्रत्येक अधिकार के अन्त मे पडितजी ने **मोक्षमार्ग प्रकाशक** नाम का ही उल्लेख किया है।

[२] मो० मा० प्र०, २७–२९

[३] देखिए प्रस्तुत ग्रथ, ११२

[४] मो० मा० प्र०, २९

[५] वही

यह ग्रन्थ अपूर्ण है, अत ग्रन्थो के अन्त मे लिखी जाने वाली प्रशस्ति का प्रश्न ही नही उठता। इसलिए इसके रचनाकाल का उल्लेख अन्त साक्ष्य से तो प्राप्त होता नही है, पर साधर्मी भाई ब्र० रायमल ने वि० स० १८२१ मे लिखी गई इन्द्रध्वज विधान महोत्सव पत्रिका मे यह लिखा है कि मोक्षमार्ग प्रकाशक बीस हजार श्लोक प्रमाण तैयार हो चुका है[1]। इससे इतना सिद्ध होता है कि वि० स० १८२१ मे वर्तमान प्राप्त मोक्षमार्ग प्रकाशक तैयार हो चुका था। यह भी निश्चित है कि वि० स० १८१८ तक तो पडितजी गोम्मटसारादि ग्रन्थो की टीका सम्यग्ज्ञानचद्रिका के निर्माण मे व्यस्त थे, इसलिए इसका आरम्भ वि० स० १८१८ के बाद ही हुआ होगा। अत इसका रचनाकाल वि० स० १८१८ से १८२१ तक ही होना चाहिए। वैसे भी पडितजी का अस्तित्व ही वि० स० १८२३–२४ के बाद सिद्ध नही होता है, अत यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इसका निर्माण वि० स० १८१८ से वि० स० १८२३–२४ के बीच मे ही हुआ होगा।

मोक्षमार्ग प्रकाशक की रचना जयपुर मे ही हुई क्योकि इसकी रचना सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका (वि० सं० १८१८) के समाप्त होने के उपरान्त हुई है। उक्त समय मे पडितजी जयपुर मे ही रहे है। उनके कही बाहर जाने का कोई उल्लेख प्राप्त नही होता।

प्राप्त मोक्षमार्ग प्रकाशक अपूर्ण है। करीब पॉच सौ पृष्ठो मे नौ अधिकार है। आरभ के आठ अधिकार तो पूर्ण हो गए, किन्तु नौवॉ अधिकार अपूर्ण है। इस अधिकार मे जिस प्रकार विपय (सम्यग्दर्शन) उठाया गया है, उसके अनुरूप इसमे कुछ भी नही कहा जा सका है। सम्यग्दर्शन के आठ अग और पच्चीस दोषो के नाम मात्र गिनाए जा सके है। उनका सांगोपाग विवेचन नही हो पाया है। जहॉ विपय छूटा है वहॉ विवेच्य-प्रकरण भी अधूरा रह गया है,

---

[1] परिशिष्ट १

पडित टोडरमलजी के स्वय के हाथ से लिखे हुए 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' का अतिम पृष्ठ

यहाँ तक कि अतिम पृष्ठ का अतिम शब्द 'बहुरि' भी 'बहु····' लिखा जाकर अधूरा छूट गया है[1]। इस अधिकार का उपसहार, जैसा कि प्रत्येक अधिकार के अत मे पाया जाता है, लिखे जाने का तो प्रश्न ही नही उठता।

मोक्षमार्ग प्रकाशक की हस्तलिखित मूल प्रति देखने पर यह प्रतीत हुआ कि मोक्षमार्ग प्रकाशक के अधिकारों के क्रम एव वर्गीकरण के सबध मे पडितजी पुनर्विचार करना चाहते थे क्योकि तीसरे अधिकार तक तो वे अधिकार अन्त होने पर स्पष्ट रूप से लिखते है कि प्रथम, द्वितीय व तृतीय अधिकार समाप्त हुआ, किन्तु चौथे अधिकार से यह क्रम गडबडा गया है। चौथे के अन्त मे लिखा है 'छठा अधिकार समाप्त हुआ'। पाँचवे अधिकार के अन्त मे कुछ लिखा व कटा हुआ है। पता नही चलता कि क्या लिखा है एव वहाँ अधिकार शब्द का प्रयोग नही है। छठे अधिकार के अन्त मे छठा लिखने को जगह छोडी गई है। उसकी जगह ६ का अक लिखा हुआ है। सातवे और आठवे अधिकार के अन्त का विवरण स्पष्ट होने पर भी उनमे अधिकार संख्या नही दी गई है एव उसके लिए स्थान खाली छोडा गया है।

सातवे अधिकार के अन्त मे आशीर्वादात्मक मगलसूचक वाक्य 'तुम्हारा कल्याण होगा' एव आठवे के आरभ मे मगलाचरण नही है, जब कि प्रत्येक अधिकार के आरभ मे मगलाचरण एव अन्त मे मगलसूचक वाक्य पाये जाते है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि शायद वे इन दोनो को एक अधिकार मे ही रखना चाहते थे। इनका विषय भी मिलता-जुलता सा ही है। सातवे अधिकार मे निश्चय-व्यवहार की कथनशैली से अपरिचित निश्चयाभासी, व्यवहाराभासी एवम् उभयाभासी अज्ञानियो का वर्णन है, तो आठवे अधिकार मे चारो अनुयोगो की कथनशैली से अपरिचित जीवो की चर्चा है; किन्तु 'अधिकार समाप्त हुआ' शब्द का सातवे व आठवे दोनो में स्पष्ट उल्लेख है, इससे उक्त सभावना कुछ कमजोर अवश्य हो जाती है।

---

[1] देखिए प्रस्तुत ग्रथ, ११६

ग्रथ के आरभ मे प्रथम पृष्ठ पर अधिकार का नम्बर तथा नाम जैसे 'पीठबध प्ररूपक प्रथम अधिकार' नही लिखा है, जैसा कि प्रथम अधिकार के अन्त मे लिखा गया है। "ॐ नम सिद्ध ।। अथ मोक्षमार्ग प्रकाशक नामा शास्त्र लिख्यते ।।" लिखकर मगलाचरण आरभ कर दिया गया है। अन्य अधिकारो के प्रारम्भ मे भी अधिकार निर्देश व नामकरण नही किया गया है।

उक्त विवरण से किसी अतिम निष्कर्ष पर पहुंच पाना सभव नही है, किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इन सव का निर्णय उन्होने दूसरे दौर (सशोधन) के लिए छोड रखा था, जिसको वे कर नही पाए। यहाँ हमने अधिकारों का विभागीकरण, नाम व क्रम प्रचलित परम्परा के अनुसार ही रखना उचित समझा है।

अपूर्ण नौवे अधिकार को पूर्ण करने के बाद उसके आगे और भी कई अधिकार लिखने की उनकी योजना थी। न मालूम पडित टोडरमल के मस्तिष्क मे कितने अधिकार प्रच्छन्न थे ? प्राप्त नौ अधिकारो मे लेखक ने वारह स्थानो पर ऐसे सकेत दिए है कि इस विषय पर आगे यथास्थान विस्तार से प्रकाश डाला जायगा[1]। उक्त

---

[1] मोक्षमार्ग प्रकाशक, सस्ती ग्रथमाला, दिल्ली

(१) सो इनि सबनि का विशेष आगै कर्म अधिकार विषै लिखैगे तहाँ जानना। पृ० ४४

(२) सर्वज्ञ वीतराग अर्हन्त देव है। वाह्य-अभ्यन्तर परिग्रह रहित निर्ग्रन्थ गुरु है। सो इनिका वर्णन इस ग्रथ विषै आगै विशेष लिखैगे सो जानना। पृ० १६६

(३) तातै सम्यक्श्रद्धान का स्वरूप यहु नाही। साँचा स्वरूप है, सो आगै वर्णन करैगे सो जानना। पृ० २३१

(४) सो द्रव्यलिगी मुनि कै शास्त्राभ्यास होतै भी मिथ्याज्ञान कह्या, असयत सम्यग्दृष्टि कै विषयादिरूप जानना ताकौ सम्यग्ज्ञान कह्या। तातै यहु स्वरूप नाही, साँचा स्वरूप आगै कहैगे सो जानना। पृ० २३१

सकेतो और प्रतिपादित विषय के आधार पर प्रतीत होता है कि यदि यह महाग्रन्थ निर्विघ्न समाप्त हो गया होता तो पॉच हजार पृष्ठो से कम नही होता और उसमे मोक्षमार्ग के मूलाधार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का विस्तृत विवेचन होता। उनके अन्तर मे क्या था, वे इसमे क्या लिखना चाहते थे, यह तो वे ही जाने, पर प्राप्त ग्रथ के आधार पर हम यह सकते है कि उसकी सभावित रूपरेखा कुछ ऐसी होती –

---

(५) अर उनका मत के अनुसारि गृहस्थादिक कै महाव्रत आदि बिना अगीकार किए भी सम्यग्चारित्र हो है, तातै यह स्वरूप नाही। साँचा स्वरूप अन्य है, सो आगै कहैगे। पृ० २३१

(६) साँचा जिन धर्म्म का स्वरूप आगै कहै है। पृ० २४६

(७) ज्ञानी कै भी मोह के उदयतै रागादिक हौ है। यहु सत्य, परन्तु बुद्धि-पूर्वक रागादिक होते नाही। सो विशेष वर्णन आगै करैगे। पृ० ३०४

(८) बहुरि भरतादिक सम्यग्दृष्टीनि कै विषय–कपायनि की प्रवृत्ति जैसै हो है, सो भी विशेप आगै कहैगे। पृ० ३०४

(९) अतरग कषाय शक्ति घटै विशुद्धता भए निर्जरा हौ है। सो इसका प्रगट स्वरूप आगै निरूपण करैगे, तहा जानना। पृ० ३४१

(१०) अर फल लागै है सो अभिप्राय विपै वासना है, ताका फल लागै है। सो इनका विशेप व्याख्यान आगै करैगे, तहॉ स्वरूप नीके भासेगा। पृ० ३४६

(११) आज्ञा अनुसारि हुवा देख्यादेखी साधन करै है। तातै याकै निश्चय व्यवहार मोक्षमार्ग न भया। आगै निश्चय व्यवहार मोक्षमार्ग का निरूपण करैगे, ताका साधन भए ही मोक्षमार्ग होगा। पृ० ३७८

(१२) तैसै सोई आत्मा कर्म उदय निमित्त के वश तै बन्ध होने के कारणनि विपै भी प्रवर्तै है, विपयसेवनादि कार्य वा क्रोधादि कार्य करै है, तथापि तिस श्रद्धान का वाकै नाश न हौ है। इसका विशेप निर्णय आगै करैगे। पृ० ४७४

मोक्षमार्ग प्रकाशक की संभावित रूपरेखा :

र्ग
त
सम्यक्चारित्र
प्रमाण
नय
देश चारित्र
सकल चारित्र
प्रत्यक्ष
परोक्ष
बारह व्रत
शुद्धोपयोग
शुभोपयोग
ानुयोग
द्रव्यानुयोग
ध्यान
तर्क
अनुमान
आगम
चय
व्यवहार
थिक
पर्यायार्थिक
च अणुव्रत
तीन गुणव्रत
चार शिक्षाव्रत
त
परिग्रहपरिमाणाणुव्रत
सामायिक
प्रोपधोपवास
भोगोपभोगपरिमाणव्रत
अतिथिसंविभागव्रत
दिग्व्रत
देशव्रत
अनर्थदण्डव्रत
२८ मूलगुण
पाँच इन्द्रियविजय
छ. आवश्यक
सात शेषगुण
स्पर्शन
रसना
घ्राण
चक्षु
कर्ण
ना
सामायिक
वदना
स्तुति
प्रतिक्रमण
स्वाध्याय
ध्यान
लुचन
भूमिशयन
दतधोवनत्याग
खडे-खडे आहार लेना
स्नानत्याग
दिनमे एक बार ही आहार लेना
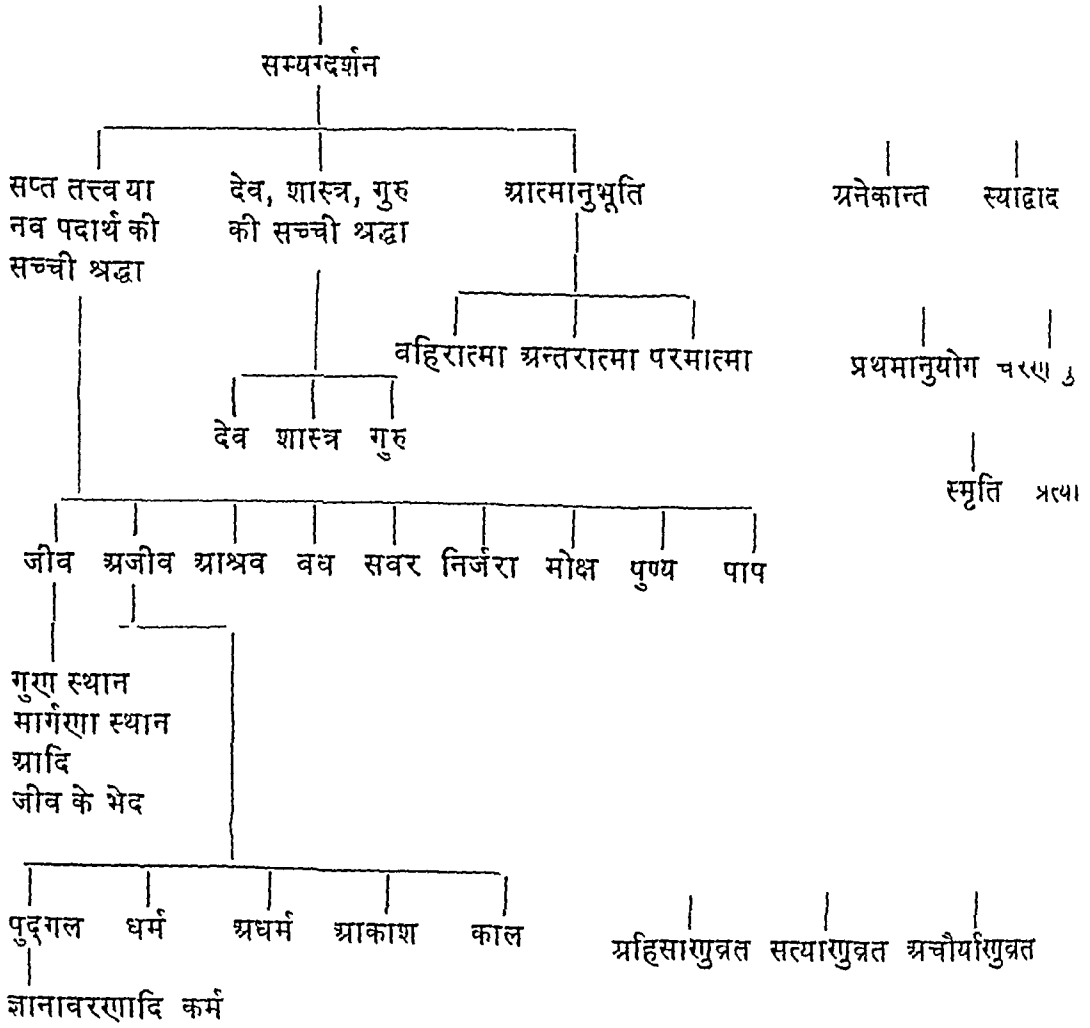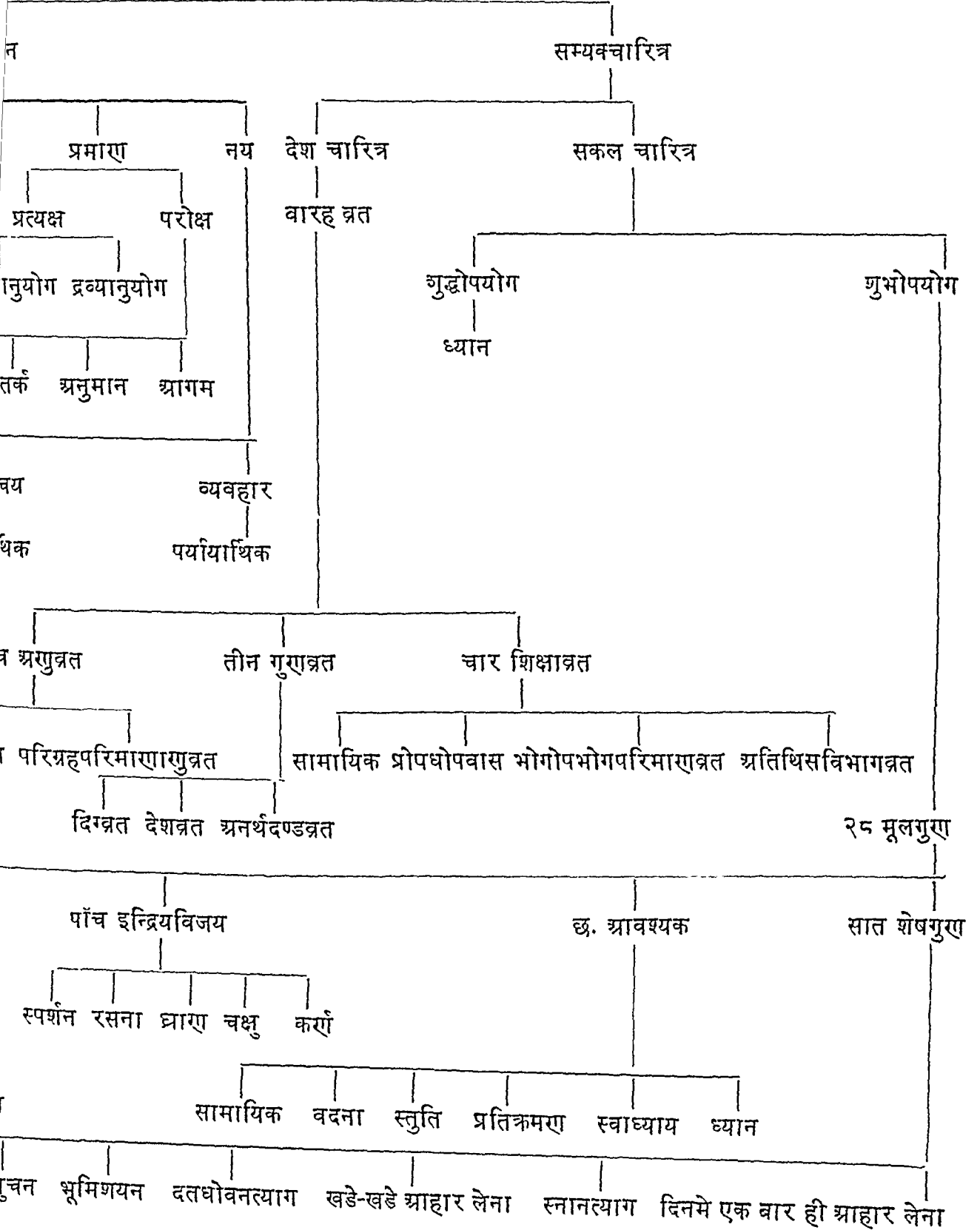
काशी निवासी कविवर वृन्दावनदास को लिखे पत्र मे पडित जयचन्द्र ने वि० स० १८८० मे भी मोक्षमार्ग प्रकाशक के अपूर्ण होने की चर्चा की है एव मोक्षमार्ग प्रकाशक को पूर्ण करने के उनके अनुरोध को स्वीकार करने मे असमर्थता व्यक्त की है[1]।

अत यह तो निश्चित है कि वर्तमान प्राप्त मोक्षमार्ग प्रकाशक अपूर्ण है, पर प्रश्न यह रह जाता है कि इसके आगे मोक्षमार्ग प्रकाशक लिखा गया या नही ? इसके आकार के सम्बन्ध मे साधर्मी भाई ब्र० रायमल ने अपनी इन्द्रध्वज विधान महोत्सव पत्रिका[2] मे वि० स० १८२१ मे इसे वीस हजार श्लोक प्रमाण लिखा है तथा इन्होने ही अपने चर्चा सग्रह[3] ग्रथ मे इसके वारह हजार श्लोक प्रमाण होने का उल्लेख किया है।

ब्र० रायमल पडित टोडरमल के अनन्य सहयोगी एव नित्य निकट सम्पर्क मे रहने वाले व्यक्ति थे। उनके द्वारा लिखे गए उक्त उल्लेखो को परस्पर विरोधी उल्लेख कह कर अप्रमाणित घोपित कर देना अनुसधान के महत्त्वपूर्ण सूत्र की उपेक्षा करना होगा। गभीरता से विचार करने पर ऐसा लगता है कि वारह हजार श्लोक प्रमाण वाला उल्लेख तो प्राप्त मोक्षमार्ग प्रकाशक के सवध मे है, क्योकि प्राप्त मोक्षमार्ग प्रकाशक है भी इतना ही, किन्तु वीस हजार श्लोक प्रमाण वाला उल्लेख उसके अप्राप्ताश की ओर सकेत करता है।

पडितजी की स्थिति वि० स० १८२३–२४ तक मानी जाती है। अत वि० स० १८२१ के वाद भी इसका सृजन हुआ होगा। जिस प्रकार इसका आरम्भ हुआ है और इसका वर्तमान जो प्राप्त स्वरूप है,

---

[1] "और लिख्या कि टोडरमलजी कृत मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रथ पूरण भया नाही, ताकौ पूरण करना योग्य है। सो कोई एक मूल ग्रथ की भापा होय तो हम पूरण करे। उनकी बुद्धि वडी थी। यातै विना मूल ग्रथ के आश्रय उनने किया। हमारी एती बुद्धि नाही, कैसे पूरण करे।"

– वृन्दावन विलास, १३२

[2] परिशिष्ट १

[3] देखिए प्रस्तुत ग्रथ, ५२

उसके अनुसार आठ अधिकार मात्र भूमिका है। यह तो नही कहा जा सकता है कि मोक्षमार्ग प्रकाशक पूर्ण हो गया होगा पर अनुमान ऐसा है कि इससे आगे कुछ न कुछ अवश्य रचा गया था, जो कि आज उपलब्ध नही है।

मेरा अनुमान है कि इस ग्रथ का अप्राप्ताश उनके अन्य सामान के साथ तत्कालीन सरकार द्वारा जब्त[1] कर लिया गया होगा और यदि उनका जब्ती का सामान राज्यकोष मे सुरक्षित होगा तो निश्चित ही बाकी का मोक्षमार्ग प्रकाशक भी उसमे होना चाहिए।

वर्तमान प्राप्त मोक्षमार्ग प्रकाशक नौ विभागो मे विभक्त है। विभागो के नामकरण मे भी दो रूप देखने मे आते है – अधिकार और अध्याय। डॉ० लालबहादुर शास्त्री ने उनके द्वारा अनुवादित एव सपादित तथा भा० दि० जैन सघ, मथुरा से प्रकाशित मोक्षमार्ग प्रकाशक मे अध्याय शब्द का प्रयोग किया है जब कि अन्य सभी प्रकाशनों में अधिकार शब्द का प्रयोग मिलता है[2]। पडित टोडरमल की मूल प्रति में भी अधिकार शब्द ही मिलता है तथा अन्य हस्तलिखित प्रतियो मे भी अधिकार शब्द का प्रयोग हुआ है। डॉ० लालबहादुर शास्त्री ने यह परिवर्तन किस आधार पर किया है, इस सबध मे उन्होने कोई उल्लेख नही किया है। ग्रथकार ने प्रत्येक अधिकार के अन्त मे तो 'अधिकार' शब्द का स्पष्ट प्रयोग किया ही है, किन्तु प्रकरणवशात् बीच मे भी इस प्रकार के उल्लेख किए है। जैसे "सो इनि सबनि का विशेष आगै कर्म अधिकार विषै लिखैगे तहॉ जानना[3]।" डॉ० लालबहादुर शास्त्री ने भी प्रकरण के बीच मे प्राप्त उल्लेखों मे

---

[1] वीरवाणी : टोडरमलाक, २०-२१

[2] मो० मा० प्र०
   (क) सस्ती ग्रथमाला, दिल्ली
   (ख) अनन्तकीर्ति ग्रथमाला, बम्बई
   (ग) श्री दि० जैन स्वाध्याय मदिर ट्रस्ट, सोनगढ
   (घ) श्री टोडरमल ग्रथमाला, जयपुर

[3] मो० मा० प्र०, ४४

अधिकार शब्द का प्रयोग किया है। अत अधिकार शब्द ही सर्वमान्य एव ग्रथकार को इष्ट है।

आलोच्य-ग्रथ के आरम्भ मे मगलमय वीतराग-विज्ञान को नमस्कार किया है, तदुपरान्त पचपरमेष्ठी को[1]। आठवे अधिकार को छोड़ कर प्रत्येक अधिकार का आरम्भ दोहा से किया गया है। ग्रथ का आरम्भ मगलाचरण रूप दो दोहो से हुआ है पर आगे प्रत्येक अधिकार के आरम्भ मे एक-एक दोहा है। प्रारम्भिक दोहो मे वर्ण्य-विषय का सकेत दे दिया गया है। सातवे के अतिरिक्त प्रत्येक अधिकार के अन्त मे 'तुम्हारा कल्याण होगा' के मृदुल सम्बोधन मे पाठको को मगल आशीर्वाद दिया गया है। ग्रथ के सर्व अधिकारो का विषयानुसार स्वाभाविक विकास हुआ है।

ग्रथ का नाम मोक्षमार्ग प्रकाशक है, अत इसमे मोक्षमार्ग[2] का प्रतिपादन अपेक्षित है – पर मुक्ति वधन-सापेक्ष है, अत इसके आरम्भ मे वधन (ससार) की स्थिति और कारणो पर विचार किया गया है। आरम्भ के सात अधिकारो मे यही विवेचना है। आठवे अधिकार मे जिनवाणी का मर्म समझने के लिए उसके समझने की विधि का सागोपाग वर्णन है। नवम् अधिकार मे मोक्षमार्ग का कथन आरम्भ हुआ है।

प्रथम अधिकार ग्रथ की पीठिका[3] है। इसमे मगलाचरणोपरान्त, मगलाचरण मे जिन्हे स्मरण किया गया है, उन पचपरमेष्ठियो का स्वरूप, उनके पूज्यत्व का कारण, मगलाचरण का हेतु, ग्रथ की प्रामाणिकता और ग्रथ निर्माण हेतु पर विचार किया गया है। तदुपरान्त बाचने-सुनने योग्य शास्त्र के स्वरूप तथा वक्ता और श्रोता के स्वरूप पर भी विचार किया गया है। अन्त मे मोक्षमार्ग प्रकाशक के निर्माण और नाम की सार्थकता सिद्ध की गई है।

---

[1] जो परमपद मे स्थित हो, उन्हे परमेष्ठी कहते है। वे पाच होते है – अरहत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु।

[2] दुखो से छूटने के उपाय को मोक्षमार्ग कहते हे।

[3] मो० मा० प्र०, ३०

दूसरे अधिकार मे ससार अवस्था का वर्णन है। आत्मा के साथ कर्मो का वधन, उनका अनादित्व एव आत्मा से भिन्नत्व तथा कर्मो के घातिकर्म-अघातिकर्म, द्रव्यकर्म, भावकर्म आदि भेदो पर विचार किया गया है। तदुपरान्त नवीन बध, वध के भेद व उनके कारणो पर भी प्रकाश डाला गया है। अन्त मे क्षायोपशमिक ज्ञान (अर्द्धविकसित ज्ञान) की पराधीन प्रवृत्ति एव अष्टकर्मोदयजन्य जीव की अवस्थाओ का विस्तार से वर्णन किया गया है।

तीसरे अधिकार मे सासारिक दु ख, दु खो के मूलकारण–मिथ्यात्व[1], अज्ञान, असयम, कषायजन्य जीव की प्रवृत्ति और उनसे निवृत्ति के उपाय का वर्णन है। तदुपरान्त एकेन्द्रियादिक जीवो के चतुर्गति भ्रमण सवधी दुखो का विस्तृत विवेचन कर उनसे छूटने का उपाय वताया गया है। अत मे सर्वदु ख रहित सिद्ध दशा का स्वरूप वताकर उसमे सर्वसुख सम्पन्नता सिद्ध की गई है।

चौथे अधिकार मे अनादिकालीन मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान एव मिथ्याचारित्र का वर्णन है। इन्ही के अतर्गत मोक्षमार्ग के प्रयोजनभूत-अप्रयोजनभूत का विवेक एव मोह-राग-द्वेष रूप प्रवृत्ति का विस्तृत विवेचन किया गया है।

पॉचवे अधिकार मे गृहीत मिथ्यात्व का विस्तृत वर्णन किया है। इसके अतर्गत विविध मतो की समीक्षा की गई है – जिसमे सर्वव्यापी अद्वैतब्रह्म, सृष्टि-कर्त्तावाद, अवतारवाद, यज्ञ मे पशु-हिसा, भक्तियोग, ज्ञानयोग, मुस्लिममत, साख्यमत, नैयायिकमत, वैशेषिकमत, मीमासकमत, जैमिनीयमत, बौद्धमत, चार्वाकमत की समीक्षा की गई है तथा उक्त मतो और जैनमत के बीच तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

अन्य मतो के प्राचीनतम महत्त्वपूर्ण ग्रथो के आधार पर जैनमत की प्राचीनता और समीचीनता सिद्ध की गई है। तदनन्तर जैनियो के अतर्गत सम्प्रदाय श्वेताम्बरमत पर विचार करते हुए स्त्रीमुक्ति, शूद्रमुक्ति,

---

१ वस्तु स्वरूप के सम्वन्ध मे उल्टी मान्यता को मिथ्यात्व कहते है।

सवस्त्रमुक्ति, केवली-कवलाहार-निहार, ढूढकमत, मूर्तिपूजा, मुहपत्ति आदि विषयो पर युक्तिपूर्वक विचार किया गया है ।

छठे अधिकार मे भी गृहीत मिथ्यात्व के ही अन्तर्गत कुदेव, कुगुरु, कुधर्म का स्वरूप बता कर उनकी उपासना का प्रतिषेध किया गया है । साथ ही गरणगौर, शीतला, भूतप्रेतादि व्यतर, सूर्यचन्द्र शनिश्चरादिग्रह, पीर-पैगम्बर, गाय आदि पशु, अग्नि, जलादि के पूजत्व पर विचार किया गया है एव क्षेत्रपाल, पद्मावती आदि एव यक्ष-यक्षिका की पूजा-उपासना आदि का सयुक्तिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है और इनके पूजत्व का निराकरण किया गया है ।

सातवे अधिकार मे सूक्ष्म मिथ्यात्व का वर्णन किया गया है, जो नाम मात्र के दिगम्बर जैनियो के साथ-साथ जिन आज्ञा को मानने वाले दिगम्बर जैनियो मे भी पाया जाता है क्योकि वे जिनागम का मर्म नही समझ पाते । ये भी एक प्रकार से गृहीत मिथ्यादृष्टि ही है । यद्यपि इनके जैनेतर कुगुरु आदि के सम्पर्क का प्रश्न पैदा नही होता तथापि ये अपने स्वय के अज्ञान व गलतियो तथा दि० जैन वेषधारी तथाकथित अज्ञानी गुरुओ एव उनके द्वारा लिखित शास्त्रो के माध्यम से अपनी विपरीत मान्यताओ की पुष्टि करते रहते है ।

पडित टोडरमल ने इन मिथ्यादृष्टियो का चार भागो मे वर्गीकरण किया है –

(१) निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि
(२) व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि
(३) उभयाभासी मिथ्यादृष्टि
(४) सम्यक्त्व के सन्मुख मिथ्यादृष्टि

निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि का विवेचन करते हुए निश्चयाभासी जीव की प्रवृत्ति का विस्तार से वर्णन किया है एव आत्मा की शुद्धता समझे विना आत्मा को शुद्ध मान कर स्वच्छन्द होने का निषेध किया है ।

व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि का वर्णन करते हुए कुल अपेक्षा धर्म मानने एव विचाररहित आज्ञानुसारिता का निषेध कर परीक्षा-प्रधानी होने का समर्थन किया है। साथ ही व्यवहाराभासी जीव की प्रवृत्ति बताते हुए विषय-कषाय की आशा से की जाने वाली अरहन्त देव, शास्त्र और गुरु की अध भक्ति का निषेध किया है तथा व्यवहाराभासी जैनी सप्त तत्त्वो के समझने मे क्या-क्या भूले करता है, उनका विस्तार से वर्णन किया है। वह सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की प्राप्ति के लिए भी कैसी-कैसी अविचारित प्रवृत्तियाँ करता है, इसका भी दिग्दर्शन कराया है।

उभयाभासी मिथ्यादृष्टियो की स्थिति का चित्रण करते हुए निश्चयनय और व्यवहारनय का बहुत गभीर तर्कसगत एव विस्तृत विवेचन किया है तथा निश्चय मोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्षमार्ग का भी विशेष स्पष्टीकरण किया गया है।

सम्यक्त्व के सन्मुख मिथ्यादृष्टियो के वर्णन मे वस्तु स्वरूप को समझने की पद्धति का विस्तृत विवेचन करने के उपरान्त सम्यक्त्व की प्राप्ति मे होने वाली क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धि, प्रायोग्यलब्धि और करणलब्धि, इन पाँच लब्धियो का सूक्ष्म विश्लेषण किया है।

उक्त अधिकार के अन्त मे यह भी स्पष्ट कर दिया है कि जो मिथ्यादृष्टियो मे पाये जाने वाले दोषो का वर्णन किया है, वह दूसरो के दोषो को देखकर निन्दा करने के लिये नही, वरन् उस प्रकार के दोष यदि अपने मे हो, तो उनसे बचने के लिये किया गया है।

आठवे अधिकार मे उपदेश के स्वरूप पर विचार किया गया है। समग्र जैन साहित्य विषय-भेद की दृष्टि से चार अनुयोगों में विभक्त है, जिनके नाम है—प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग। प्रत्येक अनुयोग की अपनी कथनशैली अलग-अलग है। कथनशैली का ज्ञान हुए बिना जैन साहित्य का मर्म समझ मे नही आ सकता। अत इस अधिकार मे अनुयोगो का विषय और उनकी प्रतिपादन शैली का विस्तृत विवेचन किया गया है। प्रत्येक अनुयोग

का अपना अलग-अलग प्रयोजन होता है, उसे समझे विना व्यर्थ की शकाएँ और विवाद उत्पन्न हो जाते है । उनका निराकरण करने के लिये प्रत्येक अनुयोग का अलग प्रयोजन इसमे स्पष्ट किया गया है । प्रत्येक अनुयोग की कथनशैली मे सभावित दोष-कल्पनाओ को स्वय उठा-उठा कर उनका सयुक्तिक निराकरण किया गया है तथा अपेक्षा-ज्ञान के अभाव मे जिनागम मे दिखाई देने वाले परस्पर विरोध का समुचित समाधान किया गया है । अन्त मे अनुयोगो के अभ्यासक्रम पर विचार करते हुए आगम अभ्यास की प्रेरणा दी गई है तथा अध्यात्म शास्त्रो के अभ्यास की विशेष प्रेरणा दी गई है, क्योकि वस्तु स्वरूप का मर्म तो अध्यात्म शास्त्रो मे ही है । अध्यात्म शास्त्र पढने का निषेध करने सम्वन्धी अनेक तर्को को स्वय उठा-उठाकर उनका निराकरण किया गया है ।

नौवे अधिकार मे मोक्षमार्ग का स्वरूप आरम्भ हुआ है । इसमे सासारिक सुख की असारता एव मोक्ष सुख की वास्तविकता पर विचार करने के उपरान्त 'मोक्ष की प्राप्ति पुरुपार्थ से ही सभव है', इस तथ्य को विस्तार से अनेक तर्को द्वारा समझाया गया है एव मुक्ति प्राप्ति के लिये पर के सहयोग की अपेक्षा छोड कर स्वयं पुरुषार्थ करने की प्रेरणा दी गई है । तदुपरान्त मोक्षमार्ग का स्वरूप आरम्भ करने के साथ ही लक्षण और लक्षणाभास पर भी विचार किया गया है । मोक्षमार्ग के प्रथम अंग सम्यग्दर्शन की परिभाषा, उसमे आए विभिन्न पदो की विस्तृत व्याख्या एव उसमे उठने वाली शकाओ का समाधान करने के साथ ही विभिन्न अनुयोगो मे दी गई सम्यग्दर्शन की विभिन्न परिभाषाओ पर विस्तारपूर्वक विचार करते हुए उनमे समन्वय स्थापित किया गया है । सम्यग्दर्शन मे जिन प्रयोजनभूत तत्त्वो की श्रद्धा आवश्यक है, उनकी सख्या आदि के सवध मे भी सयुक्तिक विस्तृत विवेचन किया गया है । तत्पश्चात् सम्यग्दर्शन के भेद व उनके स्वरूप पर विचार करने के उपरान्त सम्यग्दर्शन के आठ अग और पच्चीस दोपो का वर्णन प्रारम्भ किया था, किन्तु एक पृष्ठ भी न लिख पाए और ग्रथ अधूरा रह गया ।

यह ग्रंथ विवेचनात्मक गद्यशैली मे लिखा गया है। प्रश्नोत्तरो द्वारा विषय को बहुत गहराई से स्पष्ट किया गया है। इसका प्रतिपाद्य एक गभीर विषय है, पर जिस विषय को उठाया है उसके सम्बन्ध मे उठने वाली प्रत्येक शका का समाधान प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया गया है। प्रतिपादन शैली मे मनोवैज्ञानिकता एव मौलिकता पाई जाती है। प्रथम शका के समाधान मे द्वितीय शका की उत्थानिका निहित रहती है। ग्रथ को पढते समय पाठक के हृदय मे जो प्रश्न उपस्थित होता है उसे हम अगली पक्ति मे लिखा पाते है। ग्रथ पढते समय पाठक को आगे पढने की उत्सुकता बराबर बनी रहती है।

वाक्य रचना सक्षिप्त और विषय प्रतिपादन शैली तार्किक एवं गभीर है। व्यर्थ का विस्तार उसमें नही है, पर विस्तार के सकोच मे कोई विषय अस्पष्ट नही रहा है। लेखक विषय का यथोचित विवेचन करता हुआ आगे बढने के लिये सर्वत्र ही आतुर रहा है। जहाँ कही विषय का विस्तार भी हुआ है वहाँ उत्तरोतर नवीनता आती गई है। वह विषय-विस्तार सागोपाग विषय-विवेचना की प्रेरणा से ही हुआ है। जिस विषय को उन्होने छुआ उसमे 'क्यो' का प्रश्नवाचक समाप्त हो गया है। शैली ऐसी अद्भुत है कि एक अपरिचित विषय भी सहज हृदयगम हो जाता है।

विषय को स्पष्ट करने के लिए समुचित उदाहरणों का समावेश है। कई उदाहरण तो सागरूपक के समान कई अधिकारो तक चलते है। जैसे रोगी और वैद्य का उदाहरण द्वितीय[१], तृतीय[२], चतुर्थ[३] और पंचम[४] अधिकार के आरम्भ में आया है। अपनी बात पाठक के हृदय मे उतारने के लिए पर्याप्त आगम प्रमाण, सैकडो तर्क तथा जैनाजैन

---

[१] मो० मा० प्र०, ३१

[२] वही, ६५

[३] वही, १०९

[४] वही, १३७

दर्शनो और ग्रथो के अनेक कथन व उद्धरण प्रस्तुत किये गए है[1]। ऐसा लगता है वे जिस विषय का विवेचन करते है उसके सम्बन्ध मे असख्य ऊहापोह उनके मानस मे हिलोरे लेने लगते है तथा वस्तु की गहराई मे

[1] मोक्षमार्ग प्रकाशक, सस्ती ग्रन्थमाला दिल्ली

नाम ग्रथ या दर्शन	पृष्ठ सख्या	नाम ग्रथ या दर्शन	पृष्ठ सख्या
वैदिक		२० गीता	१५०,१८१,३६६
१ ऋग्वेद	२०८	२१ अवतारवाद	१६२
२. यजुर्वेद	२०८,२०६	२२ योगशास्त्र	१६७
३ छान्दोग्योपनिषद्	१३८	२३. योगवशिष्ठ	२०३
४ मुण्डकोपनिषद्	१३८	२४ शृगारशतक	२०१
५ कठोपनिषद्	१३८	२५ नीतिशतक	२८२
६ विष्णु पुराण	१४८,१६३	२६ दक्षिणामूर्ति सहस्त्रनाम	२०३
७ वायु पुराण	१४८	२७ वैशम्पायन सहस्त्रनाम	२०४
८ मत्स्य पुराण	१४६	२८ महिम्निस्तोत्र (दुर्वासाकृत)	२०४
६ ब्रह्म पुराण	१६३	२६ रुद्रयामल तन्त्र (भवानी सहस्त्रनाम)	२०५
१० गणेश पुराण	२०५		
११ प्रभास पुराण	२०६,२०७	**भारतीय दर्शन**	
१२ नगर पुराण (भवावतार रहस्य)	२०७	३० वेदान्त	१८१
		३१ साख्य	१८२
१३ काशी खण्ड	२०६	३२ न्याय	१८५
१४ मनुस्मृति	२०८	३३. वैशेषिक	१८८
१५. महाभारत	२१०	३४ मीमासा	१६२
१६ हनुमन्नाटक	२०४	३५ जैमिनीय	१६३
१७ दशावतार चरित्र	२०६	३६ चार्वाक	१६६
१८ व्यास सूत्र	२०५	**इस्लाम**	
१६ भागवत	१६३,१६४	३७ कुरान शरीफ	१८०

उतरते ही अनुभूति लेखनी मे उतरने लगती है। वे विषय को पूरा स्पष्ट करते है। प्रसगानुसार जहाँ विषय को अस्पष्ट छोडना पडा है वहाँ उल्लेख कर दिया गया है कि उसे आगे विस्तार से स्पष्ट करेगे[1]।

नाम ग्रथ या दर्शन	पृष्ठ सख्या	नाम ग्रथ या दर्शन	पृष्ठ सख्या
बौद्ध ग्रंथ		५२ परमात्मप्रकाश	२६९
३८ अभिधर्म कोष	१९४	५३ श्रावकाचार(योगीन्द्रदेव)	३५०
श्वेताम्बर जैन ग्रंथ		५४. गोम्मटसार जीवकाड	३१९,३८७
३९ आचाराग सूत्र	२१२	५५. गोम्मटसार टीका	३९४
४० भगवती सूत्र	२३७	५६ लब्धिसार	३८५,३८६
४१ उत्तराध्ययन सूत्र	२२३	५७ रत्नकरण्ड श्रावकाचार	३९३
४२. वृहत्कल्प सूत्र	२२३	५८. वृहत्स्वयभू स्तोत्र	२८०
४३. उपदेशसिद्धान्त रत्नमाला	२६१,२६५, ३१४,४४१	५९ ज्ञानार्णव	४३९
४४ सघपट्ट	२६५	६० धर्म परीक्षा	३९९
४५. ढूंढारी पथ	२३२	६१. सूक्ति मुक्तावली	४१३
दिगम्बर जैन ग्रंथ		६२. आत्मानुशासन	२४,८१ २६९
४६ षट् पाहुड	२६२,२६६-६८ २६३,२७५,४३१	६३ तत्त्वार्थ सूत्र	३१०,३२९ ३३८,३८३
४७ पचास्तिकाय	३२६	६४. समयसार कलश	२८६,२८७ ३०३,३०४-५
४८. प्रवचनसार	३३,२७२,३४४	६५ पद्मनन्दि पच्चीसी	२९५
४९. रयणसार	२७७	६६ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	३७२
५०. धवल	३८७	६६ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	
५१ जयधवल	३८८	६७. पाहुड दोहा	२४,२५

[1] मो० मा० प्र०, ४४, ११९, २३१, २४६, ३०४, ३४१, ३४९, ३७८, ४७४

आत्मानुशासन भाषाटीका

'आत्मानुशासन' शान्तरस प्रधान अत्यन्त लोकप्रिय रचना है। यह सस्कृत भाषा मे छन्दोबद्ध है। इसमे पन्द्रह प्रकार के विभिन्न छन्दो मे २६९ पद्य है। यह नीति-शास्त्रीय सुभाषित ग्रथ है। इसमे विभिन्न विषयो पर मार्मिक विचार प्रस्तुत किये गए है। इसकी तुलना हम भर्तृहरि के वैराग्यशतक और नीतिशतक से कर सकते है। सस्कृत साहित्य मे जो स्थान भर्तृहरि के वैराग्यशतक और नीतिशतक का है, जैन सस्कृत साहित्य मे वही स्थान आत्मानुशासन का है। इस ग्रन्थ पर पडित टोडरमल ने भाषाटीका लिखी है, जो प्रकाशित हो चुकी है। इसके आधार पर परवर्ती विद्वानो ने अनेक टीकाएँ लिखी है, जिनमे से एक ब्र० जीवराज गौतमचन्द्र द्वारा मराठी भाषा मे लिखी गई है, जो कि पडित टोडरमल की टीका का अनुवाद मात्र है[1]। एक हिन्दी टीका प० वशीधर शोलापुर ने भी लिखी है, जो कि जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई से १६ फरवरी सन् १९१६ ई० को प्रकाशित हुई है। सन् १९६१ ई० मे एक विस्तृत प्रस्तावना व सस्कृत टीका सहित एक टीका प्रो० ए० एन० उपाध्ये, प्रो० हीरालाल जैन एव बालचन्द सिद्धान्तशास्त्री के सम्पादकत्व मे जैन सस्कृति सरक्षक सघ, शोलापुर से प्रकाशित हुई है। उक्त सभी उत्तरकालीन टीकाएँ पडित टोडरमल की टीका से प्रभावित है। आत्मानुशासन की एक टीका अग्रेजी मे भी प्रकाशित हुई है, जिसके लेखक है श्री जे० एल० जैनी[2]।

इस टीका का नाम 'आत्मानुशासन भाषाटीका' है। पडित टोडरमल ने जितने भी ग्रन्थो की टीकाएँ लिखी है, उन सभी ग्रन्थो के नाम के आगे 'भाषाटीका' लगा कर ही उसका नाम रखा है। एक सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका का अवश्य अलग नाम दिया है, किन्तु उसके अतर्गत जिन चार ग्रन्थो की टीकाएँ लिखी है, उनके अलग-अलग नाम इसी प्रकार दिए है—जैसे गोम्मटसार जीवकाण्ड भाषाटीका,

---

[1] आत्मानुशासन शोलापुर, सन् १९६१ ई०, प्रस्तावना, ३३

[2] प्र० वी० काश्मीरीलाल जैन सब्जीमडी, दिल्ली, सन् १९५९ ई०

गोम्मटसार कर्मकाण्ड भाषाटीका आदि । अत इस टीका का नाम भी 'आत्मानुशासन भाषाटीका' ही उन्हे अभीष्ट था । परवर्ती सभी विद्वानो ने इसी नाम का प्रयोग किया है । समाज मे भी यही नाम प्रचलित है । हस्तलिखित प्राचीन प्रतियो मे भी 'भाषाटीका' शब्द का ही प्रयोग हुआ है[1] ।

आत्मानुशासन ग्रन्थ के कर्त्ता आचार्य गुणभद्र (नवी शताब्दी) है[2] जो महापुराण के कर्त्ता भगवज्जिनसेनाचार्य के शिष्य है तथा जिन्होने अपने गुरु के आकस्मिक निधन के पश्चात् अधूरे महापुराण को पूर्ण किया । गुणभद्राचार्य ने इस वैराग्योत्पादक ग्रन्थ की रचना अपने विषय-विमोहित गुरुभाई लोकसेन मुनि के सबोधनार्थ की थी, जैसा कि इसकी सस्कृत टीका[3] और हिन्दी टीका[4] के आरम्भ मे क्रमश: आचार्य प्रभाचन्द्र और पडित टोडरमल ने लिखा है ।

---

[1] श्री दि० जैन बडा मदिर, जयपुर एव श्री दि० जैन मदिर आदर्शनगर, जयपुर मे प्राप्त प्रतियाँ ।

[2] (क) जैनेन्द्र सिद्धान्त शब्दकोष, २५५

(ख) सोहे जिनशासन मे आत्मानुशासन श्रुत,
जाकी दु:खहारी सुखकारी साची शासना ।
जाकौ गुणभद्र करता, गुणभद्र जाकौ जानि,
भव्य गुणधारी भव्य करत उपासना ।।
—आ० भा० टी०, मगलाचरण

[3] "वृहद्धर्मभ्रातुर्लोकसेनस्य विषयव्यामुग्धबुद्धे सबोधनव्याजेनसर्वसत्त्वोपकारक सन्मार्गमुपदर्शयितुकामो गुणभद्रदेवो निर्विघ्नत शास्त्रपरिसमाप्त्यादिक फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेष नमस्कुर्वाणो लक्ष्मीत्याद्याह" ।
— आत्मानुशासन, १

[4] "अथ श्री गुणभद्र नामा मुनि अपना धर्मभाई लोकसेन मुनि विषय-विमोहित भया ताका सबोधन तिस करि सर्व जीवनिकौ उपकारी जो भला मार्ग ताका उपदेश देने का अभिलाषी होत सता निर्विघ्न शास्त्र की सम्पूर्णता आदि अनेक फलकी वाछा करता हुआ अपने इष्टदेव को नमस्कार करता सता प्रथम ही लक्ष्मी इत्यादि सूत्र कहे है ।" — आ० भा० टी०, १

इस ग्रन्थ पर आचार्य प्रभाचन्द्र ने तेरहवी शती मे एक सस्कृत टीका लिखी जो सन् १९६१ ई० मे जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर से प्रकाशित हुई है। इसकी भाषाटीका लिखते समय पडित टोडरमल के सामने उक्त सस्कृत टीका थी, पर उन्होने उसका विशेष सहारा नही लिया है। जो स्पष्टता पडित टोडरमल की भाषाटीका मे है वह उक्त सस्कृत टीका मे नही है। भाषाटीका की एक विशेषता यह है कि उसमे अर्थ को और अधिक स्पष्ट करने के लिए जहाँ आवश्यक समझा गया है वहाँ भावार्थ भी दिया है। दोनो के कुछ उदाहरण दृष्टव्य है –

पापाद् दु ख धर्मात्सुखमिति सर्वजनसुप्रसिद्धमिदम्।
तस्माद्विहाय पाप चरतु सुखार्थी सदा धर्मम् ॥८॥

संस्कृत टीका – एवविध शिष्यो गुरूपदेशात्सुखार्थितया धर्मोपार्जनार्थमेव प्रवर्तताम्। यत –पापादित्यादि। इति एवम्। चरतु अनुतिष्ठतु ॥८॥[1]

भाषा टीका – पाप तै दु ख हौ है। धर्म तै सुख हौ है। ऐसै यहु वचन सर्व जननि विषै भली प्रकार प्रसिद्ध है। सर्व ही ऐसै मानै है वा कहै है। तातै सुख का अर्थी है, जाकौ सुख चाहिए सो पाप को छोडि सदा काल धर्म कूँ आचरौ।

भावार्थ – पाप का फल दु ख अर धर्म का फल सुख, ऐसे हम ही नाही कहै है, सर्व ही कहै है। तातै जो सुख चाहिये है तो पाप को छोडि धर्म कार्य करो।[2]

अधादय महानन्धो विषयान्धीकृतेक्षरण।
चक्षुषान्धो न जानाति विषयान्धो न केनचित् ॥३५॥

---

[1] आत्मानुशासन शोलापुर, ८

[2] आ० भा० टी०, ६

संस्कृत टीका – विषयव्यामुग्धस्य पुत्रवधाद्यकृत्यप्रवृत्तौ कारणमाह– अन्धादित्यादि । विषयान्धीकृतेक्षण अनन्धानि अन्धानि कृतानि अन्धीकृतानि, विषयैः अन्धीकृतानि ईक्षणानि इन्द्रियाणि यस्य ।।३५।।[1]

भाषा टीका – विषयनि करि अन्ध किये है – सम्यग्ज्ञान रूपी नेत्र जाका ऐसा यहु जीव है सो अन्ध तै भी महाअध है । इहाँ हेतु कहै है । अध है सो तौ नेत्रनि ही करि नाही जानै है अर विषय करि अध है सो काहू करि भी न जानै है ।

भावार्थ – अध पुरुष कूँ तो नेत्रनि ही करि नाही सूझै है । मन करि विचारना, काना करि सुनना इत्यादि ज्ञान तौ वाकै पाइए है । बहुरि जो विषय-वासना करि अध भया है ताकै काहू द्वारै ज्ञान न होइ सके है । यदि नेत्रनि विषै दु ख हो तौ नेत्रनि करि न दीसै, तौ मन करि विचारै, भासै, सीख देने वाला सुनावै इत्यादि ज्ञान होने के कारन बने परन्तु विषय-वासना करि ऐसा अध होइ काहू को गिने नाही । तातै अध होना निषिद्ध है । तिस तै भी विषयनि करि अध होना अति निषिद्ध जानना ।[2]

शुद्धैर्धनैर्विवर्धन्ते सतामपि न सपद ।
न हि स्वच्छाम्बुभि पूर्णा· कदाचिदपि सिन्धव ।।४५।।

संस्कृत टीका – ननु निरवद्यवृत्त्या अर्थोपार्जन कृत्वा सपदा वृद्धि विधाय सुखानुभवन करिष्यामीति वदन्त प्रत्याह – शुद्धैरित्यादि । शुद्धै. निरवद्यै । स्वच्छाम्बुभि निर्मलजलै. । सिन्धव नद्य ।।४५।।[3]

---

[1] आत्मानुशासन शोलापुर, ३६

[2] आ० भा० टी०, ३७

[3] आत्मानुशासन शोलापुर, ४५

भाषा टीका – अहो प्राणी ! न्याय के आचरण करि उपार्ज्या जो धन ताहू करि उत्तम पुरुषनि हू के सुख सपदा नाही बढै है। जैसे निर्मल जल करि कदाचित् भी समुद्र नाही पूर्ण होवे है।

भावार्थ – अयोग्य आचरण तो सर्वथा त्याज्य ही है। अर योग्य आचरण करि उपार्ज्या जो धन ताहू करि विशेष सपदा की वृद्धि नाही। जैसे कदाचित् हू निर्मल जल करि समुद्र नाही पूर्ण होय है। तातै न्यायोपार्जित धन हू की तृष्णा तजि सर्वथा नि परिग्रही होहु।[1]

शरीरमपि पुष्णन्ति सेवन्ते विषयानपि।
नास्त्यहो दुष्कर नृणा विषाद्वान्छन्ति जीवितुम् ॥१९६॥

संस्कृत टीका – एवविध शरीर पोषयित्वा कि कुर्वन्तीत्याह – शरीरमित्यादि। पुष्णन्ति पोषयन्ति ॥१९६॥[2]

भाषा टीका – अहो लोको ! मूर्ख जीव कहा कहा न करै। शरीर कूँ तो पोषै, अर विषयनि कूँ सेवै। मूर्खनि कूँ कछू विवेक नाही, विष तै जिया चाहै। अविवेकीनि कूँ पाप का भय नाही, अर विचार नाही। बिना विचारे न करने योग्य होय सो कार्य करै।

भावार्थ – जो पण्डित विवेकी है ते शरीर सूँ अधिक प्रेम न करै। नाना प्रकार की सामग्री करि याहि न पोषै, अर विषयनि कूँ न सेवै। अर जे मूढ जन है ते शरीर कूँ अधिक पोषै, अर विषयनि कूँ सेवै, न करिवै योग्य कार्य की सका न करै। जो विषयनि कूँ सेवै है ते विष खाय जीया चाहे है।[3]

---

[1] आ० भा० टी०, ४८

[2] आत्मानुशासन शोलापुर, १८७–८८

[3] आ० भा० टी०, २२०

शिर स्थं भारमुत्तार्य स्कन्धे कृत्वा सुयत्नत. ।
शरीरस्थेन भारेण अज्ञानी मन्यते सुखम् ।।२०६।।

संस्कृत टीका – प्रेक्षावतामुद्वेग कर्तुमनुचित इत्याह ।।२०६।।[1]

भाषा टीका – जैसै कोऊ शिर का बोझ उतारि कांधे धरि सुख मानै है, तैसै जगत के जीव रोग का भार उतारि शरीर के भार करि सुख मानै है।

भावार्थ – जगत के जीव रोग गए, शरीर रहे सुख मानै है। अर ज्ञानी जीव शरीर का सम्बन्ध ही रोग जानै है। तातै शरीर जाय तो विषाद नाही। जैसा शिर का भार तैसा ही काधे का भार। जैसै रोग का दुख तैसा ही देह धारण का दुख है।[2]

उक्त सस्कृत टीका की अस्पष्टता एव भाषाटीका के अभाव की पूर्ति पडित टोडरमल की भाषाटीका से हुई। इस टीका मे पडित टोडरमल की अगाध विद्वत्ता की स्पष्ट झलक देखने को मिलती है।

आत्मानुशासन भाषाटीका लिखने की प्रेरणा उन्हे अपने अन्तर से ही प्राप्त हुई है। अन्त प्रेरणा का प्रेरक मिथ्या भ्रम मे फँसे हुए जीवो के उपकार की भावना रही है। इस टीका को देशभाषा मे लिखने का उद्देश्य मदबुद्धि जीवो को भी इस महत्त्वपूर्ण ग्रथ का अर्थ समझाना रहा है, जैसा कि उन्होने मगलाचरण के छन्द मे दिया है[3]।

---

[1] आत्मानुशासन शोलापुर, १९४

[2] आ० भा० टी०, २२७

[3] ऐसे सार शास्त्रनकौ प्रकाशे अर्थ जीवन कौ।
बनै उपकार नाशै मिथ्याभ्रम वासना।।
तातै देशभाषा करि अर्थ को प्रकाशकरै।
जातै मंद बुद्धि हू के होवै अर्थ भासना।।१।।
–आ० भा० टी०, १

आत्मानुशासन भाषाटीका सम्पूर्ण प्राप्त है, पर उसके अन्त मे ग्रथ के अन्त मे लिखी जाने वाली टीकाकार की प्रशस्ति उपलब्ध नही है। हो सकता है प्रशस्ति लिखी ही न गई हो। अत इस ग्रथ मे तो रचनाकाल सम्बन्धी कोई उल्लेख है नही, अन्यत्र भी कोई उल्लेख प्राप्त नही है। ब्र० रायमल द्वारा विक्रम सवत् १८२१ मे लिखी गई इन्द्रध्वज विधान महोत्सव पत्रिका मे इस रचना की चर्चा नही है, जब कि अन्य रचनाओ के विस्तार से उल्लेख उक्त पत्रिका मे है। अत प्रतीत होता है कि यह रचना कम से कम उस समय तक पूर्ण नही हुई थी।

हो सकता है यह रचना वि० स० १८१८ मे सम्यग्ज्ञानचद्रिका के समाप्त होने के बाद आरभ कर दी हो। लगता है इसका आरभ और मोक्षमार्ग प्रकाशक का आरभ करीव-करीव साथ-साथ हुआ होगा। मोक्षमार्ग प्रकाशक के प्रथम अधिकार मे वर्णित वक्ता–श्रोता के लक्षणो मे इसके आरभिक श्लोको के उद्धरण ही नही दिये गए, वरन् उनके आधार पर विस्तृत विवेचन भी किया गया है। यह भी प्रतीत होता है कि मोक्षमार्ग प्रकाशक के छठवे अधिकार तक आते-आते यह टीका समाप्त हो गई होगी क्योकि छठवे अधिकार मे वर्णित साधुओ के शिथिलाचार पर इस ग्रन्थ मे वर्णित शिथिलाचार की स्पष्ट छाप है। वि० सवत् १८२४ के पूर्व तो इसकी समाप्ति माननी ही होगी क्योकि उसके बाद तो पडित टोडरमल का अस्तित्व ही सिद्ध नही होता।

यदि इस टीका का उपरोक्त रचनाकाल सही है तो निश्चित रूप से इसकी रचना जयपुर मे ही हुई होगी क्योकि उक्त काल मे पडित टोडरमलजी की उपस्थिति जयपुर मे ही सिद्ध होती है। उनके अन्यत्र जाने का कोई उल्लेख नही है।

आत्मानुशासन सुभाषित साहित्य है, अत इसमे किसी एक विषय का क्रमबद्ध वर्णन न होकर वहुत से उपयोगी विषयो का वर्णन है। इसके वर्ण्य-विषय के सम्बन्ध मे डॉ० हीरालाल जैन और आ० ने० उपाध्ये लिखते है –

"इसमे सिद्धान्त भी है और आचार भी । काव्य के गुण भी है, और दृष्टान्तो द्वारा सुगम्य सूक्तियाँ भी । कोई विषय इतनी दूर तक नही ताना गया कि वह पाठक को थका दे । थोडे मे बहुत कुछ उपदेश दे दिया गया है, और वह भी ऐसी सुन्दर शैली मे कि विषय एकदम हृदयगम हो जाय और उसके वाचक शब्द भी स्मृति पर चिपक जावे । मुनियो और गृहस्थो, स्त्रियो और पुरुषों, बाल और वृद्ध, साहित्यको और साधारण पाठको को यह रचना समान रूप से रुचिकर और हितकारी होने की क्षमता रखती है । यही कारण है कि जैन समाज मे शताब्दियो से इसका सुप्रचार रहा है । इस पर अधिक टीका टिप्पणी नही लिखी गई, इसका कारण उसकी सरलता है । उसमे जटिलता नही है । भारतीय सुभाषित साहित्य में आत्मानुशासन गणनीय है – इस विशेषता के साथ कि उसमे शृगार-रस का विकार नही है[1] ।

आत्मानुशासन भाषाटीका का आरभ मगलाचरण स्वरूप काव्य से हुआ है, जिसमे देव-शास्त्र-गुरु के मगल स्मरण के साथ-साथ आत्मानुशासन ग्रंथ और उसके ग्रथकर्त्ता का परिचयात्मक स्मरण किया गया है । पश्चात् ग्रथ निर्माण का हेतु बताया गया है । तदनन्तर मूलग्रथ की भाषाटीका आरभ होती है ।

ससार के समस्त प्राणी सुख चाहते है और दुःख से डरते है, अत उक्त प्रयोजन की सिद्धि के लिए इस ग्र थ मे आत्मस्वरूप की शिक्षा दी गई है । साथ ही साथ सावधान भी किया है कि कडुवी औषधि के समान यह उपदेश सुनने मे कुछ कटु लग सकता है, परन्तु परिणाम हितकर ही होगा ।

इसका विषय अध्यायो मे विभक्त नही है और न ही ऐसा करना सभव भी है, क्योकि इसमे अनेक विषय जहाँ-तहाँ आ गये है । इसमे सिद्धान्त, न्याय, नीति, वैराग्य आदि की चर्चाएँ यत्र-तत्र-सर्वत्र बिखरी पडी है । इसमे सम्यग्दर्शन का स्वरूप एव उसके भेद, सुख-दु.ख

---

[1] आत्मानुशासन शोलापुर, सम्पादकीय, VII

का विवेक, दैव और पुरुषार्थ, जीवन और मरण, पुण्य-पाप, शत्रु-मित्र की पहिचान, दुर्बुद्धि और सुबुद्धि मे अन्तर, तृष्णा की स्थिति, कुटुम्बीजनो का स्वार्थीपन, ससार की नश्वरता, धनादि की निरर्थकता, जीवन की क्षणभगुरता, मनुष्य पर्याय की दुर्लभता, लक्ष्मी की चचलता, स्त्रीराग की निन्दा, सत्सगति की महिमा, ज्ञानाराधना की महत्ता, मन की ममता व उसका नियत्रण, कषाय विजय की आवश्यकता, आत्मा और उसकी कर्मबद्ध अवस्था, मोह की महिमा, कामी की दुरवस्था, विषय-सेवन की निरर्थकता, सच्चे तपस्वी का स्वरूप, साधुओ की असाधुता, सत्साधु की प्रशसा और असत्साधु की गर्हा, याचकनिन्दा, अयाचक प्रशसा, बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा तथा प्रवृत्ति और निवृत्ति का स्वरूप आदि विषयो का वैराग्यरसोत्पादक तर्कसगत आध्यात्मिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

अन्त मे आत्मानुशासन का फल बताते हुए ग्रथ समाप्त हुआ है।

आत्मानुशासन भाषाटीका विवेचनात्मक गद्यशैली मे लिखी गई है। भाषा सरल व सुबोध है। आवश्यक विस्तार कही नही है। सक्षेप मे अपनी बात कह कर टीकाकार आगे बढते चले गए है। आगे बढने की धुन मे प्रभाचन्द्र की सस्कृत टीका के समान विषय अस्पष्ट कही भी नही रहा है। जहाँ आवश्यकता समझी गई है, विषय विस्तार से भी स्पष्ट किया गया है। प्रत्येक श्लोक के पूर्व मे उत्थानिका दी गई है। श्लोक के बाद पहले मूल श्लोक का सामान्यार्थ दिया गया है, बाद मे भावार्थ लिख कर उसके अभिप्राय को स्पष्ट किया गया है। भावार्थ स्पष्टता के अनुरोध से ही लिखे गए है। जहाँ विषय को स्पष्ट देखा वहाँ भावार्थ नही लिखा है। सामान्यार्थ लिख कर ही आगे बढ गए है। उदाहरण के लिए श्लोक न० १,१३,७६,८० एव ८७ देखे जा सकते है। आवश्यकतानुसार अन्य ग्रथो के उदाहरण देकर भी विषय को स्पष्ट किया गया है। श्लोक न० १११ एव १४१ मे विषय की पुष्टि के लिए 'उक्तंच' लिख कर ग्रथान्तरो के उद्धरण दिये गए है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय भाषाटीका

'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' आचार्य अमृतचद्र[1] (११वी शती) का अत्यन्त लोकप्रिय आध्यात्मिक ग्रथ है, जिसमे श्रावको के आचार का वर्णन है। यह ग्रथ समस्त जैन परीक्षा बोर्डो के पाठ्यक्रम मे निर्धारित है और नियमित चलने वाले सभी जैन विद्यालयो मे पढाया जाता है। इस ग्रथ पर पडित टोडरमल ने सरल, सुबोध भाषा मे भाषाटीका लिखी है जो कि उनके असमय मे कालकलवित हो जाने से पूर्ण नही हो सकी। उसे प० दौलतराम कासलीवाल ने पूर्ण किया[2]। यह टीका

---

[1] आचार्य अमृतचद्र परम आध्यात्मिक सत, रससिद्ध कवि एव सफल टीकाकार थे। उन्होने कुदकुदाचार्य के प्राकृत भाषा मे लिखे गए समयसार, प्रवचनसार, पचास्तिकाय नामक महान् ग्रन्थो पर सस्कृत भाषा मे अध्यात्मरस से ओतप्रोत बेजोड टीकाएँ लिखी है। समयसार टीका (आत्मख्याति) के बीच-बीच मे लिखे २७८ श्लोक जिन्हे 'समयसार कलश' कहा जाता है, अपने आप मे अभूतपूर्व है। उन्होने आचार्य गृद्धपिच्छ उमास्वामी के महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र (मोक्षशास्त्र) को आधार बना कर 'तत्त्वार्थसार' नामक एक ग्रथ भी लिखा है। दिगम्बर आचार्य-परम्परा मे उन्हे महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

[2] अमृतचद्र मुनीन्द्रकृत, ग्रथ श्रावकाचार।
अध्यातम रूपी महा, आर्याछिन्द जु सार ॥१॥
पुरुषारथ की सिद्धि को, जामै परम उपाय।
जाहि सुनत भव भ्रम मिटै, आतमतत्त्व लखाय ॥२॥
भाषाटीका ता उपरि, कीनी टोडरमल्ल।
मुनिवत वृत्ति ताकी रही, वाके माहि अचल्ल ॥३॥
वे तो परभव कू गये, जयपुर नगर मझारि।
सब साधर्मिन तब कियो, मन मे यहै विचारि ॥४॥
ग्रथ महा उपदेशमय, परम ध्यान को मूल।
टीका पूरन होय तो, मिटै जीव की भूल ॥५॥

प्रकाशित हो चुकी है[1] तथा इसका अनुवाद खडी बोली मे दि० जैन स्वाध्याय मदिर ट्रस्ट, सोनगढ से प्रकाशित हुआ है। पडितजी की भाषाटीका के आधार पर परवर्ती विद्वानो ने अनेक टीकाएँ लिखी है जिनमे भूधर मिश्र[2], नाथूराम प्रेमी[3], उग्रसेन जैन[4], बाबू सूरजभान वकील[5], प० मक्खनलालजी शास्त्री[6] की प्रमुख है। उक्त टीकाकारो मे से बहुतो ने यह बात भूमिका मे स्वीकार भी की है। बाबू उग्रसेन जैन ने तो यहाँ तक लिखा है कि "पडित टोडरमलजी की टीका को मैने रोहतक जैन मदिर सराय मुहल्ला की शास्त्र सभा मे नवम्बर १९२९ से फरवरी १९३० तक पढ कर सुनाया। उस समय इस ग्रथ

साधर्मिन मे मुख्य है, रतनचद दीवान।
पिरथीस्यघ नरेश के, श्रद्धावान सुथान ॥६॥

तिनिकै अति रुचि धर्मस्यौ, साधर्मिनि सौ प्रीति।
देव शास्त्र गुरु की सदा, उर मे महा प्रतीति ॥७॥

आनद सुत तिनकौ सखा, नाम जु दौलतराम।
भृत्य भूप कौ कुल वणिक, जाकौ बसवै धाम ॥८॥

कछुयक गुरु परतापतै, कीनौ ग्रथ अभ्यास।
लगन लगी जिनधर्म सू, जिनदासनि कौ दास ॥९॥

तासू रतन दीवान ने, कही प्रीति धरि एह।
करिए टीका पूरणा, उर धरि धर्म सनेह ॥१०॥

तब टीका पूरन करी, भाषा रूप निधान।
कुशल होय बहु सघ को, लहे जीव निज ज्ञान ॥११॥

[1] प्रकाशक : मुशी मोतीलाल शाह, जयपुर

[2] वि० स० १८७१ मे शाहगज, आगरा मे लिखित

[3] प्रकाशक · श्रीमद्राजचन्द्र शास्त्रमाला, अगास

[4] प्रकाशक सब-कमेटी, दि० जैन मदिर सराय मुहल्ला, रोहतक

[5] प्रकाशक : बाबू सूरजभान वकील

[6] प्रकाशक : भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी सस्था, कलकत्ता

को पढ कर जैन सिद्धान्त के रहस्य का बडा भारी प्रभाव मेरे तथा सभासदो के चित्त पर पडा । जिस दिन सभा मे यह ग्रथ समाप्त हुआ तो श्रोतागण को नियम प्रतिज्ञा दिलाते हुए मैने स्वय यह नियम किया कि मै इस ग्रथ की टीका को आजकल की सरल और साधारण भाषा में रूपान्तर करने का प्रयत्न करूँगा[1] ।"

उत्तरवर्ती टीकाकारो ने पडित टोडरमल की टीका का खडी बोली मे अनुवाद मात्र कर दिया है। वे उसमे कुछ विशेषता नही ला पाये है। नये प्रमेय को तो किसी ने उठाया ही नही। जहाँ ऐसा प्रयत्न किया है, विषय और अस्पष्ट हो गया है।

इस टीका का नाम 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय भाषाटीका' है, जैसा कि इस अपूर्ण टीका को पूर्ण करने वाले पडित दौलतराम कासलीवाल ने लिखा है :-"भाषाटीका ता उपरि, कीनी टोडरमल्ल[2] ।।" यह टीका पडित टोडरमल ने मूल ग्रथ के आधार पर ही लिखी है। इस टीका से पहले की और कोई टीका उपलब्ध नही है और न ही ऐसे उल्लेख प्राप्त है कि इसके पूर्व कोई टीका बनी थी।

इस टीका ग्रथ के अपूर्ण रह जाने से ग्रंथ के अन्त मे लिखी जाने वाली प्रशस्ति पडित टोडरमल द्वारा तो लिखी नही जा सकी। अत. अन्त.साक्ष्य के आधार पर तो इसके प्रेरणास्रोत का पता चलना सभव नही है, पर ब्र० रायमल ने लिखा है कि पडित टोडरमल का विचार पॉच-सात ग्रथो की टीका लिखने का और है[3] । इससे यह प्रतीत होता है कि इस टीका का निर्माण-कार्य उनकी अन्त:प्रेरणा का ही परिणाम था, किन्तु अधूरी टीका को पूर्ण करने की प्रेरणा पडित दौलतराम कासलीवाल को दीवान रतनचन्दजी ने अवश्य दी, जैसा कि ग्रथ की अन्तिम प्रशस्ति में पडित दौलतराम ने स्पष्ट लिखा है –

---

[1] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, दि० जैन मदिर, सराय मुहल्ला, रोहतक, प्रस्तावना, १९

[2] पु० भा० टी० प्र०, १२६

[3] इ० वि० पत्रिका, परिशिष्ट १

"तासू रतन दीवान ने, कही प्रीति धरि एह।
करिए टीका पूरणा, उर धरि धर्म सनेह॥"

इस भाषाटीका के निर्माण का एकमात्र उद्देश्य अज्ञानी जीवो की आत्मा के सम्बन्ध मे हुई अनादिकालीन भूल मिटाना और आत्मज्ञान प्राप्ति का सहज साधन उपलब्ध कराना है, जैसा कि ग्रथ की प्रशस्ति से स्पष्ट है[1]।

पंडित दौलतराम कासलीवाल ने यह टीका मार्गशीर्ष शुक्ला २ वि० स० १८२७ को समाप्त की[2]। इसका आरम्भ निश्चित रूप से वि० स० १८२४ के पहिले हो चुका था, क्योकि इसे आरम्भ पडित टोडरमल ने किया और उनकी उपस्थिति वि० स० १८२४ के बाद सिद्ध नही होती। वि० स० १८२१ मे हुए इन्द्रध्वज विधान महोत्सव की पत्रिका मे ब्र० रायमल ने पण्डित टोडरमल द्वारा रचित गोम्मटसार जीवकाण्ड भाषाटीका, गोम्मटसार कर्मकाण्ड भाषाटीका, लब्धिसार-क्षपणासार भाषाटीका, त्रिलोकसार भाषाटीका का और मोक्षमार्ग प्रकाशक का तो उल्लेख किया, पर इसका उल्लेख नही किया। अत यह भाषाटीका वि० स० १८२१ के बाद आरम्भ हुई प्रतीत होती है।

मोक्षमार्ग प्रकाशक का सातवॉ अधिकार समाप्त करने के बाद तत्काल इस टीका का आरम्भ हो गया लगता है, क्योकि मोक्षमार्ग प्रकाशक के पूरे सातवे अधिकार को पडित टोडरमल ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के मगलाचरण मे चार लाइनो मे लिपिबद्ध कर दिया है। मगलाचरण के रूप मे उक्त छन्द की कोई उपयोगिता नही लगती, किन्तु सातवॉ अधिकार लिखने के उपरान्त उनके मस्तिष्क मे वह विषय छा रहा था। वे उसे इस टीका के आरम्भ मे रखने का

---

[1] पु० भा० टी० प्रशस्ति, १२६

[2] अट्ठारह सौ ऊपरै सवत सत्ताईस।
मास मगसिर ऋतु शिशिर सुदि दोयज रजनीश॥
–पु० भा० टी० प्रशस्ति, १२६

लोभ सवरण नही कर सके[1]। मोक्षमार्ग प्रकाशक की रचना और पुरुषार्थसिद्ध्युपाय भाषाटीका की रचना साथ-साथ चल रही थी। मोक्षमार्ग प्रकाशक के नौवे अधिकार मे सम्यग्दर्शन के विश्लेषण पर पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की व्याख्याएँ छाई हुई है। दुर्भाग्यवश दोनो ही ग्रंथ अपूर्ण रह गए।

पंडित दौलतराम ने पडितजी का अवसान जयपुर मे बताया है व उनकी अधूरी पुरुषार्थसिद्ध्युपाय भाषाटीका को दीवान रतनचन्दजी की प्रेरणा से जयपुर मे ही पूर्ण करने की चर्चा की है। अत इस ग्रथ की रचना जयपुर मे ही हुई है।

ग्रन्थ का आरम्भ मगलाचरण से हुआ है। मंगलाचरण मे देव-शास्त्र-गुरु को स्मरण कर निश्चय और व्यवहार का स्वरूप न जानने वाले अज्ञानियो एव निश्चय-व्यवहार का स्वरूप जानने वाले ज्ञानियो की चर्चा एक छन्द मे की गई है। तदुपरान्त मूल ग्रन्थ की भाषाटीका आरम्भ होती है, जिसका विभाजन इस प्रकार है –

(१) उत्थानिका
(२) सम्यग्दर्शन अधिकार

---

[1] मोक्षमार्ग प्रकाशक के सातवे अधिकार मे निश्चयाभासी, व्यवहारभासी उभयाभासी एव सम्यक्त्व के सन्मुख मिथ्यादृष्टियो का विस्तृत वर्णन है एव निश्चय-व्यवहार के सही स्वरूप को समझ कर आत्मा के शुद्ध स्वरूप को पहिचानने की प्रेरणा दी गई है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय भाषाटीका मे मगलाचरण का छन्द निम्नानुसार है :–

कोऊ नय निश्चय से आत्मा को शुद्ध मान,
भये है सुछन्द न पिछाने निज शुद्धता।
कोऊ व्यवहार दान, शील, तप, भाव कौ ही,
आतम को हित जान, छाडत न मुद्धता।
कोऊ व्यवहार नय निश्चय के मारग कौ,
भिन्न-भिन्न पहिचान करै निज उद्धता।
जब जाने निश्चय के भेद व्यवहार सब,
कारण ह्वै उपचार माने तब बुद्धता ॥५॥

(३) सम्यग्ज्ञान अधिकार
(४) सम्यक्चारित्र अधिकार (देशचारित्र)
(५) सल्लेखना अधिकार
(६) अतिचार अधिकार
(७) सकलचारित्र अधिकार

उत्थानिका मे मगलाचरणोपरान्त निश्चय-व्यवहार के विषय को लिया गया है। पडित टोडरमल ने भाषाटीका मे उक्त विषय को विस्तार से स्पष्ट किया है। जो बात मूल ग्रन्थ मे नही है, उसे अन्य ग्रन्थो के आधार एव युक्तियो से स्पष्ट किया गया है। तत्पश्चात् वक्ता कैसा होना चाहिए, किस योग्यता का श्रोता उपदेश का पात्र है, उपदेश का क्रम क्या है, आदि बातो की चर्चा की गई है। तदनन्तर ग्रन्थ का आरम्भ होता है।

सम्यग्दर्शन अधिकार मे सम्यग्दर्शन का स्वरूप एव उसके आठ अगो का वर्णन है। भाषाटीका मे सम्यग्दर्शन की परिभाषा के अतर्गत आने वाले सात तत्त्वो का विस्तृत वर्णन है।

सम्यग्ज्ञान अधिकार मे सम्यग्ज्ञान का स्वरूप बताते हुए मूल मे न होते हुए भी भाषाटीकाकार ने प्रमाण, प्रमाण के भेद – प्रत्यक्ष, परोक्ष (स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम), नय एव नय के भेदों को स्पष्ट किया है। इसके अनन्तर सम्यग्ज्ञान सम्बन्धी कारणकार्य-विधान एव सम्यग्ज्ञान के अंगो पर विचार किया गया है।

सम्यक्चारित्र अधिकार में देशचारित्र (श्रावक के बारह व्रत) का विस्तृत वर्णन है। अहिसाणुव्रत के सदर्भ मे अहिसा का बहुत सूक्ष्म, गभीर और विस्तृत विवेचन किया गया है। अहिसा और हिंसा सम्बन्धी वर्णन मे उन्हे अनेक पक्षो से देखा गया है और उनके सम्बन्ध मे उठने वाले विविध पक्षो और प्रश्नो का तर्कसगत समाधान प्रस्तुत किया गया है। अहिसा की परिभाषा भी अन्तरग पक्ष को लक्ष्य मे लेकर की गई है एव असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह को

हिसा के रूप मे सिद्ध किया गया है। सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह को अहिसा के रूपान्तर के रूप मे देखा गया है। अहिसा के स्वरूप पर विचार करते हुए रात्रिभोजन, अनछना पानी काम मे लेने आदि हिसामूलक क्रियाओं पर तर्कसंगत प्रकाश डाला गया है। इस अधिकार की सक्षिप्त रूपरेखा निम्नलिखित चार्ट द्वारा समझी जा सकती है :—
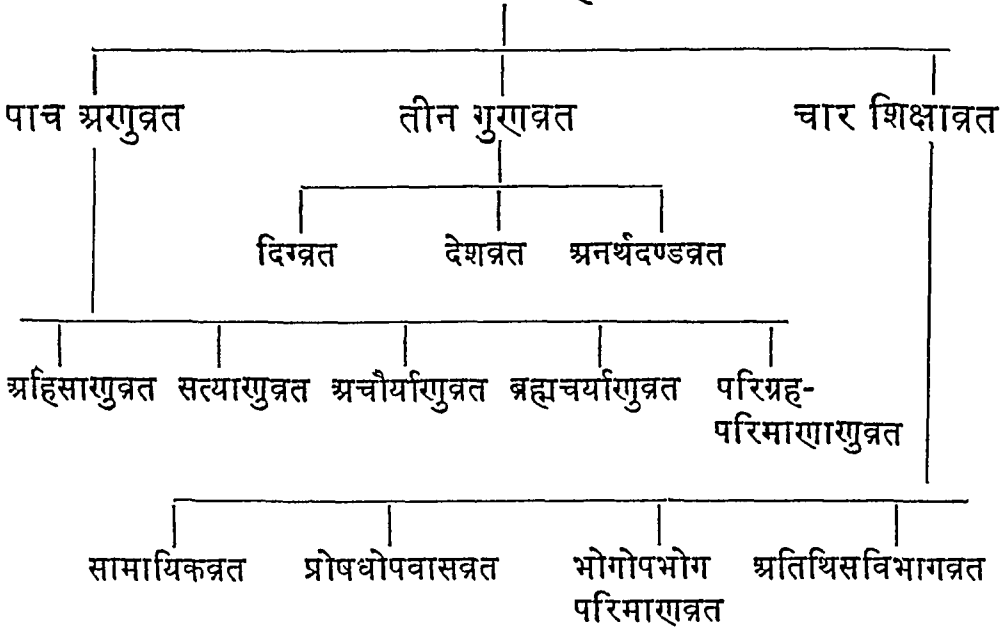
सल्लेखना अधिकार में समाधिमरण का वर्णन है। सल्लेखना समाधिमरण को कहते है। जब कोई भी व्रती जीव अपना मरण समय निकट जान लेता है तब वह शान्ति से आत्मध्यानपूर्वक बिना आकुलता के मरण स्वीकार कर लेता है, यही समाधिमरण है। इस अधिकार मे समाधिमरण की विधि विस्तार से बताई गई है, जिसमें कषायो की शांति पर विशेष बल दिया गया है। कुछ लोग सल्लेखना को आत्मघात के रूप मे देखते है। इसमे सल्लेखना और आत्मघात का भेद स्पष्ट किया गया है तथा सल्लेखना की आवश्यकता और उपयोगिता पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

अतिचार अधिकार मे सम्यग्दर्शन, श्रावक के बारह व्रतो एवं सल्लेखना के अतिचारो का वर्णन है। प्रत्येक के पॉच-पॉच अतिचार बताये गए है। इस प्रकार कुल ७० अतिचारों का वर्णन है।

सकलचारित्र अधिकार मे मुनिधर्म के स्वरूप का वर्णन है। इसमे मुनियों के षट् आवश्यक, बारह तप, तीन गुप्ति, पाँच समिति, दश धर्म, बारह भावना और बाईस परीषहो का विस्तृत वर्णन है। 'रत्नत्रय ही मुक्ति का कारण है और रत्नत्रय मुक्ति का ही कारण है' – इस तथ्य को भी सूक्ष्मता से स्पष्ट किया है।

अन्त मे प्रशस्तिपूर्वक ग्रन्थ समाप्त हुआ है।

यह भाषाटीका विवेचनात्मक गद्यशैली मे लिखी गई है। यथास्थान विषय की स्पष्टता के अनुरोध से विषय विस्तार किया गया है, किन्तु अनावश्यक विस्तार कही भी देखने को नही मिलता। मूल मे आए पारिभाषिक शब्दो की परिभाषाएँ दी गई है तथा उनके भेद-प्रभेदो को विस्तार से समझाया गया है। जैसे मूल श्लोक मे निश्चय और व्यवहार शब्द आये। उन्हे स्पष्ट करने के लिए निश्चय-व्यवहार की परिभाषा, उनके भेद एव कथनपद्धति को स्पष्ट किया गया है तथा विषय के बीच उठने वाले प्रश्नो को स्वय उठा-उठाकर समाधान किया गया है। मूल पाठ का समुचित अर्थ लिख कर सर्वत्र भावार्थ मे विषय को विशेष रूप से स्पष्ट किया गया है। प्रत्येक मूल श्लोक की उत्थानिका दी गई है तथा आवश्यकतानुसार सूक्ष्म विषय को उदाहरणो के द्वारा स्पष्ट किया गया है। जैसे :–

"यहाँ प्रश्न उपजे – जो जीव के भाव महा सूक्ष्म रूप तिनकी खबरि जड पुद्गल कौ कैसे होय। बिना खबर कैसे पुण्य-पाप रूप होय परनमे है। तिसका उत्तर – जैसे मत्रसाधक पुरुष बैठा हुआ छानै मत्र को जपै है, उस मत्र के निमित्त करि इसके बिना ही कीए किसी को पीडा उपजै है, कोऊ प्राणान्त होय है, किसी का भला होय है, कोऊ विडम्बना रूप परनमे है, ऐसी उस मत्र मे शक्ति हैं जिसका निमित्त पाइ चेतन-अचेतन पदार्थ आप ही अनेक अवस्था कौ धरै है। तैसे अज्ञानी जीव अपने अतरग विषै विभाव भावनि परनमे है, उन भावनि का निमित्त पाइ इसको बिना ही कीए कोऊ पुद्गल पुण्यरूप परनमे कोऊ पापरूप परनमे"।

टीका सरल, सुबोध एव सक्षिप्त शैली में लिखी गई है।

पद्य साहित्य

पडित टोडरमल का पद्य साहित्य दो रूपो मे पाया जाता है। एक तो है गोम्मटसार पूजा स्वतत्र कृति, दूसरे है टीका ग्रन्थो एव मौलिक ग्रन्थो के मंगलाचरण एव प्रशस्तियाँ। गद्य साहित्य की अपेक्षा पद्य साहित्य कम है। उन्होने स्वय लिखा है कि कविता करना मेरा काम नही है[1]। फिर भी उनका जो भी पद्य साहित्य प्राप्त है, उसमे काव्यात्मक गुणो की कमी नही। उन्होने पद्य साहित्य मे सस्कृत और हिन्दी दोनो भाषाओ को माध्यम बनाया है। उनका पद्य साहित्य निम्नलिखित रूप मे उपलब्ध है –

नाम ग्रन्थ	मगलाचरण छन्द	प्रशस्ति छन्द	योग
१. सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका	६	६३	६९
२ गोम्मटसार जीवकाण्ड भापाटीका	२३	६	२९
३ गोम्मटसार कर्मकाण्ड भाषाटीका	१०	१५	२५
४. लब्धिसार-क्षपणासार भाषाटीका	४	२	६
५ त्रिलोकसार भाषाटीका	९	४	१३
६ अर्थसदृष्टि अधिकार	२	२	४
७. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय भाषाटीका	६	×	६
८. आत्मानुशासन भाषाटीका	२	×	२
९ मोक्षमार्ग प्रकाशक	९	×	९
१०. समोसरण वर्णन	१	×	१
	७२	९२	१६४

[1] त्रि० भा० टी०, भूमिका, १

उपर्युक्त प्रकार, मगलाचरण व प्रशस्ति पद्यो की संख्या १६४ है। गोम्मटसार पूजा की छन्द सख्या ५७ अलग से है। इस प्रकार कुल मिला कर २२१ छन्द होते है। गोम्मटसार पूजा के ४५ छन्द सस्कृत मे व १२ छन्द हिन्दी मे है। लब्धिसार-क्षपणासार की प्रशस्ति के २ छन्द एव अर्थसदृष्टि अधिकार के ४ छन्द सस्कृत मे है। शेष सभी हिन्दी मे है।

छन्दो का नामानुसार विवरण इस प्रकार है –

हिन्दी छन्द – दोहा ६५, सोरठा १, चौपाई ३५, कवित्त ४, सवैया २०, अडिल्ल ३, पद्धरि १२

संस्कृत छन्द – ५१

गोम्मटसार पूजा मे गोम्मटसार शास्त्र के प्रति भक्ति-भाव प्रदर्शित किया गया है, जिसका वर्णन उक्त कृति के परिचयात्मक अनुशीलन मे किया जा चुका है। इसकी भाषा सरल, सुबोध सस्कृत है पर जयमाल हिन्दी मे है। छन्द रचना निर्दोष एव सहज है। प्रथम छन्द इस प्रकार है –

ज्ञानानन्दमय· शुद्ध, येनात्मा भवति ध्रुवम्।
गोम्मटसार शास्त्र तद् भक्त्या सस्थापयाम्यहम्॥

पुष्प का छन्द भी द्रष्टव्य है –

पुष्पै सुगन्धै शुभवर्णवद्भि,
चैतन्यभावस्य विभासनाय।
तत्त्वार्थ-बोधामृत हेतुभूतम्,
गोम्मटसार प्रयजे सुशास्त्रम्॥

जयमाल के प्रारम्भिक छन्द मे गोम्मटसार को अपार समुद्र बताया गया है जिसमे विचार रूपी रत्न भरे हुए है, जिन्हे गाथारूपी मजबूत धागो मे पिरो कर हार बना भाग्यवान भव्य जीव प्रफुल्लित होकर पहनते है। छन्द इस प्रकार है –

यह गोम्मटसार उदधि अपार,
रतन विशाल मत्र घने।
गाथा दृढ धागे गुहे सभागे,
पहिरे भवि जन हिय माने॥

विभिन्न मंगलाचरणो मे भी कवि ने देव-शास्त्र-गुरु के प्रति भक्तिभाव प्रकट किया है। उनकी भक्ति निष्काम है। उनका कहना है कि वीतराग भगवान का भक्त भिखारी नही होता। उनके अनुसार मगलाचरण मे किये गए गुण स्तवन का हेतु यह है – "सहाय करावने की, दु:ख द्यावने की जो इच्छा है, सो कषायमय है, तत्काल विषै वा आगामी काल विषै दु:खदायक है। तातै ऐसी इच्छा कूँ छोरि हम तौ एक वीतराग विशेष ज्ञान होने के अर्थी होइ अरहतादिक कौ नमस्कारादिरूप मगल किया है[1]।"

उनकी यदि कोई माग है तो वह है एक मात्र स्वय भगवान् बनने की। वे सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका की प्रशस्ति मे अपनी भक्ति का कारण इस प्रकार व्यक्त करते है :–

> अरहत सिद्ध सूरि उपाध्याय साधु सर्व,
> अर्थ के प्रकाशी मगलीक उपकारी है।
> तिनको स्वरूप जानि रागतै भई है भक्ति,
> तातै काय कौ नमाय स्तुति उचारी है।।
> धन्य धन्य तुम ही तै सब काज भयो,
> कर जोरि बारबार बदना हमारी है।
> मगल कल्याण सुख ऐसो चाहत है,
> हौहु मेरी ऐसी दशा जैसी तुम धारी है[2]।।

वे अच्छी तरह जानते है कि भगवान् किसी का अच्छा बुरा नही करता, करे तो वह भगवान् नही। सभी ससारी जीवो के सुख-दु ख, जीवन-मरण उनके अच्छे-बुरे कार्यो (शुभाशुभ कर्मो) का फल है[3]। अत उनकी भक्ति सहज श्रद्धा का परिणाम है, किसी प्रकार की आशा-आकाक्षा का फल नही।

---

[1] मो० मा० प्र०, १४

[2] स० च० प्र०, छन्द ६३

[3] मो० मा० प्र०, ३३१-३२

सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका प्रशस्ति मे ग्रथ की निर्विघ्न समाप्ति पर प्रसन्नता व्यक्त कर कवि ग्रथ के कर्त्तृत्व सम्बन्धी अभिन्न (निश्चय) व भिन्न (व्यवहार) षट्कारक स्पष्ट करता है। तदुपरान्त जिनागम के प्रथम श्रुतस्कध की परम्परा बताता है एव सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका की रचना की चर्चा करता है।

सक्षेप मे पद्यो मे ही टीका मे वर्णित विषयो की तालिका दे दी गई है। अज्ञान और प्रमादजन्य दोषो के प्रति क्षमा याचना करते हुए कवि यह स्पष्ट करता है कि गलतियाँ होने के भय से यदि ग्रथ रचनाएँ नही की जावेगी तो फिर साहित्य निर्माण का पथ ही समाप्त हो जायगा, क्योकि सर्वज्ञता प्राप्ति के पूर्व तो गलती होना सभी से सभव है। हाँ, कषाय और मनगढन्त कल्पना से उनके द्वारा कुछ नही लिखा गया है, यह बात उन्होने स्पष्ट कर दी है।

इसके बाद उन्होने अपनी चर्चा की है। उन्होने अपना लौकिक परिचय कम और आध्यात्मिक परिचय अधिक दिया है। तदनन्तर अपने शास्त्राभ्यास की चर्चा के साथ ब्र० रायमल की प्रेरणा से इस टीका की रचना करने का उल्लेख किया है। अन्त मे उक्त शास्त्र के अभ्यास करने, पढने-पढाने की प्रेरणा देते हुए शास्त्राभ्यास का शुभ फल बताया है।

उनके पद्यो मे विषय की उपादेयता, स्वानुभूति की महत्ता, जिन और जिनसिद्धान्त परम्परा का महत्त्व आदि बातो का रुचिपूर्ण शैली मे अलकृत वर्णन है। जैसे –

अनुप्रास –

दोष दहन गुन गहन घन, अरि करि हरि अरिहत।
स्वानुभूति रमनी रमन, जगनायक जयवत।।

सिद्ध, सुद्ध, साधित सहज, स्वरस सुधारस धार।
समयसार सिव सर्वगत, नमत होहु सुखकार।।

जैनीवानी विविध विधि, वरनत विश्व प्रमान।
स्यात्पद मुद्रित अहित हर, करहु सकल कल्यान।।

गौमूत्रिकाबध व चित्रालकार –

मै नमों नगन जैन जन ज्ञान ध्यान धन लीन ।
मैन मान बिन दान घन एन हीन तन छीन ।।

इसे गौमूत्रिकाबध मे इस प्रकार रखेगे –
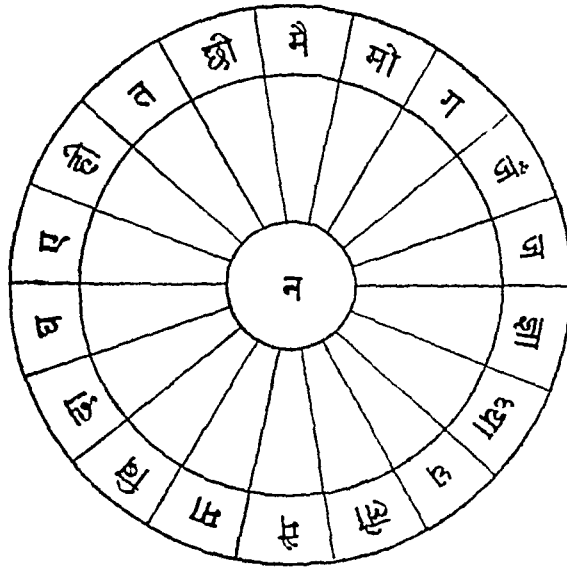
चित्र के रूप मे इस प्रकार रखा जायगा :-

इसका अर्थ है – मै ज्ञान और ध्यान रूपी धन मे लीन रहने वाले, काम और अभिमान से रहित, मेघ के समान धर्मोपदेश की वर्षा करने वाले, पाप रहित, क्षीणकाय नग्न दिगम्बर जैन साधुओ को नमस्कार करता हूँ ।

ध्यान से देखने पर उक्त छन्द मे अनुप्रास, यमक आदि अलंकार भी खोजे जा सकते है ।

श्लेष –

बदौ ज्ञानानन्दकर, नेमिचन्द गुण कन्द ।
माधव बदित विमल पद, पुन्य पयोनिधि नन्द ।।

उक्त छन्द मे 'नेमिचन्द' का अर्थ बाईसवे तीर्थंकर भगवान् नेमिनाथ एव गोम्मटसारादि ग्रन्थो के कर्त्ता आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती है तथा 'माधव' का अर्थ श्रीकृष्ण तथा आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती के शिष्य आचार्य माधवचन्द्र त्रैविद्य है ।

इसी प्रकार का एक छन्द अर्थसदृष्टि अधिकार मे सस्कृत का भी मिलता है, जो कि इस प्रकार है –

पच सग्रह सिद्धस्त, त्रिलोकीसार दीपक ।
माधवादि स्तुत स्तौमि, नेमिचन्द्र गुणोज्वल ।।

उपमा –

मौक्तिक रत्नसूत्र मे पोय, गूँथ्या **ग्रन्थ हार सम सोय** ।
सस्कृत सदृष्टिनि कौ ज्ञान, नहि जिनके **ते बाल समान** ।।
वाहन सम यहु सुगम उपाव, या करि सफल करौ निज भाव ।
मेघवत अक्षर रहित दिव्य ध्वनि करि ।

रूपक –

आप अर्थमय शब्द जुत **ग्रंथ उदधि** गम्भीर ।
अवगाहै ही जानिए याकी महिमा धीर ।।
कलिकाल रजनी मे अर्थ कौ प्रकाश करै ।
रमो **शास्त्र आराम माँहि**, सीख लेहु यह मानि ।।
मेघवत् अक्षर रहित दिव्य ध्वनि करि ।
धर्मामृत बरसाय **भवताप** हरै है ।।

मूल ग्रन्थ गोम्मटसार की तुलना 'गिरनार' से एव सम्यग्ज्ञान-चद्रिका टीका की तुलना 'वाहन' से करते हुए कवि ने एक लम्बा रूपक बाँधा है –

नेमिचन्द जिन शुभ पद धारि।
जैसे तीर्थ कियो गिरिनारि ।।
तैसै नेमिचन्द मुनिराय।
ग्रथ कियो है तरण उपाय ।।
देशनि मे सुप्रसिद्ध महान।
पूज्य भयो है यात्रा थान ।।
यामै गमन करै जो कोय।
उच्चपना पावत है सोय ।।
गमन करन कौ गली समान।
कर्नाटक टीका अमलान ।।
ताकौ अनुसरती शुभ भई।
टीका सुन्दर सस्कृत मई ।।
केशव वर्णी बुद्धि निधान।
सस्कृत टीकाकार सुजान ।।
मार्ग कियौ तिहि जुत विस्तार।
जहँ स्थूलनि कौ भी सचार ।।
हमहू करिकै तहाँ प्रवेश।
पायो तारन कारन देश ।।
चितवन करि अर्थन को सार।
अैसे कीन्हो बहुरि विचारि ।।
सस्कृत संदृष्टिनि कौ ज्ञान।
नहि जिनके ते बाल समान ।।
गमन करन कौ अति तरफरै।
बल विनु नाहि पदनि कौ धरै ।।
तिनि जीवनि कौ गमन उपाय।
भाषाटीका दई बनाय ।।
वाहन सम यहु सुगम उपाव।
या करि सफल करौ निज भाव ।।

स्वानुभूति पर उन्होने सर्वत्र जोर दिया है। यह बात उनके प्रतीको मे भी मिलती है। जहा परम्परागत रूप से अरहन्त, सिद्ध भगवान् के लिए 'शिव रमनी रमन' लिखा जाता रहा है, वहाँ वे 'स्वानुभूति रमनी रमन' लिखते है।

इस प्रकार उनका पद्य साहित्य यद्यपि सीमित है, तथापि जो भी है वह उनके कवि हृदय को व्यक्त करता है।

उनके समग्र साहित्य का अनुशीलन करने के उपरान्त हम देखते है कि उनका सम्पूर्ण साहित्य करीब एक लाख श्लोक प्रमाण विशाल परिमाण मे है तथा वह मौलिक और टीकाएँ, गद्य और पद्य सभी रूपो मे उपलब्ध है। सभी साहित्य देशभाषा मे है, मात्र कुछ सस्कृत छदो को छोड कर। उनकी रचनाएँ वर्णनात्मक, व्याख्यात्मक, विवेचनात्मक, यत्र-रचनात्मक एव पत्रशैली में है। विविध रूपो मे प्राप्त होने पर भी उनका प्रतिपाद्य आध्यात्मिक तत्त्वविवेचन ही है। उनके मौलिक ग्रन्थ तो उनके स्वतन्त्र तत्त्वचितन को प्रतिफलित करते ही है, उनके टीकाग्रथ भी मात्र अनुवाद नही है, उनका चितक वहाँ भी जागृत है और उन्होने अपने इस स्वातन्त्र्य का स्पष्ट उल्लेख भी किया है।

प्रतिभाओ का लीक पर चलना कठिन होता है, पर ऐसी प्रतिभाएँ बहुत कम होती है जो लीक छोड कर चले और भटक न जाये। पडित टोडरमल भी उन्ही मे से एक है जो लीक छोड़ कर चले, पर भटके नही।

चतुर्थ अध्याय

वर्ण्य-विषय और दार्शनिक विचार

वर्ण्य-विषय और दार्शनिक विचार

जैन मान्यता के अनुसार यद्यपि परम ब्रह्म (वस्तुस्वरूप) के समान उसका प्रतिपादक शब्द ब्रह्म (श्रुत) भी अनादि निधन है[1]; तथापि कालवश (पर्यायापेक्षा) उसका उत्पाद और विनाश भी होता है। वर्तमान मे आलोच्य साहित्य से सम्बन्धित पूर्व परम्परागत जैन साहित्य मे आचार्य धरसेन के शिष्य पुष्पदन्त और भूतबलि द्वारा रचित 'षट्खण्डागम' सर्वाधिक प्राचीन रचना है। इसकी रचना का काल ईस्वी की द्वितीय शताब्दी सिद्ध होता है[2]। षट्खण्डागम मे सूत्ररूप से जीव द्वारा कर्म बध और उससे उत्पन्न होने वाले नाना जीव-परिणामो का बडी व्यवस्था, सूक्ष्मता और विस्तार से विवेचन किया गया है। षट्खण्डागम की टीकाएँ क्रमश· कुन्दकुन्द, शामकुण्ड, तुम्बुलूर, समन्तभद्र और बप्पदेव ने बनाई – ऐसे उल्लेख है, पर ये टीकाएँ अप्राप्त हैं। उसके अन्तिम टीकाकार है – वीरसेनाचार्य, जिन्होने अपनी सुप्रसिद्ध टीका 'धवला' की रचना शक स० ७३८ तदनुसार ई० सन् ८१६ कार्तिक शुक्ल त्रयोदशी को पूरी की[3]।

धरसेनाचार्य के समय के लगभग एक और आचार्य गुणधर हुए जिन्होने 'कषायप्राभृत' की रचना की। इस पर भी वीरसेनाचार्य ने अपूर्ण टीका लिखी जिसे उनके निधनोपरान्त उनके शिष्य आचार्य जिनसेन ने पूर्ण की, वह 'जयधवला' के नाम से प्रसिद्ध है[4]।

षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डो मे जीव के कर्त्तृत्व की अपेक्षा से और अन्तिम तीन खण्डों मे कर्म प्रकृतियों के स्वरूप की अपेक्षा से

---

[1] मो० मा० प्र०, १

[2] भा० स० जै० यो०, ७४

[3] वही, ७५-७६

[4] वही, ८२

विवेचन हुआ है । इसी विभाग को लक्ष्य मे रख कर आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने विक्रम की ग्यारहवी शताब्दी के मध्य गोम्मटसार ग्रन्थ की रचना की और उसको दो भागो मे जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड मे विभाजित किया । गोम्मटसार मे षट्खण्डागम का पूर्ण निचोड़ आ गया है[1] ।

सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्र द्वारा रचित दो महाग्रन्थ और है, जिनके नाम है लब्धिसार और क्षपणासार । इन्ही गोम्मटसार जीवकाण्ड, गोम्मटसार कर्मकाण्ड, लब्धिसार व क्षपणासार ग्रन्थो पर आगे चलकर वि० स० १८१८ मे प० टोडरमल ने 'सम्यग्ज्ञानचद्रिका' नामक भाषाटीका की है[2], जो कि प्रथम श्रुतस्कध परम्परा मे आती है । प्रथम श्रुतस्कध परम्परा मे जीव और कर्म के सयोग से उत्पन्न आत्मा की ससार-अवस्था का, गुणस्थान, मार्गणास्थान आदि का वर्णन होता है । यह कथन पर्यायार्थिक नय की प्रधानता से होता है । इस नय को अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय भी कहते है और इसे ही अध्यात्म की भाषा मे अशुद्ध निश्चय नय या व्यवहार नय कहा जाता है[3] ।

द्वितीय श्रुतस्कध मे शुद्धात्मा का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है । इसमे शुद्ध निश्चय नय का कथन है । इसे द्रव्यार्थिक नय भी कहते है ।

द्वितीय श्रुतस्कध की उत्पत्ति कुन्दकुन्दाचार्य से होती है । उन्होने समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पचास्तिकाय और अष्टपाहुड आदि ग्रन्थो की रचना की है । कुन्दकुन्दाचार्यदेव को दिगम्बर परम्परा मे भगवान महावीर और इन्द्रभूति गौतम गणधर के बाद तृतीय स्थान के रूप मे स्मरण किया जाता है :–

मगल भगवान वीरो, मगल गौतमो गणी ।
मगल कुन्दकुन्दाद्यो, जैन धर्मोऽस्तु मगलम् ।।

---

[1] भा० स० जै० यो०, ७९-८०

[2] स० च० प्र०

[3] समयसार, उपोद्घात्, १०

प्रत्येक दिगम्बर जैन उक्त छद को शास्त्राध्ययन आरम्भ करते समय प्रति दिन बोलते है । कुन्दकुन्दत्रयी [1] पर आचार्य अमृतचन्द्र ने गम्भीर टीकाए लिखी है । उक्त ग्रन्थो पर आचार्य जयसेन की भी सस्कृत भाषा मे टीकाएँ उपलब्ध है ।

प० टोडरमल ने दोनो श्रुतस्कधो का गम्भीर अध्ययन किया तथा दोनो प्रकार के ग्रन्थो की टीकाए लिखने का उपक्रम किया था। उन्होने अपने मौलिक ग्रन्थो मे भी उक्त दोनो परम्पराओ मे विवेचित विषयो का विस्तृत व गम्भीर विवेचन किया है । इस अध्याय मे उक्त दोनो श्रुतस्कध परम्पराओ के परिप्रेक्ष्य मे प० टोडरमल के दार्शनिक एव अन्य विचारो का अध्ययन प्रस्तुत करेगे ।

प० टोडरमल ने कही भी यह दावा नही किया है कि उन्होने कुछ नया किया है । उनका उद्देश्य तो वीतराग सर्वज्ञ द्वारा प्रतिपादित आत्महितकारी वस्तुस्वरूप जनसाधारण तक पहुँचाना था । अत उनके स्वर मे वे तथ्य अधिक मुखरित हुए है जिनके कारण सामान्यजन आत्महितकारी वस्तुस्वरूप समझने के लिए लालायित और प्रयत्नशील रहते हुए भी कही न कही उलझ कर रह जाते है । वे कौन से स्थल है तथा वे किस प्रकार की भूले है जो वस्तु के समझने मे बाधक बनती है, उन्हे उन्होने खोज-खोजकर निकाला है । उनके कारणो की खोज की है । उनका वर्गीकरण किया, विश्लेषण किया एव उन भूलो से बचने के उपायों पर प्रकाश डाला है । उन्होने उन भूलो को दो भागो मे विभाजित किया है –

(१) निश्चय और व्यवहार सम्बन्धी अज्ञान के कारण होने वाली भूले ।

(२) चारो अनुयोगो के कथन-पद्धति सम्बन्धी अज्ञान के कारण होने वाली भूले ।

इनके सबध मे जैन दर्शन मे वर्णित मूलतत्त्वो के सदर्भ मे यथास्थान विचार करेगे ।

---

[1] समयसार, प्रवचनसार और पचास्तिकाय को कुन्दकुन्दत्रयी कहा जाता है ।

जैन दर्शन मे छ द्रव्यो के समुदाय को विश्व कहते है और वे छ द्रव्य है—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। जीव को छोड कर वाकी पॉच द्रव्य अजीव है[1]। इस तरह सारा जगत् चिद्चिदात्मक है। जीव द्रव्य अनन्त है और पुद्गल द्रव्य उनसे भी अनन्तगुणे है। धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य एक-एक है[2], काल द्रव्य असख्यात है[3]। ज्ञानदर्शनस्वभावी आत्मा को जीव द्रव्य कहते है[4]। जिसमे स्पर्श, रस, गध और वर्ण पाया जाय वह पुद्गल है[5]। जितना भी इन्द्रिय के माध्यम से दृश्यमान जगत् है, वह सब पुद्गल ही है। स्वय चलते हुए जीव और पुद्गलो को गमन मे जो सहकारी (निमित्त) कारण है, वह धर्म द्रव्य है और गतिपूर्वक स्थिति करने वाले जीव और पुद्गलो की स्थिति मे जो सहकारी (निमित्त) कारण है, वह अधर्म द्रव्य है। समस्त द्रव्यो के अवगाहन मे निमित्त आकाश द्रव्य और परिवर्तन मे निमित्त काल द्रव्य है[6]।

जीव व पुद्गल (कर्म, शरीर) अनादिकाल से एकमेक हो रहे है। ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म (पुद्गल कर्म) के उदय मे जीव के मोह-राग-द्वेष (भाव कर्म) होते है और मोह-राग-द्वेष होने पर आत्मा से द्रव्य कर्मो का सम्बन्ध होता है, उसके फलस्वरूप देहादि की स्थिति बनती रहती है और आत्मा दु खी हुआ करता है। जीव की इस दु खावस्था का नाम ही ससार है और दु खो से मुक्त हो जाने का नाम है मोक्ष। दु खो से छूटने के उपाय को कहते है मोक्षमार्ग।

प्रत्येक ससारी जीव दु खी है और दु खो से छूटना भी चाहता है, पर उसे सच्चा मोक्षमार्ग ज्ञात न होने से वह छूट नही पाता है। उक्त मोक्षमार्ग वतलाने का प्रयत्न ही समस्त जैनागम मे किया गया है।

---

[1] पचास्तिकाय, गाथा १२४

[2] तत्त्वार्थसूत्र, अ० ५ सू० ६

[3] द्रव्यसग्रह, गाथा २२

[4] तत्त्वार्थसूत्र, अ० २ सू० ८–९

[5] वही, अ० ५ सू० २३

[6] (क) द्रव्यसग्रह, गाथा १७ से २१

(ख) प्रवचनसार, गाथा १३३–३४

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता ही मोक्ष का मार्ग है[1]। मोक्षमार्ग एव उसके अन्तर्गत आने वाले सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र एव सम्यग्दर्शनादि के भी अन्तर्गत आने वाले जीवादि सप्त तत्त्व एव देव, शास्त्र, गुरु आदि की परिभाषाएँ जैनागम मे यथास्थान निश्चय-व्यवहार नय से एव चार अनुयोगों की पद्धति मे अपनी-अपनी शैली के अनुसार विभिन्न प्रकार से दी गई है, अतः साधारण पाठक उनमे परस्पर विरोध-सा अनुभव करता है, उनके सही मर्म को नही समझ पाता है तथा भ्रम से अपने मन मे अन्यथा कल्पना कर लेता है या सशयात्मक स्थिति मे रहकर तत्त्व के प्रति अश्रद्धालु हो जाता है। इस तथ्य को प० टोडरमल ने अनुभव किया था और उसे उन्होने अपने ग्रन्थो मे साकार रूप दिया एवं सही मार्गदर्शन करने का सफल प्रयास किया है।

सम्यग्दर्शन

जीवादि तत्त्वार्थो का सच्चा श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है[2]। सच्चे देव, शास्त्र, गुरु की श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है[3]। आत्म श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है[4]। सम्यग्दर्शन की उक्त तीन परिभाषाएँ विभिन्न आचार्यो ने विभिन्न स्थानो पर की है। ऊपर से देखने मे वे परस्पर विरुद्ध नजर आती है पर उनमे कोई विरोध नही है। प० टोडरमल ने सम्यग्दर्शन की विभिन्न परिभाषाओ का स्पष्टीकरण करते हुए उनमे समन्वय स्थापित किया है[5]।

सम्यग्दर्शन प्राप्ति के लिए जीवादि सात तत्त्वो और देव, शास्त्र, गुरु का सच्चा श्रद्धान, ज्ञान एव आत्मानुभूति अत्यन्त आवश्यक है। सप्त तत्त्व और सच्चे देव, शास्त्र, गुरु का सच्चा ज्ञान प्राप्त करने के लिए जिस पैनी दृष्टि की आवश्यकता है, वाह्य वृत्ति मे ही सन्तुष्ट

---

[1] तत्त्वार्थसूत्र, अ० १ सू० १

[2] वही, अ० १ सू० २

[3] रत्नकरण्ड श्रावकाचार, अ० १ श्लोक ४

[4] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक २१६

[5] मो० मा० प्र०, ४७७-७८

रहने वाले व्यवहाराभासी जीव उसका प्रयोग तो करते नही, किन्तु शास्त्रो मे लिखी जीवादि की परिभाषाएँ रट लेते है, दूसरो को सुना भी देते है, तदनुसार उपदेश देकर व्याख्याता भी वन जाते है, पर उनके मर्म को नही जान पाते, अत वे सम्यग्दर्शन को प्राप्त नही कर पाते है ।

जैन शास्त्रो मे जीव, अजीव, आस्रव, वध, सवर, निर्जरा और मोक्ष ये सप्त तत्त्व कहे गये है[1] । सामान्य रूप से जीव और अजीव दो ही तत्त्व है, आस्रवादिक तो जीव-अजीव के ही विशेष है[2] । इनका सच्चा स्वरूप क्या है और प० टोडरमल के अनुसार अज्ञानी जीव इनके जानने मे क्या-क्या और कैसी-कैसी भूले करता है, उनका सक्षेप मे पृथक्-पृथक् विवेचन अपेक्षित है ।

जीव और अजीव तत्त्व

ज्ञानदर्शनस्वभावी आत्मा को जीव तत्त्व कहते है । जिनमे ज्ञान नही है, ऐसे पुद्गलादि द्रव्य अजीव तत्त्व है । जीव और शरीरादि अजीव अनादि से सयोग रूप से सवधित है, अत यह आत्मा इन्हे भिन्न-भिन्न नही पहिचान पाता, यही अज्ञान है । शरीरादि अजीव से भिन्न ज्ञानस्वभावी आत्मा की पहिचान को भेदविज्ञान कहते है । जीव-अजीव को जानने के अनेक प्रयत्न करने के उपरान्त भी भेदविज्ञान क्यो नही हो पाता ? पं० टोडरमल ने इसके पॉच कारण[3] वताए है :-

(१) जैन शास्त्रो मे वर्णित जीव और अजीव के भेद-प्रभेदो को तो जान लेते है, पर अध्यात्म शास्त्रो मे कथित भेदविज्ञान के कारण एव वीतराग दशा होने के कारण रूप कथन को नही पहिचान पाते है ।

(२) यदि कदाचित् प्रसगवश जानना हो भी जाय तो उन्हे शास्त्रानुसार जान लेते है, उनकी परस्पर भिन्नता नही पहिचान पाते । शरीर अलग है, आत्मा अलग है, ऐसा मानने पर भी शरीर के कार्य को और आत्मा के कार्य को भिन्न-भिन्न नही जान पाते है ।

---

[1] तत्त्वार्थसूत्र, अ० १ सू० ४

[2] द्रव्यसग्रह, गाथा २८-२९

[3] मो० मा० प्र०, ३३०

(३) कभी-कभी शास्त्रानुसार बात तो ठीक करते है किन्तु उसका भाव उनके ध्यान मे नही आता है। आत्मा की बात इस तरह करते है जैसे वे स्वय आत्मा न होकर कोई और हो। आत्मा शुद्ध है, बुद्ध है, ऐसा बोलते है, पर 'मै शुद्ध-बुद्ध हूँ', ऐसी प्रतीति उन्हे नही हो पाती।

(४) शरीरादि से आत्मा को भिन्न भी कहते है, पर बात ऐसे करते है जैसे किसी और से और को भिन्न बता रहे हो, इनका उससे कोई सम्बन्ध ही न हो। ऐसा अनुभव नही करते कि मै आत्मा हूँ, शरीर मुझ से भिन्न है।

(५) शरीर और आत्मा के सयोगकाल मे दोनो मे कुछ क्रियाएँ एक दूसरे के निमित्त से होती है, उन्हे दोनो के सयोग से उत्पन्न हुई मानते है। ऐसा नही जान पाते कि यह क्रिया जीव की है, शरीर इसमे निमित्त है, और यह क्रिया शरीर की है, जीव इसमे निमित्त है।

शरीर से भिन्न आत्मा की प्रतीति एव अनुभूति ही जीव और अजीव तत्त्व सम्बन्धी सच्चा ज्ञान है। इसे पाना बहुत आवश्यक है, अन्यथा दु खो से मुक्ति सम्भव नही है।

कर्म – अजीव के अन्तर्गत जिन पॉच द्रव्यो का वर्णन किया गया है, उनमे से पुद्गल के अन्तर्गत बाईस प्रकार की वर्गणाएँ होती है। उन मे एक कार्माण वर्गणा भी होती है, जो जीव के मोह-राग-द्वेष भावो का निमित्त पाकर कर्म रूप परिणमित हो जाती है और उसका सम्बन्ध मोही-रागी-द्वेषी आत्मा से होता रहता है। वे कर्म आठ प्रकार के होते है – ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। इनके भी अवान्तर एक सौ अडतालीस भेद होते है[1]।

ज्ञानावरणादि कर्मो के उदय में आत्मा मोह-राग-द्वेष आदि विकारी भाव करता है और मोह-राग-द्वेष भावो के होने पर आत्मा

---

[1] गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा ८,२२

के साथ ज्ञानावरणादि कर्मो का वध होता रहता है[१]। इस तरह यह चक्र तव तक चलता रहता है जब तक कि यह आत्मा स्वय आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ कर मोह-राग-द्वेष भावो का अभाव कर कर्मो से सम्वन्ध को विच्छेद नही कर देता है।

आत्मा के मोह-राग-द्वेष भावो से कर्म-वध और कर्म के उदय से आत्मा मे मोह-राग-द्वेष भावो की उत्पत्ति, इस प्रकार की सगति होने पर भी आत्मा और कर्म दो भिन्न-भिन्न तत्त्व होने के कारण केवल अपने-अपने परिणामो को ही निष्पन्न करते है, परस्पर एक-दूसरे के परिणामो को नही, इनका परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध नही[२]। वह निमित्त-नैमित्तिक सम्वन्ध भी सहज रूप से वन रहा है, उनमे कोई अन्य कारण नही है[३]। दोनो मे परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्वन्ध होने पर भी दोनो द्रव्यो मे कार्योत्पत्ति स्वयमेव अपने कारण से ही होती है[४]।

शास्त्रो मे कही-कही कर्म की मुख्यता से व्यवहार कथन किया जाता है, उसका सही मर्म न समझ पाने के कारण वहुत से जीव हताश हो जाते है अथवा अपने द्वारा किये गए वुरे कार्यो को कर्म के नाम पर मढने लगते है। ऐसे लोगो को सावधान करते हुए पुरुपार्थ की प्रेरणा प० टोडरमल इस प्रकार देते है –

"अर तत्त्व निर्णय न करने विषै कोई कर्म का दोष है नाही तेरा (आत्मा का) ही दोष है, अर तू आप तो महन्त रह्या चाहै अर अपना दोष कर्मादिक के लगावै, सो जिन आज्ञा मानै तो ऐसी अनीति सम्भवै नाही[५]"।

---

[१] मो० मा० प्र०, ४४

[२] पु० भा० टी०, ६

[३] मो० मा० प्र०, ३७

[४] वही, ४३

[५] वही, ४५८

आस्रव तत्त्व

आत्मा मे उत्पन्न होने वाले मोह-राग-द्वेष भावो के निमित्त से कर्मो का आना (कार्माण वर्गणा का ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमित होना) आस्रव है। इसके दो भेद होते है – द्रव्यास्रव और भावास्रव। आत्मा के जिन मोह-राग-द्वेष रूप भावो के निमित्त से ज्ञानावरणादि कर्म आते है, उन भावो को भावास्रव या जीवास्रव कहते है और जो कर्म आते है उन्हे द्रव्यास्रव या अजीवास्रव कहते है[1]। आस्रवो के भेद या कारण मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग माने गए है[2]। अज्ञानी आत्मा आस्रव तत्त्व के समझने मे भी भूल करता है और वह यह कि वह कर्मास्रव से बचने के लिए वाह्य क्रिया पर तो दृष्टि रखता है पर अन्तर मे उठने वाले मोह-राग-द्वेष भावो से बचने का उपाय नही करता। पं० टोडरमल के शब्दो मे –

"राग-द्वेष-मोह रूप जे आस्रव भाव है, तिनका तौ नाश करने की चिन्ता नाही अर बाह्य क्रिया वा बाह्य निमित्त मेटने का उपाय राखै, सो तिनके मेटै आस्रव मिटता नाही[3]"।

बंध तत्त्व

आत्मप्रदेशो के साथ कर्माणुओ का दूध-पानी की तरह एकमेक हो जाना बध है। इसके भी दो भेद है – द्रव्यबध और भावबध। आत्मा के जिन शुभाशुभ विकारी भावो के निमित्त से ज्ञानावरणादि कर्मो का बध होता है उन भावो को भावबध कहते है और ज्ञानावरणादि कर्मो का बध होना द्रव्यबध है[4]।

बध के चार भेद है – प्रकृतिबध, प्रदेशबध, स्थितिबध और अनुभागबध। इनका विस्तृत विवेचन जैन शास्त्रो मे किया गया है[5]।

---

[1] द्रव्यसग्रह, गाथा २८–२९

[2] समयसार, गाथा १६४। आचार्य उमास्वामी ने प्रमाद को भी आस्रव का भेद माना है। तत्त्वार्थसूत्र, अ० ८ सू० १

[3] मो०मा० प्र०, ३३३

[4] द्रव्यसग्रह, गाथा ३२

[5] तत्त्वार्थसूत्र, अ० ८

शुभ भावो से पुण्यबध होता है और अशुभ भावो से पापबंध[1]। बध चाहे पाप का हो या पुण्य का, वह है तो आखिर बंध ही, उससे आत्मा बधता ही है, मुक्त नही होता। पुण्य को सोने की बेडी एव पाप को लोहे की बेडी बताया गया है[2]। बेडी बधन का ही रूप है, चाहे वह सोने (पुण्य) की हो, चाहे लोहे (पाप) की। इस सबध मे डॉ० हीरालाल जैन लिखते है –

"यहाँ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि पुण्य और पाप, ये दोनो ही प्रवृत्तियाँ कर्मबध उत्पन्न करती है। हाँ, उनमे से प्रथम प्रकार का कर्मबध जीव के अनुभवन मे अनुकूल व सुखदायी, और दूसरा प्रतिकूल व दु खदायी सिद्ध होता है। इसीलिए पुण्य और पाप दोनो को शरीर को बाँधने वाली बेडियो की उपमा दी गई है। पाप रूप बेडियाँ लोहे की है, और पुण्य रूप बेडियाँ स्वर्ण की, जो अलकारो का रूप धारण कर प्रिय लगती है। जीव के इन पुण्य और पाप रूप परिणामो को शुभ व अशुभ भी कहा गया है। ये दोनो ही ससार-भ्रमण मे कारणीभूत है, भले ही पुण्य जीव को स्वर्गीय शुभ गतियो मे ले जाकर सुखानुभव कराये, अथवा पाप नरकादि व पशु योनियो मे ले जाकर दु खदायी हो। इन दोनों शुभाशुभ परिणामो से पृथक् जो जीव की शुद्धावस्था मानी गई है, वही कर्मबध से छुडा कर मोक्ष गति को प्राप्त कराने वाली है[3]।"

पुण्योदय से लौकिक भोगो की प्राप्ति होती है, अत लौकिक भोगो का अभिलाषी प्राणी पुण्यबध को भला और पापबध को बुरा मान लेता है, अथवा पुण्यबध के कारण रूप जो शुभ भाव है, उन्हे मोक्ष का कारण मान लेता है। जो बध के कारण है – चाहे वे पुण्यबध के ही कारण क्यो न हो, उन्हे मुक्ति के कारण मान लेना ही बध तत्त्व सबधी अज्ञान है।

---

[1] तत्त्वार्थ सूत्र, अ० ६ सू० ३

[2] समयसार, गाथा १४६

[3] भा० स० जै० यो०, २३३

संवर तत्त्व

आस्रव का रुकना सवर है[1]। यह भी दो प्रकार का होता है – द्रव्यसवर और भावसवर। जो आत्मा का परिणाम कर्म के आस्रव को रोकने मे हेतु है वह परिणाम भावसवर है और कर्मो का आगमन रुक जाना द्रव्यसवर है[2]। यह सवर गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र से होता है[3]। गुप्ति तीन प्रकार की होती है– मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति। समिति पाँच प्रकार की होती है – ईर्या समिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदाननिक्षेपण समिति और प्रतिष्ठापना समिति। धर्म दस प्रकार के होते है – उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम सयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य। अनुप्रेक्षा बारह प्रकार की होती है – अनित्य, अशरण, ससार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, सवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म। परीषहजय बाईस प्रकार के होते है – क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दशमसक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, बध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन, ये बाईस परीषह है। इन्हे जीतना परीषहजय कहलाता है। चारित्र पाँच प्रकार का होता है – सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात। इन सब का वर्णन जैन दर्शन मे विस्तार से मिलता है।

इन सब के सम्वन्ध मे यह अज्ञानी आत्मा वाह्य दृष्टि से ही विचार करता है, अन्तर मे प्रवेश नही करता है। अन्तरग मे धर्मरूप स्वयं तो परिणमित होता नही है, पाप के भय और पुण्य के लोभ मे वाह्य प्रवृत्ति को रोकने की चेष्टा करता रहता है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए प० टोडरमल कहते है –

---

[1] तत्त्वार्थसूत्र, अ० ६ सू० १

[2] द्रव्यसग्रह, गाथा ३४

[3] (क) तत्त्वार्थसूत्र, अ० ६ सू० २
(ख) द्रव्यसग्रह, गाथा ३५

"बहुरि वधादिक के भयतै वा स्वर्ग मोक्ष की चाहतै, क्रोधादि न करै है, सो यहाँ क्रोधादि करने का अभिप्राय तौ गया नाही। जैसै कोई राजादिक के भयतै वा महतपना का लोभतै पर-स्त्री न सेवै है तौ वाकौ त्यागी न कहिए। तैसै ही यहु क्रोधादि का त्यागी नाही। तौ कैसे त्यागी होय ? पदार्थ अनिष्ट-इष्ट भासै क्रोधादि हो है। जब तत्त्वज्ञान के अभ्यासतै कोई इष्ट-अनिष्ट न भासै तब स्वयमेव ही क्रोधादि न उपजै, तब साचा धर्म हो है[१]।"

निर्जरा तत्त्व

आत्मा से बधे कर्मों का झडना निर्जरा है। इसके भी दो भेद है – द्रव्यनिर्जरा और भावनिर्जरा। आत्मा के जो भाव कर्म झरने मे हेतु है, वे भाव ही भावनिर्जरा है और कर्मो का झडना द्रव्यनिर्जरा है[२]। निर्जरा तप द्वारा होती है[३]। तप दो प्रकार का होता है – अन्तरग तप और बहिरग तप। तप का सही रूप नही समझ पाने से जनसाधारण की दृष्टि अतरग तप की ओर न जाकर बाह्य अनशनादि तपो की ओर ही जाती है और उनका भी वे सही स्वरूप समझ नही पाते है; तथा भूख, प्यास, गर्मी, सर्दी आदि के दु खों को सहने का नाम ही तप मान लेते है।

इच्छाओ के अभाव का नाम तप है[४], इस पर ध्यान नही जाता और तप के नाम पर बाह्य क्रियाकाण्ड मे उलझे रह कर निर्जरा मान लेते है। उक्त सदर्भ मे पडित टोडरमल लिखते है –

"जो बाह्य दु ख सहना ही निर्जरा का कारण होय तौ तिर्यचादि (पशु) भी भूख तृषादि सहै है[५]।"

उपवासादि के स्वरूप को भी सही नही समझते है। कषायों, भोगो और भोजन के त्यागने का नाम उपवास है[६], किन्तु मात्र भोजन

---

[१] मो० मा० प्र०, ३३५-३६
[२] द्रव्यसग्रह, गाथा ३६
[३] तत्त्वार्थसूत्र, अ० ६ सू० ३
[४] मो० मा० प्र०, ३३८
[५] वही, ३३७
[६] वही, ३४०

के त्यागने को ही उपवास मान लिया जाता है, परिणामो मे भोगो की इच्छा तथा कषायो की ज्वाला कितनी ही प्रज्वलित क्यो न रहे, इस पर ध्यान नही देते ।

कषायो के अभाव मे परिणामो की शुद्धता ही वास्तविक तप है और उससे ही निर्जरा होती है ।

मोक्ष तत्त्व

आत्मा का कर्मबधन से पूर्णत मुक्त हो जाना मोक्ष है। यह भी दो प्रकार का होता है–द्रव्यमोक्ष और भावमोक्ष । आत्मा के जो शुद्ध भाव कर्मबधन से मुक्त होने मे हेतु होते है वे भाव ही भावमोक्ष है और आत्मा का द्रव्यकर्मो से मुक्त हो जाना द्रव्यमोक्ष है[1] । आत्मा की सिद्ध दशा का नाम ही मोक्ष है । सिद्ध दशा अनन्त आनन्दरूप है । वह आनन्द अतीन्द्रिय आनन्द है । उस अलौकिक आनन्द की तुलना लौकिक इन्द्रियजन्य आनन्द से नही की जा सकती है, पर ससारी आत्मा को उक्त अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद तो कभी प्राप्त हुआ नही, अत उस आनन्द की कल्पना भी वह इस लौकिक इन्द्रियजन्य आनन्द से करता है, निराकुलता रूप मोक्ष दशा को पहिचान नही पाता । पडित टोडरमलजी लिखते है –

"स्वर्ग विषै सुख है, तिनितै अनन्त गुणो मोक्ष विषै सुख है। सो इस गुणाकार विषै स्वर्ग-मोक्ष सुख की एक जाति जाने है । तहॉ स्वर्ग विषै तौ विषयादि सामग्रीजनित सुख हो है, ताकी जाति याकौ भासे है अर मोक्ष विषै विषयादि सामग्री है नाही, सो वहॉ का सुख की जाति याकौ भासै तौ नाही परन्तु स्वर्ग तै भी मोक्ष कौ उत्तम, महा-पुरुष कहै है, तातै यहु भी उत्तम ही मानै है । जैसे कोऊ गान का स्वरूप न पहिचानै परन्तु सर्व सभा के सराहै, तातै आप भी सराहै है । तैसे यहु मोक्ष कौ उत्तम मानै है[2] ।"

---

[1] द्रव्यसग्रह, गाथा ३७

[2] मो० मा० प्र०, ३४२

पुण्य-पाप

पुण्य और पाप दोनो आत्मा की विकारी अन्तर्वृत्तियाँ है। देव पूजा, गुरु उपासना, दया, दान आदि के प्रशस्त परिणाम पुण्य-भाव कहलाते है और इनका फल लौकिक अनुकूलता की प्राप्ति है। हिसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह-सग्रह आदि के भाव पाप-भाव है और इनका फल लौकिक प्रतिकूलताएँ है। जीवादि सप्त तत्त्वो मे पुण्य और पाप मिला कर नव तत्त्व भी कहे गए है[1]। जहाँ तत्त्वो की सख्या सात बताई गई है, वहाँ पुण्य-पाप को आस्रव-बध मे सम्मिलित कर लिया गया है। वस्तुत ये आस्रव और बध के ही भेद हैं। इस तथ्य को निम्न चार्ट द्वारा समझा जा सकता है –
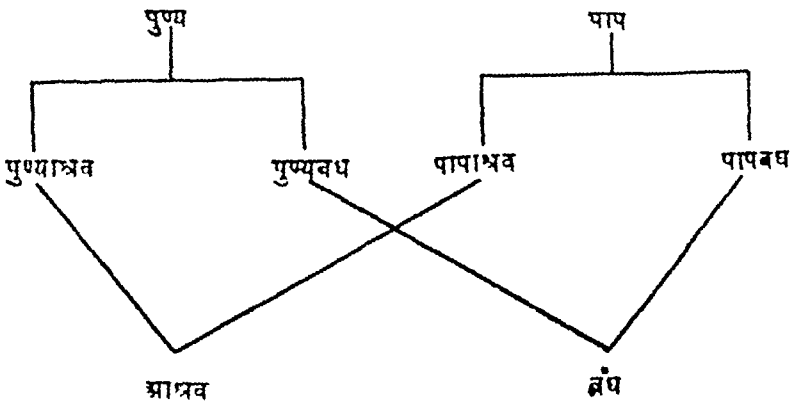
सामान्यजन पुण्य को भला और पाप को बुरा मानते है, क्योकि पुण्य से मनुष्य व देव गति की प्राप्ति होती है और पाप से नरक और तिर्यच गति की। वे यह नही समझते कि चारो गतियाँ ससार है, ससार दु खरूप है, तथा पुण्य और पाप दोनो ससार के ही कारण है, अत ससार मे प्रवेश कराने वाले पुण्य या पाप भले कैसे हो सकते है[2] ? पुण्य बध रूप है और आत्मा का हित मोक्ष (अबध) दशा प्राप्ति मे है। अत पुण्य रूप शुभ कार्य भी मुक्ति के मार्ग मे हेय ही है। इतना अवश्य है कि पाप-भाव की अपेक्षा पुण्य-भाव को भला कहा गया है, किन्तु मोक्षमार्ग मे उसका स्थान अभावात्मक ही है।

---

[1] समयसार, गाथा १३

[2] वही, १४५

देव

जो वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी हो, वे सच्चे देव है। जो जन्म-मरण, राग-द्वेषादि अठारह दोषो से रहित हो, वे वीतराग है। तीन लोक व तीन काल के समस्त पदार्थो को एक समय मे स्पष्ट जाने, वे सर्वज्ञ कहलाते है तथा आत्महित (मोक्षमार्ग) का उपदेश देने वाले हितोपदेशी कहे जाते है[1]।

अरहत और सिद्ध परमेष्ठी सच्चे देव (भगवान्) है। जैन मान्यता में भगवान् अलग नही होते। जो भी आत्मा आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ कर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पूर्णता को प्राप्त कर वीतरागी हो अपने ज्ञान का पूर्ण विकास कर लेता है, वही परमात्मा बन जाता है।

इस विश्व मे अनन्त जीवादि पदार्थ अपनी-अपनी सत्ता मे परिपूर्ण भिन्न-भिन्न अनादि-अनन्त है। प्रत्येक पदार्थ अपने मे होने वाले परिणमन का स्वय कर्त्ता-हर्त्ता है। यह सम्पूर्ण जगत अनादि-अनन्त है, इसे किसी ने भी नही बनाया है और न इसे कोई नष्ट ही कर सकता है[2]। एक द्रव्य का कर्त्ता दूसरे द्रव्य को मानना द्रव्य की स्वतन्त्रता को खण्डित करना है। यद्यपि निमित्तादिक की अपेक्षा व्यवहार से एक द्रव्य का कर्त्ता दूसरे द्रव्य को कहा जाता है, तथापि परमार्थत एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्त्ता-हर्त्ता नही है[3]।

सच्चे देव का सही स्वरूप नही जानने वाले भक्तो को लक्ष्य करके प० टोडरमल कहते है – "'तिनि अरहतनि कौ स्वर्ग-मोक्ष का दाता, दीन-दयाल, अधम-उधारक, पतितपावन मानै है, सो अन्यमती कर्त्तृत्व बुद्धितै ईश्वर कौ जैसै मानै है, तैसे यहु अरहत कौ मानै है। ऐसा नाही जानै है – फल तौ अपने परिणामनि का लागै है, अरहंत तिनिकौ निमित्त-मात्र है, तातै उपचार करि ये विशेषण सम्भवै है[4]।

वस्तुत भगवान् जगत का ज्ञाता-दृष्टा मात्र है, कर्त्ता-धर्त्ता नही।

---

[1] रत्नकरण्ड श्रावकाचार, अ० १ श्लोक ५–८

[2] मो० मा० प्र०, ७५,१२८,१२६,१६०,१६१

[3] द्रव्यसग्रह, गाथा ८

[4] मो०मा०प्र०, ३२५

शास्त्र

आत्महितकारी तत्त्वोपदेश करने वाली, जीवो को उन्मार्ग से हटाकर सन्मार्ग में ले जाने वाली, पूर्वापर विरोध से रहित सच्चे देव की वाणी को सच्चा शास्त्र कहते है[1] । सच्चे देव वीतरागी और पूर्णज्ञानी होते है, अत उनकी वाणी भी वीतरागता की पोपक और पूर्णता की ओर ले जाने वाली होती है ।

सच्चे शास्त्र के सम्वन्ध मे सवसे अधिक विचारणीय वात यह है कि सर्वज्ञ परमात्मा भगवान् महावीर को हुए २५०० वर्ष हो गए है, उनके वाद आज तक की परम्परा मे शास्त्रो की प्रामाणिकता किस आधार पर मानी जा सकती है ? क्या उसमें इतने लम्बे काल मे विकृति सम्भव नही है ? उक्त प्रश्न पर पडित टोडरमल ने विस्तार से विचार किया है[2] । जैन शास्त्रो की प्रामाणिकता पर विचार करते हुए कालवश आई हुई विकृतियो को उन्होने नि सकोच स्वीकार किया है[3], किन्तु साथ-साथ मूलतत्त्वो के वर्णन की प्रामाणिकता को सयुक्ति सस्थापित किया है । वे लिखते है :–

"ऐसै विरोध लिए कथन कालदोष तै भए है । इस काल विषै प्रत्यक्षज्ञानी वा वहुश्रुतनि का तौ अभाव भया अर स्तोकबुद्धि ग्रन्थ करने के अधिकारी भए । तिनकै भ्रम तै कोई अर्थ अन्यथा भासै ताकौ तैसैं लिखै अथवा इस काल विषै केई जैनमत विषै भी कषायी भए है सौ तिनने कोई कारण पाय अन्यथा लिख्या है । ऐसै अन्यथा कथन भया है, तातै जैन शास्त्रनि विषै विरोध भासने लागा[4] ।"

यदि अप्रयोजनभूत पदार्थो मे कही कोई अन्यथा कथन आ भी गया हो तो उससे आत्मा के हित-अहित से कोई सम्बन्ध नही है । प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वो मे विकृति आने की कोई सम्भावना नही है

---

[1] रत्नकरण्ड श्रावकाचार, अ० १ श्लोक ९

[2] मो० मा० प्र०, १५-२०

[3] वही, ४४५

[4] वही, ४४५

और यदि कदाचित् हो भी जावे तो उसके निराकरण की प्रक्रिया भी स्वत सक्रिय है। अत मूल बातो की प्रामाणिकता असदिग्ध ही है[1]।

गुरु

जैन दर्शन मे गुरुत्व की कल्पना कुलादिक की अपेक्षा से नही है किन्तु दर्शन, ज्ञान और चारित्र की अपेक्षा से है। यदि गुरु के स्वरूप को समझने मे गलती हुई तो सर्वत्र गलतियाँ सम्भव है, क्योकि ज्ञान का मूल तो गुरु ही है। अत पडित टोडरमल ने इसके सम्बन्ध मे बहुत सावधान किया है। गुरुता के अभाव मे अपने को गुरु मानने वालो के सम्बन्ध मे विस्तार से विचार किया है[2]। कुल की अपेक्षा अपने को गुरु मानने वालो को लक्ष्य मे करके वे कहते है –

"जो उच्च कुल विषै उपजि हीन आचरन करै तौ वाकौ उच्च कैसे मानिए। जो कुल विषै उपजनेही तै उच्चपना रहै, तौ मास-भक्षणादि किए भी वाकौ उच्च ही मानौ सो बनै नाही।....... तातै धर्म पद्धति विषै कुल अपेक्षा महतपना नाही सम्भवै है[3]।"

इसी प्रकार पट्ट पर बैठने, ऊँचा नाम रखने, विभिन्न प्रकार से भेष बनाने का नाम भी गुरुपना नही है। इनके कारणो का विश्लेषण करते हुए पडित टोडरमल लिखते है –

"शास्त्रनि विषै तो मार्ग कठिन निरूपण किया सो तौ सधै नाही अर अपना ऊँचा नाम धराए बिना लोक मानै नाही, इस अभिप्राय तै यति, मुनि, आचार्य, उपाध्याय, साधु, भट्टारक, सन्यासी, योगी, तपस्वी,नग्न इत्यादि नाम तौ ऊचा धरावै है अर इनिका आचारनिकौ नाही साधि सकै है तातै इच्छानुसारि नाना भेष बनावै है। बहुरि केई अपनी इच्छानुसारि ही तौ नवीन नाम धरावै है अर इच्छानुसारि ही भेष बनावै है। ऐसे अनेक भेष धारने तै गुरुपनौ मानै है, सो यहु मिथ्या है[4]।"

---

[1] मो० मा० प्र०, १९-२०

[2] वही, २५८

[3] वही, २५८-५९

[4] वही, २६१-६२

गुरुनामधारी लोगो को लक्ष्य करके वे आगे लिखते है –

"जो शीत उष्णादि सहे न जाते थे, लज्जा न छूटै थी, तौ पाग, जामा इत्यादि प्रवृत्तिरूप वस्त्रादिक त्याग काहे कौ किया ? उनको छोरि ऐसे स्वाग बनावने मे कौन धर्म का अग भया। गृहस्थनि कौ ठिगने के अर्थि ऐसे भेप जानने। जो गृहस्थ सारिखा अपना स्वाग राखै तौ गृहस्थ कैसै ठिगावै ? पर याकौ उन करि आजीविका वा धनादिक वा मानादिक का प्रयोजन साधना, तातै ऐ स्वाग बनावै है। जगत भोला, तिस स्वाग को देखि ठिगावै अर धर्म्म भया मानै[1]।"

भक्ति

आत्मीय सद्गुणो मे अनुराग को भक्ति कहते है। आत्मीय गुणो का चरम विकास पचपरमेष्ठियो मे पाया जाता है। अरहत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु, ये पाच पचपरमेष्ठी कहे जाते है। अत इनके प्रति अनुराग ही भक्ति हुई। पचपरमेष्ठियो मे अरहत और सिद्ध देव है, एव आचार्य, उपाध्याय और साधु गुरुओ मे आते है। इनके द्वारा निर्मित जिनागम ही शास्त्र है। अत प्रकारान्तर से यह भी कह सकते है कि देव-गुरु-शास्त्र के प्रति अनुराग ही भक्ति है। अनुराग राग का ही भेद है, यह वीतरागता का कारण नही हो सकता है। वीतरागता शुद्ध भाव रूप है और राग शुभाशुभ भाव रूप। देवगुरु-शास्त्र के प्रति भक्ति शुभ राग है, अत शुभ भाव रूप है।

जैन दर्शन मे भक्ति को मुक्ति का कारण न मान कर पुण्य बध का कारण माना गया है, क्योकि वह राग रूप है. और राग बध का कारण है, मुक्ति का नही। अत जैन दर्शन मे ज्ञानी आत्मा का लक्ष्य भक्ति नही है, किन्तु तीव्र राग से बचने के लिए एव विषय-भोगो के प्रति होने वाले राग से बचने के लिए ज्ञानी जन भी भक्ति मे लगते है। अज्ञानी जन भक्ति को मुक्ति का कारण जानते है, अत उसमे तीव्रता से लगते देखे जाते है[2]।

---

[1] मो० मा० प्र०, २६१

[2] पचास्तिकाय सग्रह, समयव्याख्या टीका, गाथा १३६

पडित टोडरमल वीतरागी सर्वज्ञ देव, आत्मानुभवी निर्ग्रन्थ गुरु एव वीतरागता की पोषक सरस्वती के परम भक्त थे, किन्तु भक्ति के क्षेत्र मे अन्ध श्रद्धा उन्हे स्वीकार न थी। वे लिखते है :-

"केई जीव भक्ति कौ मुक्ति का कारण जानि तहाँ अति अनुरागी होय प्रवर्त्तै है सो अन्यमती जैसे भक्ति तै मुक्ति मानै है तैसे याकै भी श्रद्धान भया। सो भक्ति तौ रागरूप है। राग तै बन्ध है। तातै मोक्ष का कारण नाही। जब राग का उदय आवै, तब भक्ति न करै तौ पापानुराग होय, तातै अशुभ राग छोडने कौ ज्ञानी भक्ति विषै प्रवर्तै है[1] वा मोक्षमार्ग कौ बाह्य निमित्तमात्र जानै है। परन्तु यहाँ ही उपादेयपना मानि सतुष्ट न हो है, शुद्धोपयोग का उद्यमी रहै है[1]।"

जैन मान्यतानुसार भगवान् किसी का अच्छा-बुरा नही करते है और न ही किसी को कुछ देते-लेते है। भक्ति मुक्ति का कारण तो है ही नही, किन्तु लौकिक लाभ (भोग सामग्री, धनादि की प्राप्ति, शत्रु नाश आदि) की प्राप्ति की इच्छा से की गई भक्ति से पुण्य भी नही बधता अपितु पापबध होता है, क्योकि वस्तुत वह भगवान् की भक्ति रूप शुभ भाव न हो कर भोगो की चाह रूपी अशुभ भाव है[2]।

भक्ति के नाम पर होने वाली नृत्य, गीत आदि रागवर्द्धक क्रियाओ का भक्ति मे कोई स्थान नही है। उक्त सदर्भ मे वे लिखते है.-

"बहुरि भक्त्यादि कार्यनि विषै हिंसादिक पाप बधावै वा गीत नृत्य गानादिक वा इष्ट भोजनादिक वा अन्य सामग्रीनि करि विषयनि कौ पोषै, कुतूहल प्रमादादि रूप प्रवर्तै। तहाँ पाप तौ बहुत उपजावै अर धर्म का किछू साधन नाही, तहाँ धर्म मानै सौ सब कुधर्म है[3]।"

दैव और पुरुषार्थ

दैव भाग्य को कहते है। पूर्वोपार्जित शुभाशुभ कर्म ही भाग्य है व वर्तमान मे किये गए प्रयत्न को पुरुषार्थ कहा जाता है। इस प्रकार दैव पूर्वनियोजित है और पुरुषार्थ इचेष्टित। अबुद्धिपूर्वक द्वारा कार्यो

[1] मो० मा० प्र०, ३२६
[2] वही, ३२५-३२६, ४२६
[3] वही, २७८-७९

मे दैव को मुख्यता दी गई है और बुद्धिपूर्वक किए जाने वाले कार्यो मे पौरुष प्रधान है[1] । उपदेश सदा बुद्धिपूर्वक किए जाने वाले कार्यो के लिए ही दिया जाता है । अत पडित टोडरमल ने अपने साहित्य मे सर्वत्र पुरुषार्थ को प्रधानता दी है। उन्होने कार्योत्पत्ति मे काललब्धि, होनहार एवं कर्म की उपशमादि अवस्थाओ को यथास्थान स्वीकार करते हुए पुरुषार्थ पर जोर दिया है। उपदेश का महत्त्व भी मात्र प्रेरणा तक ही सीमित है, कार्यसिद्धि पुरुषार्थ पर ही निर्भर करती है। पुरुषार्थी को अन्य साधन स्वयमेव मिलते है, किन्तु पुरुषार्थ का विवेक-पूर्वक सही दिशा मे होना अति आवश्यक है ।

पडित टोडरमल के साहित्य मे पुरुषार्थ को प्रमुखता प्राप्त है, पर पुरुषार्थ की व्याख्या उनके अनुसार लौकिक मान्यता से हट कर है। लौकिक जनो मे पुरुषार्थ प्राय उन प्रयत्नो को समझा जाता है, जिनका प्रयोग व्यक्ति लौकिक उपलब्धियो के लिए करता है, पर लौकिक उपलब्धियाँ पुरुष-प्रयत्नसापेक्ष है ही कब ? यदि लौकिक उपलब्धियाँ पुरुष-प्रयत्नसापेक्ष हो, तो फिर जो जितना श्रम करे उसे उतना मिलना चाहिए, किन्तु वस्तुस्थिति बहुलता से इसके विपरीत देखी जाती है। अत शरीर-मन-वाणी, सौदर्य, आरोग्य तथा धन-धान्य, स्त्री-पुत्रादि, सभी वस्तुएँ दैवकृत है । वर्तमान मे आत्मा तो मात्र इनकी उपलब्धि के लिए राग-द्वेष रूप विकल्प मात्र करता है। इनके सम्पादन मे इसका कोई अधिकार नही है ।

वर्तमान जीवन मे जो भी लौकिक उपलब्धियाँ होती है, वे पूर्व नियोजित दैव के अनुकूल होती है, तथा भावी भाग्य की रचना का आधार आत्मा का वर्तमान पुरुषार्थ है। आत्मा का पुरुषार्थ यदि पाप मे प्रवर्तित होता है तो उसके निमित्त से पापकर्म का सचय होता है और यदि पुण्य मे वर्तन करता है तो पुण्यकर्म सचित होता है। यही पुण्य-पाप कर्म आत्मा का दैव या भाग्य कहलाता है ।

जड कर्मो के निमित्त से समस्त लौकिक सुख-दु ख की प्राप्ति सम्भव होती है, किन्तु आत्मा के आधीन शाश्वत आनन्द की प्राप्ति

[1] आप्तमीमासा, श्लोक ९१

न तो पाप-पुण्य के पुरुपार्थ से होती है और न उनके द्वारा संचित कर्मो से अर्थात् भाग्य से। उसकी उपलब्धि तो एक मात्र ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मस्वरूप के प्रति सचेष्ट सम्यक् पुरुषार्थ से ही होती है और इसी आत्मसन्मुख पुरुषार्थ को पडित टोडरमल ने सच्चा पुरुषार्थ माना है तथा आत्महित रूप कार्य की सिद्धि मे इसे ही प्रधान स्थान दिया है।

निमित्त-उपादान

कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति सम्भव नही है। कार्य की उत्पादक सामग्री को ही कारण कहते है। कारण दो प्रकार के होते है– उपादान कारण और निमित्त कारण। जो स्वय कार्यरूप परिणमित हो, उसे उपादान कारण कहते है। जो स्वय कार्यरूप परिणमित न हो, परन्तु कार्य की उत्पत्ति मे अनुकूल होने का आरोप जिस पर आ सके उसे निमित्त कारण कहते है। घट रूप कार्य का मिट्टी उपादान कारण है और चक्र, दण्ड एव कुम्हार निमित्त कारण है।

किसी एक पदार्थ मे जब कोई कार्य निष्पन्न होता है तो वहाँ दूसरा पदार्थ भी नियम से विद्यमान होता है जो उस कार्य को उत्पन्न भी नही करता, उसमे योग भी नही देता, किन्तु उस कार्य की उत्पत्ति के साथ अपनी अनुकूलता रखता है। वस्तुस्थिति के इस नियम को उपादान-निमित्त, सम्वन्ध कहते है[1]।

जिस पदार्थ मे कार्य निष्पन्न होता है उसे उपादान और उस कार्य को उपादेय अथवा नैमित्तिक कहते है तथा संयोगी इतर पदार्थ को निमित्त कहते है[2]। एक पदार्थ को ही उपादान की अपेक्षा कथन करने पर उपादेय और निमित्त की अपेक्षा कथन करने पर नैमित्तिक कहा जाता है। निमित्त-उपादान की स्वतन्त्र स्थिति तथा उनका अनिवार्य सहचर – ये दो इसमे मूलभूत तथ्य है, जिनमे से एक की भी उपेक्षा नही की जा सकती है[3]। निमित्त को बलपूर्वक कार्य के समीप

---

[1] कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २१७

[2] जैनतत्त्व मीमासा, ६०

[3] उपादान-निमित्त सवाद, दोहा ३

लाना पडता हो, ऐसा नही है किन्तु जब किसी पदार्थ मे कार्य सम्पन्न होता है तो तदनुकूल निमित्त सहज रहता है और उस कार्य का उससे नैमित्तिक-निमित्त सम्बन्ध भी सहज होता है। निमित्त बलपूर्वक उसमे हस्तक्षेप या सहयोग करता हो, ऐसा भी नही है। उक्त तथ्य का पडित टोडरमल ने कई स्थानो पर विभिन्न सदर्भो मे उल्लेख किया है। आत्मा मे मोह-राग-द्वेष रूप विकारोत्पत्ति, तथा कर्मोदय एव बाह्य अनुकूल प्रतिकूल सामग्री की उपस्थिति के संदर्भ मे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को वे इस प्रकार स्पष्ट करते है –

"इहाँ कोऊ प्रश्न करै कि कर्म्म तो जड है किछू बलवान नाही, तिनि करि जीव के स्वभाव का घात होना वा बाह्य सामग्री का मिलना कैसे सभवै ? ताका समाधान – जो कर्म आप कर्त्ता होय उद्यम करि जीव के स्वभाव कौ घातै, बाह्य सामग्री कौ मिलावै तब कर्म्म के चेतनपनौ भी चाहिए और बलवानपनौ भी चाहिए सो तौ है नाही, सहज ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। जब उन कर्मनि का उदयकाल होय तिस काल विषै आप ही आत्मा स्वभावरूप न परिणमै, विभाव-रूप परिणमै··· बहुरि जैसै सूर्य का उदय का काल विषै चकवा चकवीनि का सयोग होय तहाँ रात्रि विषै किसी नै द्वेषबुद्धि तै जोरावरि करि जुदे किए नाही। दिवस विषै काहू ने करुणाबुद्धि ल्याय करि मिलाए नाही। सूर्य उदय का निमित्त पाय आपही मिलै है अर सूर्यास्त का निमित्त पाय आप ही बिछुरै है, ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक बनि रह्या है। तैसै ही कर्म्म का भी निमित्त-नैमित्तिक भाव जानना[1]।"

उपादान निमित्त का सही ज्ञान न होने पर व्यक्ति अपने द्वारा कृत कार्यो (अपराधो) का कर्त्तृत्व निमित्त पर थोप कर स्वय निर्दोष बना रहना चाहता है, पर जैसे चोर स्वयकृत चोरी का आरोप चाँदनी रात के नाम पर मढ कर दड-मुक्त नही हो सकता, उसी प्रकार आत्मा भी अपने द्वारा कृत मोह-राग-द्वेष भावो का कर्त्तृत्व कर्मो पर थोप कर दु ख मुक्त नही हो सकता है। उक्त स्थिति मे स्वदोषदर्शन और आत्मनिरीक्षण की प्रवृत्ति की ओर दृष्टि भी नही जाती है।

[1] मो० मा० प्र०, ३७

सम्यग्ज्ञान

जीवादि सप्त तत्त्वो का सशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है[1]। परस्पर विरुद्ध अनेक कोटि को स्पर्श करने वाले ज्ञान को सशय कहते है। जैसे – वह सीप है या चॉदी ? विपरीत एक कोटि के निश्चय करने वाले ज्ञान को विपर्यय कहते है। जैसे – सीप को चॉदी जान लेना। 'यह क्या है' ? या 'कुछ है' केवल इतना अरुचि और अनिर्णयपूर्वक जानने को अनध्यवसाय कहते है। जैसे – आत्मा कुछ होगा[2]।

जीवादि सप्त तत्त्वो का विस्तृत वर्णन जैन शास्त्रो मे किया गया है। जैन शास्त्रो का वस्तुस्वरूप के कथन करने का अपना एक तरीका है, उसे जाने बिना उनका मर्म नही समझा जा सकता है। समस्त जिनागम मे निश्चय व्यवहार रूप कथन है[3]। निश्चय और व्यवहार ये दो नय के भेद है। जैनागम का रहस्य जानने के लिए इनका स्वरूप जानना अत्यन्त आवश्यक है। इनके सही स्वरूप को न समझ पाने के कारण अनेक प्रकार की भ्रान्तियॉ उत्पन्न हो जाती है, जिनका विस्तृत वर्णन पडित टोडरमल ने किया है।

निश्चय और व्यवहार नय

निश्चय नय भूतार्थ है, सत्यार्थ है, क्योकि वह वस्तु के सत्य (शुद्ध) स्वरूप का उद्घाटन करता है। व्यवहार नय अभूतार्थ है, असत्यार्थ है, क्योकि वह वस्तु के असत्य (सयोगी, अशुद्ध) स्वरूप का कथन करता है[4]। जैसे – जीव व देह एक है, यह कथन व्यवहार नय का है और जीव व देह एक नही है, भिन्न-भिन्न है, यह कथन निश्चय नय का है[5]। यहॉ जीव और शरीर के सयोग को देख कर

---

[1] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक ३५

[2] न्यायदीपिका, २

[3] मो० मा० प्र०, २८३

[4] (क) समयसार, गाथा ११
(ख) समयसार, आत्मख्याति टीका, गाथा ११
(ग) पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक ५

[5] समयसार, गाथा २७

उन्हे एक कहा गया है, अत यह व्यवहार कथन हुआ तथा जीव और शरीर एक क्षेत्र मे रहने पर भी वे वस्तुत भिन्न ही है, अत यह असयोगी कथन होने से निश्चय कथन हुआ। व्यवहार नय को निषेध्य और निश्चय नय को निषेधक कहा गया है[१] । पचाध्यायीकार पडित राजमलजी पाडे लिखते है –

"व्यवहार नय स्वय ही मिथ्या उपदेश देता है, अत मिथ्या है और इसी से वह प्रतिषेध्य है । इसीलिए व्यवहार नय पर दृष्टि रखने वाला मिथ्यादृष्टि माना गया है । तथा निश्चय नय स्वय भूतार्थ होने से समीचीन है और इसका विषय निर्विकल्पक या वचन अगोचर के समान अनुभवगम्य है, अथवा जो निश्चय दृष्टि वाला है वही सम्यग्दृष्टि है और वही कार्यकारी है । अत निश्चय नय उपादेय है किन्तु उसके सिवाय अन्य नयवाद उपादेय नही है[२] ।"

कुन्दकुन्दाचार्य देव ने निश्चय नय से जाने हुए जीवादि सप्त तत्त्वो को सम्यग्दर्शन कहा है[३] और निश्चय नय का आश्रय लेने वाले मुनिवरो को ही निर्वाण प्राप्त होना बताया है[४] । व्यवहार नय का कथन अज्ञानी जीवो को समझाने के लिए किया गया है[५] । जिस प्रकार म्लेच्छ को म्लेच्छ भाषा के बिना समझाना सम्भव नही है, उसी प्रकार व्यवहार के बिना निश्चय का उपदेश सम्भव नही है, अत जिनवाणी मे व्यवहार का कथन आया है । म्लेच्छ को समझाने के लिए भले ही म्लेच्छ भाषा का आश्रय लेना पडे पर म्लेच्छ हो जाना तो ठीक नही, उसी प्रकार निश्चय का प्रतिपादक होने से भले व्यवहार से कथन हो पर उसका अनुकरण करना तो ठीक नही[६] । निश्चय-व्यवहार की उक्त स्थिति को पडित टोडरमल ने विस्तार से

---

[१] समयसार, गाथा २७२

[२] पचाध्यायी, अ० १ श्लोक ६२८–३०

[३] समयसार, गाथा १३

[४] वही, २७२

[५] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक ६

[६] समयसार, आत्मख्याति टीका, २०–२१

सहज व सरल भाषा मे जन-जन तक पहुँचाया है[1]। उनके विश्लेषण का सक्षिप्त सार इस प्रकार है –

सच्चे निरूपण को निश्चय और उपचरित निरूपण को व्यवहार कहते है[2]। एक ही द्रव्य के भाव को उस रूप ही कहना निश्चय नय है और उपचार से उक्त द्रव्य के भाव को अन्य द्रव्य के भाव स्वरूप कहना व्यवहार नय है। जैसे – मिट्टी के घडे को मिट्टी का कहना निश्चय नय का कथन है और घी का सयोग देखकर घी का घडा कहना व्यवहार नय का कथन है[3]। जिस द्रव्य की जो परिणति हो, उसे उस ही की कहने वाला निश्चय नय है और उसे ही अन्य द्रव्य की कहने वाला व्यवहार नय है[4]। व्यवहार नय स्वद्रव्य को, परद्रव्य को व उनके भावो को व कारण कार्यादिक को किसी को किसी मे मिला कर निरूपण करता है तथा निश्चय नय उन्ही को यथावत् निरूपण करता है, किसी को किसी मे नही मिलाता है[5]। अत: निश्चय नय सत्यार्थ और व्यवहार नय असत्यार्थ है।

वस्तुत निश्चय नय और व्यवहार नय वस्तु के भेद न होकर समझने और कथन करने की शैली के भेद है। जैसे – एक खादी की टोपी है। टोपी तो एक ही है, पर उसका कथन दो प्रकार से हो सकता है और प्राय होता भी है। यह टोपी किसकी है ? इस प्रश्न के दो उत्तर सम्भव है, खादी की और नेताजी की। इन दोनो उत्तरो मे कौन सा उत्तर सही है ? वस्तुत टोपी तो खादी की ही है किन्तु इसे नेताजी पहनते है, अत सयोग देखकर नेताजी की भी कही जा सकती है। टोपी को खादी की कहना निश्चय नय का कथन है और नेताजी की कहना व्यवहार नय का।

यदि इसी तथ्य को मोक्षमार्ग को ध्यान मे रख कर देखे तो इस प्रकार कहा जावेगा – मोक्षमार्ग दो नही है, मोक्षमार्ग का कथन

---

[1] मो० मा० प्र०, ३६५–३७८
[2] वही, ३६६
[3] वही, ३६७
[4] वही, ३६८
[5] वही, ३६९

दो प्रकार से है। जहाँ सच्चे मोक्षमार्ग को मोक्षमार्ग कहा जाय वह निश्चय मोक्षमार्ग है और जो मोक्षमार्ग नही है किन्तु मोक्षमार्ग का सहचारी या निमित्त है, उसे मोक्षमार्ग कहना व्यवहार मोक्षमार्ग है[१]।

वस्तुस्वरूप के सही ज्ञान के लिए यह आवश्यक है कि हम निश्चय नय के कथन को सही जान कर उसका श्रद्धान करे और व्यवहार नय के द्वारा किये गए कथन को प्रयोजनवश किया गया उपचरित कथन जान कर उसका श्रद्धान छोडे[२]।

व्यवहार नय असत्यार्थ और हेय है फिर भी उसे जैन शास्त्रो मे स्थान प्राप्त है, क्योकि व्यवहार स्वय सत्य नही है फिर भी सत्य की प्रतीति और अनुभूति मे निमित्त है। प्रारम्भिक भूमिका मे व्यवहार की उपयोगिता है क्योकि वह निश्चय का प्रतिपादक है। जैसे-हिमालय पर्वत से निकल कर बगाल की खाडी मे गिरने वाली सैकडो मील लम्बी गगा नदी की लम्बाई तो क्या चौडाई को भी आँख से नही देखा जा सकता है। अत उसकी लम्बाई-चौडाई और बहाव के मोडो को जानने के लिए हमे नक्शे का सहारा लेना पडता है। पर जो गगा नक्शे मे है वह वास्तविक नही है, उससे तो मात्र गगा को समझा जा सकता है, उससे कोई पथिक प्यास नही बुझा सकता है, प्यास बुझाने के लिए असली गगा के किनारे ही जाना होगा। उसी प्रकार व्यवहार द्वारा कथित वचन नक्शे की गगा के समान है। उनसे समझा जा सकता है पर उनके आश्रय से आत्मानुभूति प्राप्त नही की जा सकती है। आत्मानुभूति प्राप्त करने के लिए निश्चय नय के विपय भूत शुद्धात्मा का ही आश्रय लेना आवश्यक है। अत व्यवहार नय तो मात्र जानने (समझने) के लिए प्रयोजनवान है।

व्यवहार नय मात्र दूसरो को ही समझाने के लिए ही उपयोगी नही वरन् जब तक स्वय निश्चय नय द्वारा वर्णित वस्तु को न पहिचान सके तब तक व्यवहार द्वारा वस्तु को स्वय समझना भी उपयोगी है। व्यवहार को उपचार मात्र मान कर उसके द्वारा मूलभूत वस्तु का

---

१ मो० मा० प्र०, ३६५-३६

२ वही, ३६८-३६९

निर्णय करना उपयोगी है। व्यवहार को निश्चय के समान सत्य समझ लेना उपयुक्त नही है[1]।

जैनाभास

बहुत से लोग जैन कुल मे उत्पन्न होते है, जैन धर्म की वाह्य श्रद्धा रखते है तथा जैन शास्त्रो का अध्ययन-अध्यापन भी करते है, फिर भी जैन दर्शन का मर्म नही समझ पाने से तत्त्व से अछूते रह जाते है एव उनके जीवन मे अनेक विसगतियाँ उत्पन्न हो जाती है[2]। वे सब जैनाभास है।

नय (निश्चय नय और व्यवहार नय) सम्वन्धी अज्ञान के कारण भ्रम मे पडे जैनाभासो को पडित टोडरमल ने तीन भागो मे विभाजित किया है –

(१) निश्चयाभासी (२) व्यवहाराभासी (३) उभयाभासी

आत्मा के शुद्ध स्वरूप को समझे बिना आत्मा को सर्वथा शुद्ध मानने वाले स्वच्छन्द निश्चयाभासी है। व्यवहार व्रत, शील, सयमादि रूप शुभ भावो मे आत्मा का हित मान कर उनमे ही लीन रहने वाले मोहमग्न व्यवहारभासी है। निश्चय-व्यवहार के सही स्वरूप को समझे विना ही दोनो को एकसा सत्य मान कर चलने वाले उभयाभासी है[3]। उक्त भेदो मे से निश्चयाभासी और व्यवहाराभासी जीवो की

---

[1] मो० मा० प्र०, ३७२

[2] वही, २८३

[3] कोउ नय निश्चय से आतमा को शुद्ध मान,
भये है सुछन्द न पिछाने निज शुद्धता।
कोऊ व्यवहार दान, शील, तप, भाव कौ ही,
आतम को हित जान, छाडत न मुद्धता।
कोऊ व्यवहार नय निश्चय के मारग कौ,
भिन्न भिन्न पहिचान करै निज उद्धता।
जव जाने निश्चय के भेद व्यवहार सव,
कारण ह्वै उपचार माने तब बुद्धता॥
– पु० भा० टी०, मगलाचरण, छन्द ५

चर्चा आचार्य अमृतचन्द्र ने पचास्तिकाय सग्रह की 'समयव्याख्या' नामक सस्कृत टीका मे की है[1], किन्तु बहुत सक्षेप मे। उभयाभासी की चर्चा तो वहाँ भी नही है। यह तो पडितजी की मौलिक देन है। जिस प्रकार विस्तृत, स्पष्ट और मनोवैज्ञानिक विवेचन पडित टोडरमल ने इन सब का किया है, वैसा अन्यत्र कही भी देखने को नही मिलता। उक्त भेदो का पृथक्-पृथक् विवेचन अपेक्षित है।

निश्चयाभासी

निश्चय नय वस्तु के शुद्ध स्वरूप का कथन करता है, अत निश्चय नय की अपेक्षा से शास्त्रो मे आत्मा को शुद्ध-बुद्ध, निरजन, एक, कहा गया है, वहाँ शुद्ध-बुद्ध, निरजन और एक शब्द अपने विशिष्ट अर्थ को लिये हुए है। यह सब कथन आत्म-स्वभाव को लक्ष्य करके किया गया है। उक्त कथन का ठीक-ठीक भाव समझे बिना वर्तमान मे प्रगट रागी-द्वेषी होते हुए भी अपने को शुद्ध (वीतरागी) एव अल्पज्ञानी होकर भी बुद्ध (केवलज्ञानी) मानने वाले जीव निश्चयाभासी है। जब वे अपने को शुद्ध-बुद्ध कल्पित कर लेते है तो स्वच्छन्द हो जाते है, वाह्य सदाचार का निषेध करने लगते है। कहते है – शास्त्राभ्यास निरर्थक है, द्रव्यादि के विचार विकल्प है, तपश्चरण करना व्यर्थ क्लेश है, व्रतादि बधन है और पूजनादि शुभ कार्य बध के कारण है[2]।

जिनवाणी मे निश्चय नय की अपेक्षा से उक्त कथन आते है, पर वे शुभोपयोग और वाह्य क्रियाकाण्ड को ही मोक्ष का कारण मानने वाले और शुद्धोपयोग को नही पहिचानने वालो को लक्ष्य मे रख कर किये गए है। इस सम्बन्ध मे पडित टोडरमल लिखते है :—

"जे जीव शुभोपयोग कौ मोक्ष का कारण मानि उपादेय मानै है, शुद्धोपयोग कौ नाही पहिचानै है, तिनिकौ शुभ-अशुभ दोउनि कौ अशुद्धता की अपेक्षा वा बध कारण की अपेक्षा समान दिखाए है, वहुरि शुभ-अशुभनि का परस्पर विचार कीजिए, तौ शुभ भावनि विषै

---

[1] पचास्तिकाय सग्रह, ३६१–३६६

[2] मो० मा० प्र०, २९३–२९४

कषाय मद हो है, तातै बध हीन हो है। अशुभ भावनि विषै कषाय तीव्र हो है, तातै बध बहुत हो है। ऐसै विचार किए अशुभ की अपेक्षा सिद्धान्त विषै शुभ कौ भला भी कहिए है। जैसै रोग तौ थोरा व बहुत बुरा ही है। परन्तु बहुत रोग की अपेक्षा थोरा रोग कौ भला भी कहिए[१]।"

जिनवाणी मे सर्वत्र निश्चय नय की अपेक्षा से कथन करते हुए व्रत, शील, सयमादि वाह्य प्रवृत्ति और शुभ भाव को बध का कारण बता कर आत्मज्ञान और आत्मध्यान मे प्रवृत्ति करने की प्रेरणा दी गई है, क्योकि वस्तुत मुक्ति का कारण एक मात्र शुद्धोपयोग ही है। साथ ही स्वच्छन्द होने और अशुभ भाव मे जाने का भी सर्वत्र निषेध किया गया है। निश्चयाभासी जीव आत्मा के शुद्ध स्वरूप को तो पहिचान नही पाते एव अध्यात्म शास्त्रो मे निश्चय नय की प्रधानता से किये गए कथनो को पकड कर शुभ भावो एव वाह्याचार का निषेध कर स्वच्छन्द हो जाते है।

व्यवहाराभासी

व्यवहार नय वस्तु के शुद्ध स्वरूप का कथन न करके सयोगी कथन करता है। जैनागम मे व्यवहार नय की मुख्यता से बहुत सा कथन है जो सब का सब प्रयोजन विशेष से किया गया है। उक्त कथन का प्रयोजन पहिचाने बिना वाह्य व्यवहार साधन मे ही धर्म की कल्पना कर लेने वाले व्यवहाराभासी है। व्यवहाराभासी जैनियो की प्रवृत्तियाँ अनेक प्रकार की देखी जाती है।

कुछ लोग कुल अपेक्षा धर्म मानते है। जैन धर्म का स्वरूप जानने का प्रयत्न न करके जैन कुल मे उत्पन्न हुए है, अत कुलानुकूल आचरण करते है और अपने को जैन मान लेते है[२], किन्तु धर्म का कुल से कोई सम्बन्ध नही है। हो सकता है उनका आचरण जैन धर्मानुकूल हो पर उन्होने उसे जैन दर्शन के मर्म को समझ कर स्वीकार नही किया है, किन्तु कुलक्रम मे चली आई प्रवृत्ति को

[१] मो० मा० प्र०, ३०१

[२] वही, ३१४

कुलीनता के अर्थ मे अपनाया है। इस सम्बन्ध में प० टोडरमल लिखते है :-

"जो साँचा भी धर्म को कुलाचार जानि प्रवर्तै है, तौ वाकौ धर्मात्मा न कहिए। जातै सर्व कुल के उस आचरण को छोडै, तौ आप भी छोडि दे। बहुरि जो वह आचरण करै है, सो कुल का भय करि करै है। किछू धर्म बुद्धितै नाही करै है, तातै वह धर्मात्मा नाही। तातै विवाहादि कुल सम्बन्धी कार्यनि विषै तौ कुलक्रम का विचार करना और धर्म सम्बन्धी कार्य विषै कुल का विचार न करना[1]।"

हम जैन है, अत जैनशास्त्रो मे जो लिखा है उसे ही सत्य मानते है और उनकी ही आज्ञा मे चलते है। ऐसा मानने वाले आज्ञानुसारी जैनाभास है। बिना परीक्षा किए एव विना हिताहित का विचार किए कोरी आज्ञाकारिता गुलाम मार्ग है।

धर्म परम्परा नही, स्वपरीक्षित साधना है। पडित टोडरमल बिना परीक्षण सत्य को भी स्वीकार करने को तैयार नही है, वे परीक्षाप्रधानी है। 'बाबा वाक्य प्रमाणम्' उन्हे स्वीकार नही है। वे परीक्षोपरान्त आज्ञा को स्वीकार करना उपयुक्त मानते है। वे स्पष्ट कहते है –

"तातै परीक्षा करि जिन वचननि कौ सत्यपनौ पहिचानि जिन आज्ञा माननी योग्य है। बिना परीक्षा किए सत्य असत्य का निर्णय कैसै होय[2] ?"

धार्मिक अधविश्वास उन्हे पसद नही। तर्क की तुला पर जो हल्का सिद्ध हो वह उन्हे मान्य नही है और वह किसी भी सत्यान्वेषी को मान्य नही हो सकता।

आजीविका, मान, बडाई आदि लौकिक प्रयोजन सिद्ध करने के लिए धर्म साधन करने वाले व्यक्ति भी धर्म के मर्म को समझने मे असमर्थ रहते है, क्योकि उनकी दृष्टि तत्त्व की गहराई मे न जाकर अपने लौकिक स्वार्थ सिद्धि की ओर रहती है। धर्मात्मा के लौकिक

---

[1] मो० मा० प्र०, ३१५

[2] वही, ३१६

कार्य सहज ही सधे तो सधे, पर उनके लक्ष्य से धर्म साधन करना ठीक नही है। उक्त सम्बन्ध मे पडित टोडरमल ने लिखा है –

"जो आप तौ किछू आजीविका आदि का प्रयोजन विचारि धर्म नाही साधै है, आपकौ धर्मात्मा जानि केई स्वयमेव भोजन उपकारादि करै है, तौ किछू दोष है नाही। बहुरि जो आप ही भोजनादिक का प्रयोजन विचारि धर्म साधै है, तो पापी है ही।·· अर आप ही आजीविका आदि का प्रयोजन विचारि बाह्य धर्म साधन करै, जहाँ भोजनादिक उपकार कोई न करै, तहाँ सक्लेश करै, याचना करै, उपाय करै वा धर्म साधना विषै शिथिल होय जाय, सो पापी ही जानना[1]।"

कुल परम्परा, देखादेखी, आज्ञानुसारी एव लोभादि के अभिप्राय से धर्म साधना करने वाले व्यवहाराभासी जीवो की प्रवृत्ति का पडित टोडरमल ने बडा ही मार्मिक चित्र खीचा है –

"तहाँ केई जीव कुल प्रवृत्ति करि वा देख्या देखी लोभादि का अभिप्राय करि धर्म साधै है, तिनिकै तौ धर्मदृष्टि नाही। जो भक्ति करै है तौ चित्त तौ कही है, दृष्टि फिरचा करै है। अर मुखतै पाठादि करै है वा नमस्कारादि करै है। परन्तु यहु ठीक नाही – मै कौन हूँ, किसकी स्तुति करूँ हूँ, किस प्रयोजन के अर्थि स्तुति करूँ हूँ, पाठ विषै कहा अर्थ है, सो किछू ठीक नाही। बहुरि कदाचित् कुदेवादिक की भी सेवा करने लगि जाय। तहाँ सुदेव, सुगुरु, सुशास्त्रादि वा कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्रादि विषै विशेष पहिचान नाही। बहुरि जो दान दे है, तौ पात्र अपात्र का विचार रहित जैसै अपनी प्रशसा होय तैसै दान दे है। बहुरि तप करै है तौ भूखा रहने करि महतपनौ होय सो कार्य करै है। परिणामनि की पहिचान नाही। बहुरि व्रतादिक धारै है, तहाँ बाह्य क्रिया ऊपर दृष्टि है। सो भी कोई साँची क्रिया करै है, कोई झूठी करै है। अर अतरग रागादि भाव पाइए है, तिनिका विचार ही नाही वा बाह्य भी रागादि पोषने का साधन करै है। बहुरि पूजा प्रभावना आदि कार्य करै है। तहाँ जैसे लोक विषै बडाई होय वा विषय-कषाय

[1] मो० मा० प्र०, ३२२

पोषे जाँय, तैसे कार्य करै है। बहुरि हिंसादिक निपजावै है। सो ए कार्य तौ अपना वा अन्य जीवनि का परिणाम सुधारने के अर्थि कहे है। बहुरि तहाँ किंचित् हिंसादिक भी निपजै है, तौ थोरा अपराध होय, गुण बहुत होय सो कार्य करना कह्या है। सो परिणामनि की पहचान नाही। अर यहाँ अपराध केता लागै है, गुण केता हो है, सो नफा-टोटा का ज्ञान नाही वा विधि-अविधि का ज्ञान नाही। बहुरि शास्त्राभ्यास करै है। तहाँ पद्धति रूप प्रवर्तै है। जो वाचै है तौ औरनि को सुनाय दे है। जो पढै है तौ आप पढि जाय है। सुनै है तौ कहै है सो सुनि ले है। जो शास्त्राभ्यास का प्रयोजन है, ताकौ आप अन्तरग विषै नाही अवधारे है। इत्यादि धर्मकार्य्यनि का मर्म कौ नाही पहिचाने। केईकै तौ कुल विषै जैसै बडे प्रवर्त्तै, तैसै हमकौ भी करना अथवा और करै है, तैसे हमकौ भी करना वा ऐसै किए हमारा लोभादिक की सिद्धि होगी, इत्यादि विचार लिए अभूतार्थ धर्म कौ साधै है[१]।"

उभयाभासी

ये वे लोग है जिनकी समझ मे निश्चय-व्यवहार का सच्चा स्वरूप तो आया नही है,पर सोचते है कि जैन दर्शन मे दोनो नयो का उल्लेख है, अत हमे दोनो नयो को ही स्वीकार करना चाहिए। निश्चय-व्यवहार का सही ज्ञान न होने से निश्चयाभासी के समान निश्चय नय को और व्यवहाराभासी के समान व्यवहार नय को स्वीकार कर लेते है। यद्यपि बिना अपेक्षा समझे इस प्रकार स्वीकार करने मे दोनो नयो मे परस्पर विरोध स्पष्ट प्रतीत होता है, तथापि करे क्या ? इनकी मानसिक स्थिति का चित्रण पडित टोडरमल ने इस प्रकार किया है -

"यद्यपि ऐसै अगीकार करने विषै दोऊ नयनि विषै परस्पर विरोध है तथापि करै कहा, साँचा तो दोऊ नयनि का स्वरूप भास्या नाही अर जिनमत विषै दोय नय कहे, तिनि विषै काहू कौ छोडी भी जाती नाही। तातै भ्रम लिए दोऊनि का साधन साधै है, ते भी जीव मिथ्यादृष्टि जानने[२]।"

---

[१] मो० मा० प्र०, ३२२-२४
[२] वही, ३६५

इस प्रकार इनमे कम या अधिक रूप मे प्राय वही दोष पाए जाते है जो कि निश्चयाभासी और व्यवहाराभासियो मे पाए जाते है ।

नयकथनों का मर्म और उनका उपयोग

जैन शास्त्रो मे यथास्थान सर्वत्र निश्चय व्यवहार रूप कथन है । जैसे औषधि-विज्ञान सम्बन्धी शास्त्रो मे अनेक प्रकार की औषधियो का वर्णन होता है । पर प्रत्येक औषधि हर एक रोगी के काम की नही होती है, विशेष रोग एव व्यक्ति के लिए विशेष औषधि विशिष्ट अनुपात के साथ निश्चित मात्रा मे ही उपयोगी होती है । यही बात शास्त्रो के कथनो पर भी लागू होती है । अत. उनके सही भाव को पहिचान कर अपने लिए हितकर उपदेश को मानना उपयुक्त है, अन्यथा गलत औषधि के सेवन के समान लाभ के स्थान पर हानि की सभावना अधिक रहती है[1] ।

जैन शास्त्रो मे अनेक प्रकार उपदेश है । बुद्धि और भूमिकानुसार उपदेश ग्रहण करने पर लाभ होता है । शास्त्रो मे कही निश्चयपोषक उपदेश है, कही व्यवहारपोषक । कोई पहिले से ही निश्चयपोषक बात सुनकर स्वच्छन्द हो रहा था, बाद मे जिनवाणी मे निश्चयपोषक उपदेश पढ कर और भी स्वच्छन्द हो जाय तो बुरा ही होगा । इसी प्रकार कोई पहिले से ही आत्मज्ञान की ओर से उदास होकर क्रियाकाण्ड मे मग्न था, बाद मे जिनवाणी मे व्यवहारपोषक कथन पढ कर और भी क्रियाकाण्डी हो जाय तो बुरा ही होगा[2] । अत यदि हमारे जीवन मे हमे व्यवहार का आधिक्य दिखाई दे तो निश्चयपोषक उपदेश हितकर होगा और यदि स्वच्छन्दता की ओर झुकाव हो तो व्यवहारपोषक उपदेश हितकर होगा । अत जिनवाणी के मर्म को अत्यन्त सावधानीपूर्वक उसकी शैली के अनुसार ही समझने का यत्न करना चाहिए[3] ।

---

[1] मो० मा० प्र०, ४३६

[2] वही, ४३६–४४०

[3] वही, ४४३

चार अनुयोग

जैन शास्त्रो का एक वर्गीकरण चार अनुयोगो के रूप मे भी किया गया है[1] –

(१) प्रथमानुयोग
(२) करणानुयोग
(३) चरणानुयोग
(४) द्रव्यानुयोग

अनुयोगो की कथन-शैली आदि का सामान्य वर्णन तो पूर्वाचार्यो के ग्रन्थो मे मिलता है, पर वह अति सक्षेप मे है। पडित टोडरमल ने उक्त अनुयोगो की कथन-पद्धति का विश्लेषण वडी वारीकी एव विस्तार से किया है। उनका विश्लेषण मौलिक एव तर्कपूर्ण है। उन्होने प्रत्येक अनुयोग की परिभाषा, प्रयोजन, व्याख्यान का विधान, व्याख्यान-पद्धति और अभ्यासक्रम का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। प्रत्येक अनुयोग के सम्बन्ध मे उठने वाली दोष-कल्पनाओ को स्वय उठा-उठाकर उनका निराकरण प्रस्तुत किया है। अनुयोगो के कथन मे परस्पर प्रतीत होने वाले विरोधाभासो का, स्वय शकाएँ उपस्थित करके, समुचित समाधान करने का सफल प्रयास किया है।

अब हम प्रत्येक अनुयोग के सम्बन्ध मे उनके द्वारा प्रस्तुत विचारो का परिचयात्मक अनुशीलन प्रस्तुत करेगे।

प्रथमानुयोग

जिन शास्त्रो मे महापुरुषो के चरित्रो द्वारा पुण्य-पाप के फल का वर्णन होता है और वीतरागता को हितकर बताया जाता है, उन्हे प्रथमानुयोग के शास्त्र कहते है। इनका प्रयोजन ससार की विचित्रता और पुण्य-पाप का फल दिखा कर तथा महापुरुषो की प्रवृत्ति बता कर प्रथम भूमिका वालो को सन्मार्ग दिखाना है[2]।

---

[1] रत्नकरण्ड श्रावकाचार, अ० २ श्लोक ४२–४६

[2] मो० मा० प्र०, ३६४

उक्त प्रयोजन की सिद्धि हेतु इनमे पौराणिक मूल आख्यानो के साथ-साथ काल्पनिक कथाएँ भी लिखी जाती है तथा प्रयोजन अनुसार उनका सक्षेप-विस्तार भी किया जाता है[१]। कही-कही धर्मबुद्धिपूर्वक किये गए अनुचित कार्यो की भी प्रशसा कर दी जाती है। जैसे विष्णुकुमार मुनि द्वारा किये गए बलि-बधन एव ग्वाले द्वारा मुनि को तपाये जाने की प्रशसा की है। उक्त कार्य उनकी भूमिकानुसार योग्य नही थे, किन्तु प्रयोजनवश प्रशसा की है[२]। बहुत से लोग प्रथमानुयोग की पद्धति को नही जानते है, अत उक्त कार्यो को आदर्श व अनुकरणीय मान लेते है। पडित टोडरमल ने ऐसी प्रवृत्तियो के प्रति सावधान किया है। उन्होने स्पष्ट लिखा है कि मुनि विष्णुकुमार के बहाने और मुनियो को ऐसे कार्य करना ठीक नही है। इसी प्रकार ग्वाले की प्रशसा सुन कर और गृहस्थो को मुनियो को तपाना आदि धर्मपद्धति के विरुद्ध कार्य करना योग्य नही है।

प्रथमानुयोग मे काव्यशास्त्रीय परम्परा के नियमानुसार कथन किया जाता है, क्योकि काव्य मे कही गई बात अधिक असरकारक तथा मनोरजक होती है[३]।

प्रथमानुयोग मे कही-कही कर्त्तव्य विशेष की ओर ध्यान आकर्षित करने के लिए अल्प शुभ कार्य का फल बढा-चढाकर भी बता दिया जाता है तथा पाप कार्यो के प्रति हतोत्साह करने के लिए अल्प पाप का फल भी बहुत खोटा बता दिया जाता है, क्योकि अज्ञानी जीव बहुत फल दिखाए बिना धर्म कार्य के प्रति उत्साहित नही होते तथा पाप कार्य से डरते नही है। यह कथन पूर्ण सत्य न होकर भी प्रयोजन अपेक्षा ठीक है क्योकि पाप का फल बुरा और धर्म का फल अच्छा ही दिखाया गया है[४], किन्तु उक्त कथन को तारतम्यरूप मानने के प्रति सचेत भी किया गया है[५]।

---

[१] मो० मा० प्र०, ३६८-३६६

[२] वही, ४०२

[३] वही, ४२१

[४] वही, ३६६–४००

[५] वही, ४०१

करणानुयोग

करणानुयोग मे गुणस्थान, मार्गणास्थान आदि रूप जीव का तथा कर्मो का और तीन लोक सम्बन्धी भूगोल का वर्णन होता है[1]। गणना और नाप आदि का विशेष वर्णन होने से इसमे गणित की मुख्यता रहती है[2]। इसमे सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषयो का स्थूल बुद्धिगोचर कथन होता है। जैसे जीवो के भाव तो अनन्त प्रकार के होते है, वे सब तो कहे नही जा सकते, अत उनका वर्गीकरण चौदह भागो मे करके चौदह गुणस्थान रूप वर्णन किया है। इसी प्रकार कर्म परमाणु तो अनन्त एव अनन्तानन्त प्रकार की शक्तियो से युक्त है, पर उन सब का कथन तो सम्भव नही है, अत उनका भी वर्गीकरण आठ कर्मो एव एक सौ अडतालीस प्रकृतियो के रूप मे किया गया है[3]।

इसमे अधिकाश कथन तो केवलज्ञानी द्वारा कथित[4] निश्चय कथन है, किन्तु कही-कही उपदेश की अपेक्षा व्यवहार कथन भी है, उसको तारतम्य रूप से सत्य मान लेने के प्रति पडित टोडरमल ने सावधान किया है तथा कही-कही स्थूल कथन को भी पूर्ण तारतम्य रूप से सत्य मान लेने के प्रति भी सचेत किया है[5]।

चरणानुयोग

गृहस्थ और मुनियो के आचरण-नियमो का वर्णन चरणानुयोग के शास्त्रो में होता है[6]। इसमे सुभाषित नीतिशास्त्रो की पद्धति मुख्य है[7] तथा इसमे स्थूल बुद्धिगोचर कथन होता है। जीवो को पाप से छुडा कर धर्म मे लगाना इसका मूल प्रयोजन है व उनका जीवन नैतिक और सदाचार से युक्त हो, यह इसका मुख्य उद्देश्य है। इसमे

---

१ मो० मा० प्र०, ३६३, ३६५
२ वही, ३६६, ४२१
३ वही, ४०३
४ वही, ४०३
५ वही, ४०६
६ वही, ३६३
७ वही, ४२१

प्राय. व्यवहार नय की मुख्यता से कथन किया जाता है। कही-कही निश्चय सहित व्यवहार का भी उपदेश होता है[1]। व्यवहार उपदेश मे तो वाह्य क्रिया की ही प्रधानता रहती है, किन्तु निश्चय सहित व्यवहार के उपदेश मे परिणामो के सुधारने पर विशेष बल दिया जाता है[2]।

यद्यपि कषाय करना बुरा ही है तथापि सर्व कषाय छूटते न जान कर चरणानुयोग में तीव्र कषाय छोड कर मद कषाय करने का भी उपदेश दिया जाता है[3], किन्तु पुष्टि अकषाय भाव की ही करते है। तीव्र कषायी जीवों को कषाय उत्पन्न करके भी पाप कार्यो से विरक्त कर धर्म कार्यो की ओर प्रेरित करते हैं। जैसे पाप का फल नरकादि के दुःख दिखा कर भय उत्पन्न कराते है और स्वर्गादिक के सुख का लोभ दिखा कर धर्म की ओर प्रेरित करते है[4]। वाह्याचार का समस्त विधान चरणानुयोग का मूल वर्ण्य-विषय है। परिणामों की निर्मलता के लिए वाह्य व्यवहार की भी शुद्धि आवश्यक है[5]।

द्रव्यानुयोग

द्रव्यानुयोग में षट् द्रव्य, सप्त तत्त्व और स्वपर-भेदविज्ञान का वर्णन होता है। द्रव्यानुयोग मे प्रत्येक कथन सबल युक्तियों से सिद्ध व पुष्ट किया जाता है एव उपयुक्त उदाहरणो द्वारा विषय स्पष्ट किया जाता है, पाठक को विषय हृदयगम कराने के लिए विषय की पुष्टि में आवश्यक प्रमाण प्रस्तुत किए जाते है; पाठक की तत्सम्बन्धी समस्त जिज्ञासाओं का तर्कसंगत समाधान प्रस्तुत किया जाता है; क्योकि इस अनुयोग का प्रयोजन वस्तुस्वरूप का सच्चा श्रद्धान तथा स्वपर-भेदविज्ञान उत्पन्न कर वीतरागता प्राप्त करने की प्रेरणा देना है। इसमें जीवादि तत्त्वो का वर्णन एक विशेष दृष्टिकोण से किया

---

[1] मो० मा० प्र०, ४०७

[2] वही, ४०९

[3] वही, ४११

[4] वही, ४१२

[5] वही, ४२९

जाता है। आस्रवादि तत्त्वो का वर्णन वीतरागता प्राप्ति के दृष्टिकोण को लक्ष्य मे रख कर किया जाता है। आत्मानुभूति प्राप्त करने की प्रेरणा देने के लिए उसकी महिमा विशेष बताई जाती है। अध्यात्म उपदेश को विशेष स्थान प्राप्त रहता है तथा बाह्याचार और व्यवहार का सर्वत्र निषेध किया जाता है। उक्त कथन-शैली का उद्देश्य न समझ पाने से अनेक विसगतियाँ उत्पन्न हो जाती है, अत पडित टोडरमल ने इसके अध्ययन करने वालो को सावधान किया है। वे लिखते है –

"जे जीव आत्मानुभवन के उपाय कौ न करै है अर बाह्य क्रियाकाण्ड विषै मग्न है, तिनकौ तहाँ तै उदास करि आत्मानुभवनादि विषै लगावने कौ व्रत, शील, सयमादि का हीनपना प्रगट कीजिए है। तहाँ ऐसा न जानि लेना, जो इनकौ छोडि पाप विषै लगना। जातै तिस उपदेश का प्रयोजन अशुभ विषै लगावने का नाही। शुद्धोपयोग विषै लगावने कौ शुभोपयोग का निषेध कीजिए है। . तैसै बधकारण अपेक्षा पुण्य-पाप समान है, परन्तु पापतै पुण्य किछु भला है। वह तीव्रकषाय रूप है, यह मदकषाय रूप है। तातै पुण्य छोडि पाप विषै लगना युक्त नाही है। . ऐसै ही अन्य व्यवहार का निषेध तहाँ किया होय, ताकौ जानि प्रमादी न होना। ऐसा जानना – जे केवल व्यवहार विषै ही मग्न है तिनकौ निश्चय की रुचि करावने के अर्थि व्यवहार कौ हीन दिखाया है[१]।"

द्रव्यानुयोग के शास्त्रो का विशेषकर अध्यात्म के शास्त्रो के अध्ययन का निषेध निहित स्वार्थ वालो द्वारा किया जाता रहा है। इन्होने इनके अध्ययन मे अनेक काल्पनिक खतरे खडे किए है। पडित टोडरमल के युग मे भी इसी प्रकार के लोग बहुत थे, जो अध्यात्म ग्रथो के अध्ययन-अध्यापन का विरोध करते थे, अत उक्त सदर्भ मे उठाई जाने वाली समस्त सभावित आशकाओ का युक्तिसगत समाधान पडितजी ने प्रस्तुत किया है। सब से बडा भय यह दिखाया जाता है कि इन शास्त्रो को पढ कर लोग स्वच्छन्द हो जावेगे, पुण्य छोड कर पाप मे लग जावेगे। इसके सम्बन्ध मे उन्होने लिखा है –

[१] मो० मा० प्र०, ४१८–१९

"जैसै गर्दभ मिश्री खाय मरे, तौ मनुष्य तौ मिश्री खाना न छोडै। तैसै विपरीत बुद्धि अध्यात्म ग्रन्थ सुनि स्वच्छन्द होय, तौ विवेकी तौ अध्यात्म ग्रंथनि का अभ्यास न छोड़ै।"

वे तो अध्यात्म की धारा घर-घर तक पहुँचाना चाहते थे किन्तु कुछ लोगो को यह पसन्द न था, अत वे लोग कहते थे कि उत्कृष्ट अध्यात्म-उपदेश कम से कम आम सभाओ मे तो न दिया जाय। पडित टोडरमल आम जनता मे अध्यात्म-उपदेश की आवश्यकता निम्नानुसार प्रतिपादित करते है –

"जैसे मेघ वर्षा भए बहुत जीवनि का कल्याण होय अर काहू कै उलटा टोटा पडै, तौ तिसकी मुख्यता करि मेघ का तौ निषेध न करना। तैसे सभा विषै अध्यात्म उपदेश भए वहुत जीवनि कौ मोक्षमार्ग की प्राप्ति होय अर काहू कै उलटा पाप प्रवर्त्तै, तौ तिसकी मुख्यता करि अध्यात्म शास्त्रनि का तौ निषेध न करना[१]।"

अनुयोगों का अध्ययन-क्रम

अनुयोगो के अध्ययन-क्रम के सम्वन्ध मे कोई नियम सम्भव नही है। अपनी योग्यता और रुचि के अनुकूल अध्ययन करना चाहिए। फेर-बदल कर चारो अनुयोगो का अध्ययन करना रुचि एव सर्वाङ्गीण अध्ययन की दृष्टि से अधिक उपयुक्त है[२]। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उनमे वर्णित-विषय के भाव को, उनकी कथन-शैली के सन्दर्भ मे समझा जाना चाहिए। सब को एक समान जान कर अध्ययन करने मे भ्रम हो जाना सम्भव है। कई ग्रन्थो मे एकाधिक अनुयोगो का कथन भी एक साथ प्राप्त होता है[३]। अत अनुयोगो का अध्ययन-क्रम निर्धारित नही किया जा सकता है।

वीतरागता एकमात्र प्रयोजन

समस्त जिनवाणी का तात्पर्य एकमात्र वीतरागता है[४]। वीतरागता ही परम धर्म है, अत चारो अनुयोगो मे वीतरागता की ही पुष्टि की गई है। यदि कही पूर्ण राग त्याग की वात कही गई है, तो कही पूर्ण राग छूटता सभव दिखाई न दिया तो अधिक राग छोड

---

[१] मो० मा० प्र०, ४३०

[२] वही, ४४८

[३] वही, ४२१

[४] पचास्तिकाय, समयव्याख्या टीका, २५७

कर अल्प राग करने की सलाह दी गई है, पर रागादि भाव बढाने को कही भी अच्छा नही बताया गया है। जिसमे राग का पोषण हो, वह शास्त्र जैन शास्त्र नही है[1]।

न्याय व्याकरणादि शास्त्रों के अध्ययन की उपयोगिता

चार अनुयोगो के अतिरिक्त न्याय व्याकरणादि-विषयक शास्त्र भी जैन साहित्य मे उपलब्ध है। अनुयोग रूप शास्त्रो मे प्रवेश पाने के लिए उनके सामान्य अध्ययन की उपयोगिता पडित टोडरमल ने स्वीकार की है, क्योकि व्याकरण और भाषा के सामान्य ज्ञान बिना अनुयोग रूप शास्त्रो का अध्ययन सम्भव नही है तथा न्याय शास्त्रो के अध्ययन बिना तत्त्व निर्णय करना कठिन है[2]। पाण्डित्य प्रदर्शन के लिए इनके अभ्यास मे समय नष्ट करना वे उपयुक्त नही समझते है। वे लिखते है :—

"जे जीव शब्दनि की नाना युक्ति लिए अर्थ करने कौ ही व्याकरण अवगाहै है, वादादि करि महन्त हौने कौ न्याय अवगाहै है, चतुरपना प्रकट करने के अर्थि काव्य अवगाहै है, इत्यादि लौकिक प्रयोजन लिए इनिका अभ्यास करै है, ते धर्मात्मा नाही। बनै जेता थोरा बहुत अभ्यास इनका करि आत्महित के अर्थि तत्त्वादिक का निर्णय करै है, सोई धर्मात्मा पडित जानना[3]।"

सम्यक्चारित्र

आत्मस्वरूप मे रमण करना ही चारित्र है। मोह-राग-द्वेष से रहित आत्मा का परिणाम साम्यभाव है और साम्यभाव की प्राप्ति ही चारित्र है[4]। अशुभ भाव से निवृत्त होकर शुभ भाव मे प्रवृत्ति को भी व्यवहार से चारित्र कहा गया है[5]। जैन दर्शन मे वाह्याचार की अपेक्षा भाव शुद्धि पर विशेष बल दिया गया है। भाव शुद्धि बिना

---

[1] मो० मा० प्र०, ४४६

[2] वही, ४३२

[3] वही, ३४७

[4] प्रवचनसार, गाथा ७

[5] द्रव्यसग्रह, गाथा ४५

वाह्याचार निष्फल है[१]। वाह्याचार शुद्ध होने पर भी यदि अभिप्राय मे वासना बनी रहती है तो उसका आत्महित की दृष्टि से कोई मूल्य नही है। विषय-कषाय की वासना का अभाव ही सच्चा चारित्र है और उसका क्रमश कम होते जाना ही चारित्र की दिशा मे क्रमिक विकास है[२]।

चारित्र के नाम पर किए जाने वाले असगत आचरण एव हिसामूलक प्रवृत्तियो का प० टोडरमल ने अपने साहित्य मे यथास्थान जोरदार खण्डन किया है। हिसामूलक अयत्नाचार-प्रवृत्ति का उन्होने धार्मिक अनुष्ठानो मे भी निषेध किया है। वे लिखते है –

"देहुरा पूजा प्रतिष्ठादिक कार्य विषै जो जीव हिसा होने का भय न राखै, जतन स्यौ न प्रवर्त्तै, केवल बडाई के वास्तै जैसे-तैसे कार्य करै, तो धर्म है नाही, पाप ही है[३]।"

आचरण को उन्होने सर्वत्र अहिसामूलक और विवेकसगत ही स्वीकार किया है। सर्वत्र आध्यात्मिक लाभ-हानि के विचारपूर्वक चलने की सलाह दी है। लौकिक प्रतिष्ठा और सम्मान के लिए किये गए धार्मिक सदाचार रूप आचरण का उनकी दृष्टि मे कोई महत्त्व नही है। उन्होने लिखा है –

"जो मान बडाई के वास्ते बहुत उपवास अगीकार करि लघन की ज्यौ भूखा मरै तौ किछू सिद्धि नाही[४]।"

उनका मानना है कि वाह्य व्रतादिक की प्रतिज्ञा लेने के पूर्व परिणामो की विशुद्धता पर पूरा-पूरा ध्यान दिया जाना चाहिए। शक्ति के अनुसार ही प्रतिज्ञा ली जानी चाहिए। शक्ति के अभाव मे प्रतिज्ञा आकुलता ही उत्पन्न करेगी। इस सबध मे वे लिखते है –

'केई जीव पहलै तो बडी प्रतिज्ञा धरि वैठै अर अतरग विपय कपायवासना मिटी नाही। तब जैसै तैसै प्रतिज्ञा पूरी किया चाहै,

---

[१] (क) मो० मा० प्र०, ३३९
(ख) तस्मात्क्रिया प्रतिफलति न भावशून्या —आ० समन्तभद्र

[२] मो० मा० प्र०, ३४९

[३] पु० भा० टी०, ४९

[४] वही, ५२

तहाँ तिस प्रतिज्ञाकरि परिणाम दु'खी हो है । जैसै बहुत उपवास करि वैठैं, पीछै पीडा तै दुखी हुवा रोगीवत् काल गमावै, धर्मसाधन न करै। सो पहलै ही सधती जानिए तितनी ही प्रतिज्ञा क्यो न लीजिए । दु खी होने में आर्तध्यान होय, ताका फल भला कैसै लागैगा। अथवा उस प्रतिज्ञा का दु ख न सह्या जाय, तब ताकी एवज विषय पौषने कौ अन्य उपाय करे । जैसै तृषा लागै तब पानी तौ न पीवै अर अन्य शीतल उपचार अनेक प्रकार करै । वा घृत तौ छोडै अर अन्य स्निग्ध वस्तुकौ उपायकरि भखै । ऐसै ही अन्य जानना । सौ परीषह न सही जाय थी, विषयवासना न छूटै थी, तौ ऐसी प्रतिज्ञा काहे कौ करी । सुगम विषय छोडि विषम विषयनिका उपाय करना पडै, ऐसा कार्य काहे कौ कीजिए । यहाँ तौ उलटा राग भाव तीव्र हौ है [1] ।

अविवेकपूर्वक आचरण को उनकी दृष्टि मे कोई स्थान प्राप्त नही है । अन्यायपूर्वक धन कमा कर दान देने वालों एवं सब कुछ त्याग कर भिक्षावृत्ति करने वालों को उन्होने खूब फटकारा है[2] ।

हिसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँचों पापो के त्याग को भी चारित्र कहा गया है[3] । यह चारित्र दो प्रकार का होता है । सकल चारित्र और विकल चारित्र । सकल चारित्र पाँचो पापों के पूर्ण त्याग रूप होता है और यह मुनियों के होता है । विकल चारित्र पाँचो पापो के एकदेश त्याग रूप होता है और वह गृहस्थो के होता है[4] । हिसादि पाँचो पापो के पूर्ण त्याग को महाव्रत कहते है और एकदेश त्याग को अणुव्रत । ये अणुव्रत और महाव्रत सब शुभ भाव रूप है, अत इन्हे व्यवहार से चारित्र कहा जाता है । वास्तविक चारित्र तो वीतराग भाव रूप ही होता है । इस सदर्भ मे पंडित टोडरमल ने लिखा है –

---

[1] मो० मा० प्र०, ३५०–३५१

[2] वही, ३५४

[3] रत्नकरण्ड श्रावकाचार, अ० ३ श्लोक ४९

[4] वही, अ० ३ श्लोक ५०

"बहुरि हिंसादि सावद्ययोग का त्याग कौ चारित्र मानै है। तहाँ महाव्रतादि रूप शुभ योग कौ उपादेयपने करि ग्राह्य मानै है। सो तत्त्वार्थसूत्र विषै आस्रव-पदार्थ का निरूपण करतै महाव्रत अणुव्रत भी आस्रव रूप कहे है। ए उपादेय कैसे होय ? अर आस्रव तो बध का साधक है, चारित्र मोक्ष का साधक है, तातै महाव्रतादिरूप आस्रव भावनिकौ चारित्रपनौ सभवै नाही, सकल कषाय रहित जो उदासीन भाव ताही का नाम चारित्र है। सौ चारित्रमोह के देशघाति स्पर्द्धकनि के उदय तै महामद प्रशस्त राग हो है, सो चारित्र का मल है। याकौ छूटता न जानि याका त्याग न करै है, सावद्ययोग ही का त्याग करै है। परन्तु जैसै कौई पुरुष कदमूलादि बहुत दोषीक हरितकाय का त्याग करै है अर केई हरितकायनि कौ भखे है परन्तु याकौ धर्म न मानै है। तैसै मुनि हिसादि तीव्र कषाय रूप भावनि का त्याग करै है अर केई मदकषाय रूप महाव्रतादि कौ पालै है परन्तु ताकौ मोक्षमार्ग न मानै है।

यहा प्रश्न – जो ऐसै है, तौ चारित्र के तेरह भेदनि विषै महाव्रतादि कैसे कहे है ?

ताका समाधान – यहु व्यवहारचारित्र कहा है। व्यवहार नाम उपचार का है। सो महाव्रतादि भए ही वीतरागचारित्र हो है। ऐसा सम्बन्ध जानि महाव्रतादि विषै चारित्र का उपचार किया है। निश्चय करि नि कषाय भाव है, सोई साँचा चारित्र है[1]।"

इन सब का विस्तृत वर्णन पडित टोडरमल मोक्षमार्ग प्रकाशक के 'चारित्र अधिकार' मे करने वाले थे[2] जो दुर्भाग्य से लिखा नही जा सका, किन्तु जैनाचार के मूल सिद्धान्त 'अहिसा' पर पडित टोडरमल के प्राप्त साहित्य मे यत्र-तत्र पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

अहिसा

राग-द्वेष-मोह आदि विकारी भावो की उत्पत्ति हिसा है और उन भावो की उत्पत्ति नही होना अहिसा है[3]। हिसा-अहिसा की

[1] मो० मा० प्र०, ३३६–३३७

[2] वही, २३१

[3] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक ४४

चर्चा जब भी चलती है, जनसाधारण का ध्यान दूसरे जीवो को मारने, सताने या रक्षा करने आदि की ओर ही जाता है। हिंसा और अहिंसा का सम्बन्ध प्रायः दूसरो से ही जोडा जाता है। दूसरो की हिंसा मत करो, बस यही अहिंसा है, ऐसा ही सर्वाधिक विश्वास है। अपनी भी हिंसा होती है, इस ओर बहुत कम लोगो का ध्यान जाता है। जिनका जाता भी है तो आत्महिंसा का अर्थ विष भक्षणादि द्वारा आत्मघात (आत्महत्या) ही मानते है। अन्तर मे राग-द्वेष की उत्पत्ति भी हिंसा है, इस बात को बहुत कम लोग जानते है। यह तथ्य पंडित टोडरमल की दृष्टि से ओझल न रह सका। वे लिखते है -

"अपने शुद्धोपयोग रूप प्राण का घात रागादिक भावनि तै होय है, तिसतै रागादिक भावनि का अभाव सोई अहिंसा है। आदि शब्द से द्वेष, मोह, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, शोक, जुगुप्सा प्रमादादिक समस्त विभाव भाव जाननै[1]।"

व्यवहार मे जिसे हिंसा कहते है, जैसे किसी को सताना, दुःख देना आदि, वह हिंसा न हो; यह बात नही है। वह तो हिंसा है ही, क्योकि उसमे प्रमाद और कषाय का योग रहता है[2]। झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह भी हिंसा के ही रूपान्तर है, क्योकि इन सब मे रागादि विकारी भावो का सद्भाव होने से आत्मा के चैतन्य प्राणो का घात होता है[3]।

हिंसा दो प्रकार की होती है – द्रव्यहिंसा और भावहिंसा। जीवो के घात को द्रव्यहिंसा कहते है और घात करने के भाव को भावहिंसा।

अहिंसा के सम्बन्ध मे एक भ्रम यह भी चलता है कि मारने का भाव हिंसा है तो बचाने का भाव अहिंसा होगा। शास्त्रो मे उसे व्यवहार से अहिंसा कहा भी है, किन्तु वह भी राग रूप होने से वस्तुतः हिंसा ही है। वीतराग भाव ही अहिंसा है, वस्तु का स्वभाव

---

[1] पु० भा० टी०, ३४

[2] (क) तत्त्वार्थसूत्र, अ० ७ सू० १३
(ख) पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक ४६

[3] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक ४२

होने से वही धर्म है और वही मुक्ति का कारण है। वचाने के शुभ भाव रूप अहिसा, जो कि हिसा का ही एक रूप है, पुण्य वध का कारण है, मुक्ति का कारण नही। उक्त तथ्य को पडित टोडरमल ने इस प्रकार व्यक्त किया है :–

"तहाँ अन्य जीवनि कौ जिवावने का वा सुखी करने का अध्यवसाय होय सो तौ पुण्य बध का कारण है, अर मारने का वा दुखी करने का अध्यवसाय होय सो पाप बध का कारण है। ऐसैं अहिसावत् सत्यादिक तौ पुण्य बध कौ कारण है, अर हिसावत् असत्यादिक पाप बध कौ कारण है। ए सर्व मिथ्याध्यवसाय है, ते त्याज्य है। तातैं हिसादिवत् अहिसादिक कौ भी बध का कारण जानि हेय ही मानना। हिसा विषैं मारने की बुद्धि होय सो वाका आयु पूरा हुवा बिना मरै नाही, अपनी द्वेष परिणति करि आप ही पाप बाधै है। अहिसा विषैं रक्षा करने की बुद्धि होय सो वाका आयु अवशेष बिना जीवै नाही, अपनी प्रशस्त राग परिणति करि आप ही पुण्य बाधै है। ऐसैं ए दोऊ हेय है। जहा वीतराग होय दृष्टा-ज्ञाता प्रवर्तैं, तहाँ निर्बन्ध है। सो उपादेय है। सो ऐसी दशा न होय, तावत् प्रशस्त राग रूप प्रवर्तौ, परन्तु श्रद्धान तौ ऐसा राखौ – यहु भी बध का कारण है, हेय है। श्रद्धान विषैं याकौ मोक्षमार्ग जाने मिथ्यादृष्टि ही हो है[1]।"

दूसरो की रक्षा करने के भाव को मुक्ति का कारण मानने वालो से वे पूछते है – "सो हिसा के परिणामनि तैं तौ पाप हो है अर रक्षा के परिणामनि तैं सवर (बध का अभाव) कहोगे तो पुण्य बध का कारण कौन ठहरैगा[2]।"

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि ऐसी अहिसा तो साधु ही पाल सकते है, अत यह तो उनकी बात हुई। सामान्यजनो (श्रावको) को तो दया रूप (दूसरो को बचाने का भाव) अहिसा ही सच्ची है। आचार्य अमृतचन्द्र ने श्रावक के आचरण के प्रकरण मे ही इस बात को लेकर यह सिद्ध कर दिया है कि अहिसा दो प्रकार की नही होती।

---

[1] मो० मा० प्र०, ३३१–३२

[2] वही, ३३५

अहिसा को जीवन मे उतारने के स्तर दो हो सकते है। हिसा तो हिसा ही रहेगी। यदि श्रावक पूर्ण हिसा का त्यागी नही हो सकता तो अल्प हिसा का त्याग करे, पर जो हिसा वह छोड न सके, उसे अहिसा तो नही माना जा सकता है। यदि हम पूर्णत हिसा का त्याग नही कर सकते है तो अशत त्याग करना चाहिए। यदि वह भी न कर सके तो कम से कम हिसा को धर्म मानना और कहना तो छोडना ही चाहिए। शुभ राग, राग होने से हिसा मे आता है और उसे धर्म नही माना जा सकता।

एक प्रश्न यह भी सभव है कि तीव्र राग तो हिसा है पर मद राग को हिसा क्यो कहते हो ? जब राग हिसा है तो मद राग अहिसा कैसे हो जावेगा, वह भी तो राग की ही एक दशा है। यह बात अवश्य है कि मद राग मद हिसा है और तीव्र राग तीव्र हिसा है। अत यदि हम हिसा का पूर्ण त्याग नही कर सकते है तो उसे मद तो करना ही चाहिए। राग जितना घटे उतना ही अच्छा है, पर उसके सद्भाव को धर्म नही कहा जा सकता है। धर्म तो राग-द्वेष-मोह का अभाव ही है और वही अहिसा है, जिसे परम धर्म कहा जाता है।

राग-द्वेष-मोह भावो की उत्पत्ति होना हिसा है और उन्हे धर्म मानना महा हिसा है तथा रागादि भावों की उत्पत्ति नही होना ही परम अहिसा है और रागादि भावों को धर्म नही मानना ही अहिसा के सम्बन्ध मे सच्ची समझ है।

भावों का तात्त्विक विश्लेषण

क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य आदि विकारी मनोभाव राग-द्वेष-मोह के ही भेद है[१]। अत· यह सब हिसा के ही रूप है। पूर्ण अहिसक बनने के लिए इनका त्याग आवश्यक है। इनकी उत्पत्ति के कारणो एव नाश के उपायो पर विचार करते हुए पडित टोडरमल ने इनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है।

---

[१] मो० मा० प्र०, ५६

जब आत्मा यह अनुभव करता है कि कुछ पर-पदार्थ मुझे सुखी करते है और कुछ दु खी करते है, कुछ मेरे जीवन के रक्षक है, कुछ विनाशक; तव उनके प्रति इष्ट अनिष्ट बुद्धि उत्पन्न होती है। यह इष्ट-अनिष्ट बुद्धि ही राग-द्वेष भावो की मुख्योत्पादक है[1]। जब तत्त्वाभ्यास से वस्तुस्वरूप का सच्चा ज्ञान होता है और आत्मा यह अनुभव करने लगता है कि मेरे सुख-दु ख और जीवन-मरण के कारण मुझ मे ही है, मै अपने सुख-दु ख व जीवन-मरण का स्वय उत्तरदायी हूँ, कोई पर-पदार्थ मुझे सुखी-दु खी नही करता है और न कर ही सकता है, तो पर-पदार्थ से इष्ट-अनिष्ट बुद्धि समाप्त होने लगती है और क्रोधादि का भी अभाव होने लगता है[2]।

पंडितजी ने क्रोध, मानादि कषायों से युक्त मानसिक और बाह्य क्रिया-कलापो के सजीव चित्र प्रस्तुत किए है। उन्होने सब कुछ शास्त्रो मे ही देख कर नही लिखा है, वरन् अपने अन्तर एव जगत् का पूरा-पूरा निरीक्षण करके लिखा है। अभिमानी व्यक्ति की प्रवृत्ति का वर्णन वे इस प्रकार करते है –

"वहुरि जव याकै मान कषाय उपजै तव औरनि कौ नीचा वा आपकौ ऊँचा दिखावने की इच्छा हो है। वहुरि ताकै अर्थि अनेक उपाय विचारै, अन्य की निन्दा करै, आपकी प्रशसा करै वा अनेक प्रकार करि औरनि की महिमा मिटावै, आपकी महिमा करै। महा कष्ट करि धनादिक का सग्रह किया ताकौ विवाहादि कार्यनि विषै खरचै वा देना करि (कर्ज लेकर) भी खरचै। मूए पीछै हमारा जस रहेगा ऐसा विचारि अपना मरन करिके भी अपनी महिमा वधावै। जो अपना सन्मानादि न करै ताकौ भय आदिक दिखाय दु ख उपजाय अपना सम्मान करावै। वहुरि मान होतें कोई पूज्य वडे होहि तिनका भी सम्मान न करै, किछू विचार रहता नाही। वहुरि अन्य नीचा, आप ऊँचा न दीसै तौ अपने अतरग विषै आप बहुत सन्तापवान होय

---

[1] मो० मा० प्र०, ३३६

[2] वही, ३३६

वा अपने अगनि का घात करै वा विषाद करि मरि जाय। ऐसी अवस्था मान होतै होय है[1]।

पडितजी ने चारित्र मोह के अन्तर्गत उत्पन्न कषाय भावो का विश्लेषण केवल शास्त्रीय दृष्टि से नही किया है, उसमे उनकी मनोवैज्ञानिक पकड है। अन्तर केवल इतना ही है कि मनोविज्ञान जहाँ विभिन्न भावों की सत्ता के मनोवैज्ञानिक कारण खोजता है, वहाँ वे इसका कारण मोहजन्य रागात्मक परिणति को मानते है। इस बात मे दोनो एक मत है कि कपाय और मनोवेग ही मनुष्य के लौकिक चरित्र की विधायक शक्तियाँ है। जीवन मे सारी विषमताएँ इन्ही के कारण उत्पन्न होती है। इन्ही के कारण वह अपने-पराये का भेद करता है।

मनोविज्ञान जिन्हे मनोवेग कहता है, जैन दर्शन मे उन्हे राग-द्वेष रूप कषाय भाव कहा गया है। मनोविज्ञान के अनुसार मानव का सम्पूर्ण व्यवहार मनोवेगो से नियन्त्रित होता है और पडितजी भी यही कहते है कि रागी-द्वेषी प्राणी का व्यवहार राग-द्वेपमूलक है। इस प्रकार उनका मोह-राग द्वेप भावो का विश्लेषण मनोवैज्ञानिक है।

विविध विचार

उपयुक्त दार्शनिक विचारो के अतिरिक्त उन्होने अपने साहित्य मे यत्र-तत्र यथाप्रसग अन्य लौकिक एव पारिलौकिक, सामयिक एव त्रैकालिक, सैद्धान्तिक एव व्यवहारिक विषयो पर अपने विचार व्यक्त किए है। अब सामान्य रूप से उनका सक्षेप मे परिशीलन किया जाता है।

वक्ता और श्रोता

पडित टोडरमल मुख्य रूप से विशुद्ध आध्यात्मिक विचारक है। विचार उनकी अनुभूति का अग है। लेकिन यह अनुभूतिमूलकता उन्हे तर्क से विरत नही करती। वे जिस वात का भी विचार करते है, तर्क उसकी पहली सीढी है। उन्होने तत्त्वज्ञान और उससे सम्बन्धित

[1] मो० मा० प्र०, ७६–७७

वक्ता-श्रोता दोनो पक्षों की योग्यता-अयोग्यता को तर्क की कसौटी पर कसा है। वक्ता-श्रोता सम्बन्धी विचार यद्यपि परम्परागत है फिर भी वह इन दोनो के सम्बन्ध मे अपना विशिष्ट दृष्टिकोण रखते है। कहना न होगा इस दृष्टिकोण मे उनके व्यक्तित्व और लेखनशैली की झलक मिलती है। उदाहरण के लिए वक्ता श्रद्धावान होना चाहिए, वह विद्याभ्यासी हो और अपने वक्तव्य के लक्ष्य को ठीक से जानता हो। उसे अपने स्वीकृत मत के प्रति निष्ठावान् होना चाहिए। उसका शास्त्रचितन आजीविका का साधन न हो। यदि वह कोई लौकिक उद्देश्य रखता है तो सम्भव है कि श्रोताओ के प्रभाव मे आकर उनके अनुसार शास्त्र की व्याख्या कर दे। उन्होने लिखा है :-

"बहुरि वक्ता कैसा होना चाहिए, जाकै शास्त्र वाचि आजीविका आदि लौकिक कार्य साधने की इच्छा न होय। जातै जो आशावान् होइ तो यथार्थ उपदेश देइ सकै नाही, वाकै तौ किछू श्रोतानिका अभिप्राय के अनुसारि व्याख्यान करि अपने प्रयोजन साधने का ही साधन रहै अर श्रोतानितै वक्ता का पद ऊचा है परन्तु यदि वक्ता लोभी होय तौ वक्ता आप ही हीन हो जाय, श्रोता ऊचा होय। बहुरि वक्ता कैसा चाहिए जाकै तीव्र क्रोध मान न होय जातै तीव्र क्रोधी मानी की निंदा होय, श्रोता तिसतै डरते रहै, तब तिसतै अपना हित कैसे करै। बहुरि वक्ता कैसा चाहिए जो आप ही नाना प्रश्न उठाय आप ही उत्तर करै अथवा अन्य जीव अनेक प्रकार करि बहुत बार प्रश्न करै तो मिष्ट वचननि करि जैसै उनका सदेह दूर होय तैसै समाधान करै। जो आपकै उत्तर देने की सामर्थ्य न होय तौ या कहै, याका मौको ज्ञान नाही, किसी विशेष ज्ञानी से पूछ कर तिहारे ताई उत्तर दूँगा, अथवा कोई समय पाय विशेष ज्ञानी तुम सौ मिलै तौ पूछ कर अपना सन्देह दूर करना और मौकूँ हू बताय देना[1]।"

वक्ता का सबसे बडा और मौलिक गुण है – सत्य के प्रति सच्ची जिज्ञासा और अनुभूत सत्य की प्रामाणिक अभिव्यक्ति। स्पष्ट है कि वक्ता अपनी सीमा मे ही उत्तर दे, यदि उसे नही आता है तो स्पष्ट

[1] मो० मा० प्र०, २२-२३

रूप मे स्वीकार करे और कहे कि मै विशेष ज्ञानी से पूछ कर बताऊँगा अथवा श्रोता ही विशेष ज्ञानी से पूछ ले और उसे भी बताए। इससे सिद्ध है कि उनके अनुसार वक्ता मे जितनी प्रमाणिक बात बताने की ईमानदारी एव कुशलता होनी चाहिए, श्रोता में भी उतनी ही जिज्ञासा होनी चाहिए, क्योकि वक्ता के अभिमान या पाण्डित्य के झूठे प्रदर्शन से एवं श्रोता की सजगता के अभाव मे प्रकरण विरुद्ध अर्थ की सम्भावना बनी रहती है। उन्होने उन्ही अर्थो का विरोध किया जो अभिमान या पाण्डित्य के थोथे प्रदर्शन से किये गए हों, लेकिन जहाँ वक्ता अपने अध्ययन से प्रसंगो की नई व्याख्या करता है और प्रचलित मान्यताओं को काटता है तो उसे इसकी स्वतन्त्रता है। कहना न होगा कि पडितजी ने इस स्वतन्त्रता का भरपूर उपयोग किया है, परन्तु ऐसा करते समय नम्र शब्दो में यह भी कह दिया है कि मै जो कुछ समझ सका वह मैने लिखा है, बाकी सर्वज्ञ जाने। क्षयोपशम सम्यग्दर्शन मे लगने वाले दोषो की चर्चा करते हुए वे लिखते है :–

"तातै समल तत्त्वार्थ श्रद्धान होय सो क्षयोपशम सम्यक्त्व है। यहां जो मल लागै है, ताका तारतम्य स्वरूप तो केवली जानै है, उदाहरण दिखावने के अर्थि चलमलिनअगाढपना कह्या है। तहाँ व्यवहार मात्र देवादिक की प्रतीति तो होय परन्तु अरहन्त देवादि विषैं यहु मेरा है, यहु अन्य का है, इत्यादि भाव सो चलपना है। शंकादि मल लागै है सो मलिनपना है। यहु शातिनाथ शाति का कर्त्ता है इत्यादि भाव सो अगाढपना है। सो ऐसे उदाहरण व्यवहारमात्र दिखाए परन्तु नियमरूप नाहीं। क्षयोपशम सम्यक्त्व विषै जो नियमरूप कोई मल लागै है सो केवली जानै है[1]।"

उन्होने अपना मत सर्वत्र सविनय किन्तु खुल कर व्यक्त किया है। जैसे :–

(१) "बहुरि जैसै कही प्रमाणादिक किछू कह्या होय, सोई तहाँ न मानि लैना, तहाँ प्रयोजन होय सो जानना। ज्ञानार्णव विषै ऐसा

[1] मो० मा० प्र०, ४६६

लिखा है – 'अवार दोय तीन सत्पुरुष है ।' सो नियम तै इतने ही नाही। यहा 'थोरे है' ऐसा प्रयोजन जानना । ऐसे ही अन्यत्र जानना[1] ।"

(२) "बहुरि प्रथमानुयोग विषै कोई धर्मबुद्धितै अनुचित कार्य करै ताकी भी प्रशसा करिये है । जैसै विष्णुकुमार मुनिन का उपसर्ग दूरि किया, सो धर्मानुरागतै किया, परन्तु मुनिपद छोडि यहु कार्य करना योग्य न था । जातै ऐसा कार्य तौ गृहस्थधर्म विषै सम्भवै अर गृहस्थधर्मतै मुनि धर्म ऊँचा है । सो ऊँचा धर्मकौ छोडि नीचा धर्म अगीकार किया सो अयोग्य है । परन्तु वात्सल्य अग की प्रधानता करि विष्णुकुमारजी की प्रशसा करी । इस छल करि औरनिकौ ऊँचा धर्म छोडि नीचा धर्म अंगीकार करना योग्य नाही[2] ।"

(३) "बहुरि जैसै गुवालिया मुनिकौ अग्नि करि तपाया, सो करुणातै यहु कार्य किया । परन्तु आया उपसर्गकौ तौ दूरि करै, सहज अवस्था विषै जो शीतादिक की परीषह हो है, तिसकौ दूर किए रति मानने का कारण होय, तामै उनकौ रति करनी नाही, तब उलटा उपसर्ग होय । याहीतै विवेकी उनकै शीतादि का उपचार करते नाही । गुवालिया अविवेकी था, करुणा करि यहु कार्य किया, तातै याकी प्रशसा करी । इस छल करि औरनिकौ धर्मपद्धति विषै जो विरुद्ध होय सो कार्य करना योग्य नाही[3] ।"

(४) "बहुरि केई पुरुषो ने पुत्रादि की प्राप्ति के अर्थि वा रोग कष्टादि दूरि करने के अर्थि चैत्यालय पूजनादि कार्य किए, स्तोत्रादि किए, नमस्कारमन्त्र स्मरण किया । सो ऐसै किए तौ नि काक्षित गुण का अभाव होय, निदानबध नामा आर्त्तध्यान होय । पाप ही का प्रयोजन अतरग विषै है, तातै पाप ही का बध होई । परन्तु मोहित होय करि भी बहुत पाप बध का कारण कुदेवादिक का तौ पूजनादि न किया, इतना वाका गुण ग्रहण करि वाकी प्रशसा करिए है । इस

---

[1] मो० मा० प्र०, ४३८–४३९

[2] वही, ४०२

[3] वही, ४०२

छल करि औरनिकौ लौकिक कार्यनि के अर्थि धर्म साधन करना युक्त नाही। ऐसै ही अन्यत्र जानने[1]।"

पडितजी ने जो वक्ता और श्रोता के लक्षण दिए है, उनमें उनका व्यक्तित्व स्पष्ट झलकता है। उनके अनुसार वक्ता का बाह्य व्यक्तित्व भी प्रभावशाली होना चाहिए। जैसे – कुलहीन न हो, अंगहीन न हो, उसका स्वर भग न हो, वह लोकनिदक अनीतिमूलक आचरण से सदा दूर रहता हो। इस प्रकार आन्तरिक ज्ञान के साथ बाह्य व्यक्तित्व समन्वय ही अच्छे वक्ता की कसौटी है।

वक्ता के समान उनके अनुसार श्रोता में भी तत्त्वज्ञान के प्रति सच्ची जिज्ञासा होनी चाहिए। वह मननशील हो और उद्यमी। उसका विनयवान होना भी जरूरी है। मोक्षमार्ग प्रकाशक के पडित टोडरमल ही वक्ता है और वे ही श्रोता, वे ही शंकाकार है और वे ही समाधानकर्त्ता है। उक्त ग्रथ में अभिन्न वक्ता-श्रोता का जो स्वरूप है वह अन्यत्र कही भी देखने को नही मिलता। मोक्षमार्ग प्रकाशक का शकाकार और समाधानकर्त्ता उनके आदर्श श्रोता और वक्ता है।

पठन-पाठन के योग्य शास्त्र

वक्ता और श्रोता के स्वरूप के साथ ही उन्होंने आदर्श शास्त्र के बारे मे भी विचार व्यक्त किए है। उनकी दृष्टि में वीतराग भाव के पोषक शास्त्र ही पठन-पाठन के योग्य है। वे लिखते हैं :–

"जातै जीव संसार विषै नाना दु:खनि करि पीडित है, सो शास्त्र-रूपी दीपक करि मोक्षमार्गकौ पावै तौ उस मार्ग विषै आप गमन करि उन दु खनितै मुक्त होय। सो मोक्षमार्ग एक वीतराग भाव है, तातै जिन शास्त्रनि विषै काहू प्रकार राग-द्वेष-मोह भावनि का निषेध करि वीतराग भाव का प्रयोजन प्रगट किया होय तिनिही शास्त्रनि का वांचना सुनना उचित है। बहुरि जिन शास्त्रनि विषै शृंगार भोग कोतूहलादिक पोषि राग भाव का अर हिंसा-युद्धादिक पोषि द्वेष भाव का अर अतत्त्व श्रद्धान पोषि मोह भाव का प्रयोजन प्रगट किया होय

[1] मो० मा० प्र०, ४०२–४०३

ते शास्त्र नाही शस्त्र है। जातै जिन राग-द्वेष-मोह भावनि करि जीव अनादितै दु खी भया तिनकी वासना जीव कै बिना सिखाई ही थी। बहुरि इन शास्त्रनि करि तिनही का पोषण किया, भले होने की कहा शिक्षा दीनी। जीव का स्वभाव घात ही किया तातै ऐसे शास्त्रनि का वॉचना सुनना उचित नाही है। इहॉ वॉचना सुनना जैसे कह्या तैसै ही जोड़ना सीखना सिखावना लिखना लिखावना आदि कार्य भी उपलक्षण करि जान लेने। ऐसै साक्षात् वा परम्परा करि वीतराग भाव कौ पोषै ऐसे शास्त्र ही का अभ्यास करने योग्य है[१]।"

जिनमे वस्तु स्वरूप का सच्चा वर्णन हो, जो वीतराग भाव के पोषक हो, जो आत्म-शान्ति का मार्ग दिखाते हो, जिनमे व्यर्थ की राग-द्वेषवर्द्धक बाते न हों, जिनसे सच्चा सुख प्राप्त करने का प्रयोजन सिद्ध होता हो, वे ऐसे शास्त्रो के पढने-पढाने की प्रेरणा देते है।

अप्रयोजनभूत शास्त्रो के पढने के पडितजी विरोधी नही है क्योकि उनके जानने से तत्त्वज्ञान विशेष निर्मल होता है और वे भी आगामी रागादि भाव के घटाने वाले है, पर उनकी शर्त यह है कि वे राग-द्वेष के पोषक न हो। शास्त्रो के इस कथन का कि 'प्रयोजनभूत थोडा जानना ही कार्यकारी है' – आशय स्पष्ट करते हुए वे कहते है कि यह कथन उस व्यक्ति की अपेक्षा है जिसमे बुद्धि कम है और जिसके पास समय कम है। यदि कोई शक्तिसम्पन्न है, वह बहुशास्त्रविद् भी हो सकता है। बहुशास्त्रज्ञता प्रयोजनभूत ज्ञान को अधिक स्पष्ट और विशद् करती है[२]। वे स्वय बहुशास्त्रविद् थे[३]। इस सम्बन्ध मे उनके विचार एकदम स्पष्ट है :–

"सामान्य जाननेतै विशेष जानना बलवान् है। ज्यौ-ज्यौ विशेष जानै त्यौ-त्यौ वस्तु स्वभाव निर्मल भासै, श्रद्धान दृढ होय, रागादि घटै, तातै तिस अभ्यास विषै प्रवर्त्तना योग्य है[४]।"

---

[१] मो० मा० प्र०, २१–२२

[२] वही, २९७

[३] देखिए प्रस्तुत ग्रन्थ, ६२–६३

[४] मो० मा० प्र०, ४३२

"बहुरि व्याकरण न्यायादिक शास्त्र है, तिनका भी थोरा-बहुत अभ्यास करना। जातै इनिका ज्ञान बिना बड़े शास्त्रनिका अर्थ भासै नाही। बहुरि वस्तु का भी स्वरूप इनकी पद्धति जाने जैसा भासै, तैसा भाषादिक करि भासै नाही। तातै परम्परा कार्यकारी जान इनका भी अभ्यास करना। परन्तु इनही विषै फसि न जाना। किछू इनका अभ्यास करि प्रयोजनभूत शास्त्रनि का अभ्यास विषै प्रवर्त्तना। बहुरि वैद्यकादि शास्त्र है, तिनतै मोक्षमार्ग विषै किछू प्रयोजन ही नाही। तातै कोई व्यवहारधर्म का अभिप्रायतै बिना खेद इनिका अभ्यास हो जाय तौ उपकारादि करना, पाप रूप न प्रवर्त्तना। अर इनका अभ्यास न होय तौ मति होहु, बिगार किछू नाही[1]।"

सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका की पीठिका मे चतुर और मूर्ख किसान का उदाहरण देकर उन्होने अपने विचारो को स्पष्ट किया है। उन्होने लिखा है :—

"जैसे स्याना खितहर अपनी शक्ति अनुसारि हलादिकतै थोडा बहुत खेत को सवारि समय विषै बीज बोवे तो ताकौ फल की प्राप्ति होई। तैसे तू भी जो अपनी शक्ति अनुसारि व्याकरणादिक के अभ्यास तै थौरी-बहुत बुद्धि को सवारि यावत् मनुष्य पर्याय वा इंद्रियनि की प्रबलता इत्यादिक प्रवर्ते है तावत् समय विषै तत्त्वज्ञान को कारण जे शास्त्र तिनिका अभ्यास करेगा तो तुझको सम्यक्तादि की प्राप्ति हो सकेगी। बहुरि जैसे अयाना खितहर हलादिकतै खेत को सवारता-सवारता ही समय को खोवे, तो ताकौ फल प्राप्ति होने की नाही, वृथा ही खेद-खिन्न भया। तैसे तूँ भी जो व्याकरणादिकतै बुद्धि को सवारता-सवारता ही समय खोवेगा तो सम्यक्त्वदिक की प्राप्ति होने की नाही। वृथा ही खेद-खिन्न भया। बहुरि इस काल विषै आयु बुद्धि आदि स्तोक है तातै प्रयोजन मात्र अभ्यास करना, शास्त्रनि का तो पार है नाही[2]।"

---

[1] मो० मा० प्र०, ४३२–३३

[2] स० च० पी०, १३

मोक्षमार्ग प्रकाशक उनका आदर्श शास्त्र है । उनका शास्त्र लिखने का उद्देश्य उस समय के मदज्ञान वाले जीवों का भला करना था। इसीलिए उन्होने धर्मबुद्धि से भाषामय ग्रथ की रचना की है। वे लिखते है कि यदि कोई इससे लाभ नही उठाता है तो इनकी कृति का कोई दोष नही है, बल्कि लाभ न लेने वाले का अभाग्य है। जैसे एक दरिद्री चिन्तामणि को देखकर भी नही देखना चाहता और कोढी उपलब्ध अमृत का पान नही करता तो इसमे दोष दरिद्री और कोढी का ही है, चिन्तामणि और अमृत का नही[1] ।

मोक्षमार्ग प्रकाशक की उन्होने दीपक से तुलना की है। ससार को भयकर अटवी बताते हुए वे लिखते है कि इसमे अज्ञान-अधकार व्याप्त हो रहा है, अत. जीव इससे बाहर निकलने का रास्ता प्राप्त नही कर पाते है और तडफ-तडफ कर दु ख भोगते रहते है। उनके भले के लिए तीर्थकर केवली भगवानरूपी सूर्य का प्रकाश होता है। जब सूर्यास्त हो जाता है तो प्रकाश के लिए दीपको की आवश्यकता होती है। अत जब केवलीरूपी सूर्य अस्त हो गया तो ग्रन्थरूपी दीपक जलाये गए। जैसे दीपको से दीपक जलाने की परम्परा चलती रहती है, उसी प्रकार ग्रंथो से ग्रथनिर्माण की परम्परा चलती रही। उसी परम्परा मे यह मोक्षमार्ग प्रकाशक भी मुक्ति के मार्ग पर प्रकाश डालने वाला एक दीपक है[2] । यद्यपि मार्ग पर कितना ही प्रकाश क्यो न हो, पर आँख वाले को ही दिखाई देता है, अन्धे को नही, तथापि अन्धे को दिखाई नही देने से प्रकाश अन्धकार नही हो जाता, प्रकाश तो प्रकाश ही रहता है। वे कहते है कि यदि किसी को मोक्षमार्ग दिखाई न दे तो मोक्षमार्ग प्रकाशक के प्रकाशकत्व मे कोई अन्तर नही आता। उन्ही के शब्दो मे –

"बहुरि जैसे प्रकाशै भी नेत्र रहित वा नेत्र विकार सहित पुरुष है तिनिकूँ मार्ग सूझता नाही तौ दीपककै तौ मार्गप्रकाशकपने का

---

[1] मो० मा० प्र०, २९-३०

[2] वही, २८

अभाव भया नाही, तैसे प्रगट किए भी जै मनुष्य ज्ञानरहित है वा मिथ्यात्वादि विकार सहित है तिनकूँ मोक्षमार्ग सूझता नाही, तौ ग्रन्थकै तौ मोक्षमार्ग प्रकाशकपने का अभाव भया नाहीं[1]।

वीतराग-विज्ञान (सम्यक्भाव)

पडित टोडरमल ने मंगलाचरण मे पचपरमेष्ठी को नमस्कार करने के पूर्व 'वीतराग-विज्ञान' को नमस्कार किया क्योकि पंचपरमेष्ठी बनने का उपाय वीतराग-विज्ञान ही है। वीतराग-विज्ञान केवल विज्ञान ही नही है, वह आत्मविज्ञान भी है, इसीसे मगलमय और मंगलकरण है[2]। मंगलकरण इसलिए क्योकि वह स्वयं मंगलस्वरूप है तथा जो स्वय मगलमय हो, वही मगलकरण हो सकता है। पचपरमेष्ठी पद इसी वीतराग-विज्ञान के परिणाम है।

पडित टोडरमल के लिए मोक्षमार्ग मात्र ज्ञान नही वरन् आत्मविज्ञान है, जिसे वे वीतराग-विज्ञान कहते है। चूकि आत्मा अमूर्त है, निराकार है, ज्ञानदर्शन स्वरूप है, अत उसका वैज्ञानिक (भौतिक) विश्लेषण सम्भव नही है। वैज्ञानिक विश्लेषण के लिए जिस वैज्ञानिक प्रक्रिया की जरूरत होती है, उसमे किसी भी मान्यता या सिद्धान्त को तब तक सिद्ध नही माना जाता, जब तक वह तथ्यो की प्रायोगिक विधि से सिद्ध नही हो जाता। फिर भी किसी पदार्थ की सिद्धि के लिए कोई न कोई सिद्धान्त की कल्पना करनी ही पडती है। जैन दर्शन का स्थापित सिद्धान्त है कि ससार मे जड़ और चेतन ये दो मुख्य तत्त्व है। वह दोनो की अनन्तता मे विश्वास करता है। अनादिकाल से चेतन और जड (कर्म) संयोगरूप से सम्बन्धित है। कर्मोदय मे जीव के रागादि विकार भाव होते है और उन भावों से नवीन कर्म बन्ध होता है।

---

[1] मो० मा० प्र०, २८-२९

[2] मगलमय मगलकरण, वीतराग विज्ञान।
नमौ ताहि जातै भये, अरहतादि महान ॥
—मो० मा० प्र०, १

इस प्रकार अनादिचक्र चल रहा है । इसी का नाम ससार है। शरीर सहित आत्मा ही वीतराग-विज्ञान की प्रयोगशाला है। शरीरादि जड पदार्थो की उपस्थिति मे ही चेतन तत्त्व की अनुभूति वीतराग-विज्ञान का मूल लक्ष्य है। अत इसे भेद-विज्ञान भी कहा गया है। भेद-विज्ञान अर्थात् जड़ और चेतन की भिन्नता का ज्ञान। यद्यपि आत्मा का वैज्ञानिक (भौतिक) विश्लेषण तो सभव नही तथापि उसकी अनुभूति संभव है, इसी अर्थ मे वह विज्ञान है। उसका आधार वीतरागता है क्योकि आत्मानुभूति वीतराग भाव से ही सभव है, अत. वह वीतराग-विज्ञान है। पंडित टोडरमल ने मोक्षमार्ग मे वीतरागता को सर्वोच्च प्राथमिकता दी है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनो की परिभाषा करते हुए उन्होने निष्कर्ष रूप मे वीतरागता को प्रमुख स्थान दिया है। बहुत विस्तृत विश्लेषण करने के बाद वे लिखते है –

"तातै बहुत कहा कहिए, जैसै रागादि मिटावनेका श्रद्धान होय सो ही श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। बहुरि जैसै रागादि मिटावनेका जानना होय सो ही जानना सम्यग्ज्ञान है। वहुरि जैसै रागादि मिटै सो ही आचरण सम्यक्चारित्र है। ऐसा ही मोक्षमार्ग मानना योग्य है[1]।"

रागादि भाव के अभाव का नाम ही वीतराग भाव है। वीतराग भाव राग-द्वेष के अभावरूप आत्मा की वास्तविक स्थिति है। उसका विज्ञान ही वीतराग-विज्ञान है। वीतराग-विज्ञान ही निज भाव है, वह ही मोक्षमार्ग है, और वह मिथ्यात्व के अभाव से प्रगट होता है। यदि वीतराग-विज्ञान के प्रकाश से वीतराग-विज्ञानरूप निज भाव की प्राप्ति हो जाये तो सम्पूर्ण दु खो का अभाव सहज ही हो जाता है।

मिथ्याभाव

इस आत्मा के समस्त दु खो का कारण एक मिथ्याभाव (मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र) ही है। यही ससाररूपी वृक्ष की जड है। इसका नाश किए बिना आत्मानुभूति प्राप्त नही हो

---

[1] मो० मा० प्र०, ३१३

सकती है। इस मिथ्यात्व भाव की पुष्टि कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्र के सयोग से होती रहती है[1]।

यही कारण है कि पडित टोडरमल ने मिथ्याभावो और उनके कारणों का विस्तृत वर्णन किया है। उन्हे उन्होने दो भागो मे विभाजित किया है, अगृहीत और गृहीत। मिथ्याभाव तीन प्रकार के होते है। मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र। इस प्रकार ये कुल मिलाकर छह हुए। इन्हे यो रखा जा सकता है :-

एक तरीका यह भी हो सकता है :-
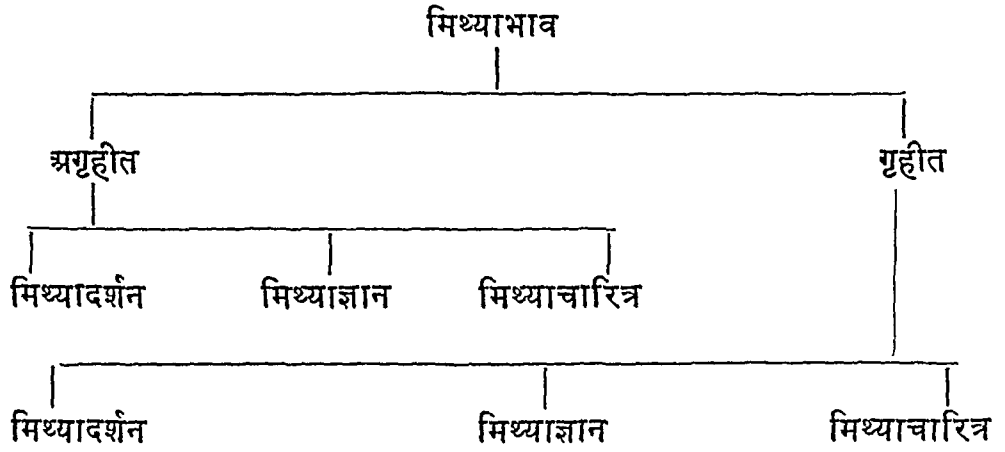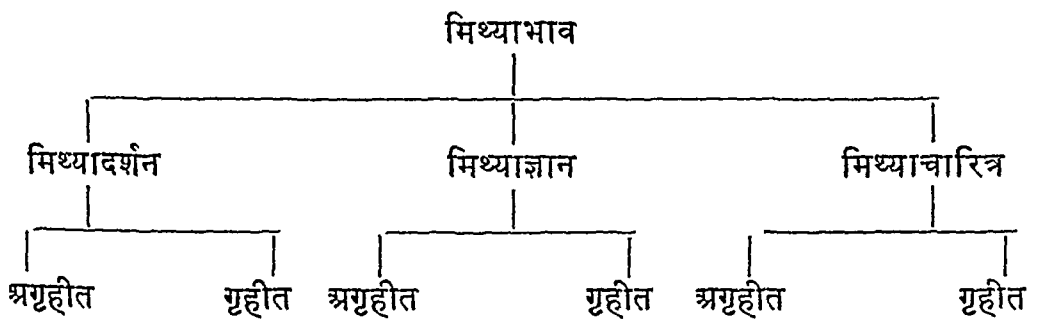
[1] मो० मा० प्र०

(क) इस भव के सब दु खनिके, कारण मिथ्या भाव। पृ० १०६

(ख) इस भवतरु का मूल इक, जानहु मिथ्या भाव। पृ० २८३

(ग) मिथ्या देवादिक भजे, हो है मिथ्या भाव।
तज तिनकौ साचे भजौ, यह हित हेतु उपाव ॥ पृ० २४७

अगृहीत मिथ्याभाव अनादि है। ये जीव ने ग्रहण नही किए है, इनका अस्तित्व दूध मे घी के समान उसके अस्तित्व से ही जुडा हुआ है। इनसे कर्म बन्धन होता है और बन्धन ही दु ख है। अगृहीत मिथ्यात्व जीव की विवशता है, परन्तु गृहीत मिथ्यात्व वह है जिसे जीव स्वय स्वीकारता है और उसमे कारण (निमित्त) पडते है – कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्र। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का सही स्वरूप न समझ पाने के कारण ही यह गलत मार्ग अपना लेता है। इसलिए उन्होने इनका विस्तृत वर्णन किया है।

वे किसी व्यक्ति विशेष को कुदेव, कुगुरु या कुधर्म नही कहते वरन् अदेव मे देवबुद्धि, अगुरु मे गुरुबुद्धि एव अधर्म मे धर्मबुद्धि – कुदेव, कुगुरु और कुधर्म है। उन्होने कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र और कुधर्म की आलोचना करते हुए मात्र जैनेतर दर्शनो की ही नही वरन् जैन दर्शन व उसके अन्तर्गत आनेवाले भेद-प्रभेदो मे उत्पन्न विकृतियो की समान रूप से आलोचना की है। जैनेतर दर्शनो पर सक्षिप्त मे सामान्य रूप से विचार करने के उपरान्त जैन दर्शन मे विशेषकर दिगम्बर जैनियो (वे स्वय दिगम्बर जैन थे) मे समागत विकृतियो की विस्तृत समीक्षा उन्होने की।

जैनेतर दर्शनो मे उन्होने सर्वव्यापी अद्वैत ब्रह्म, सृष्टि कर्त्तृत्ववाद, मायावाद, अवतारवाद, भक्तियोग, ज्ञानयोग, साख्य, नैयायिक, वैशेषिक, मीमासक, जैमिनी, बौद्ध, चार्वाक, मुस्लिम मत, एव इनके ही अन्तर्गत ब्रह्म से कुल प्रवृत्ति, यज्ञ मे पशुहिसा, पवनादि साधन द्वारा ज्ञानी होना, आदि विषयो पर विचार किया है। श्वेताम्बर जैन मत को भी उन्होने अन्य मत विचार वाले अधिकार मे रखा है तथा उसके सम्बन्ध मे विचार करते हुए ढूंढक मत पर भी अपने विचार व्यक्त किए है। अन्य मत-मतान्तरो के अतिरिक्त लोक-प्रचलित सूर्य, चन्द्र, ग्रह, गौ, सर्प, भूत-प्रेत-व्यन्तर, एव स्थानीय गणगौर, साझी, चौथि, शीतला, दिहाडी, तथा मुस्लिमो मे प्रचलित पीर-पैगम्वर आदि तथा शस्त्र, अग्नि, जल, वृक्ष, रोडी आदि की उपासना पर भी अपने तर्कसगत विचार प्रस्तुत किए है।

इस प्रकार उन्होने उस समय सम्पूर्ण भारतवर्ष मे प्रचलित मत-मतान्तर एव उपासना-पद्धतियो पर अपने विचार प्रस्तुत किए है। इससे प्रतीत होता है कि वे मात्र स्वप्नलोक मे विचरण करने वाले दार्शनिक न थे वरन् देश-काल की परिस्थितियो से पूर्ण परिचित थे और उन सब के बारे मे उन्होने विचार किया था।

उन्होने गुरुओ के सम्बन्ध मे विचार करते हुए कुल अपेक्षा, पट्ट अपेक्षा, भेष अपेक्षा आदि से अपने को गुरु मानने वालों की भी आलोचना की है। इसके बाद वे जैनियों मे विद्यमान सूक्ष्म मिथ्याभाव का वर्णन करते हैं। वे लिखते है :–

"जे जीव जैनी है, जिन आज्ञाकौ मानै है अर तिनकै भी मिथ्यात्व रहै है ताका वर्णन कीजिए है – जातै इस मिथ्यात्व वैरी का अंश भी बुरा है, तातै सूक्ष्म मिथ्यात्व भी त्यागने योग्य है[1]।"

विविध मत समीक्षा करते समय या जैनियो मे समागत विकृतियों की आलोचना करते समय वे अपने वीतराग भाव को नही भूलते है। इसमे उनका उद्देश्य किसी को दु:ख पहुचाना नही है और न वे द्वेष भाव से ऐसा करते है, किन्तु करुणा भाव से ही यह सब किया है। जहाँ वे द्वेषपूर्वक कुछ कहना पसन्द नही करते है, वहाँ उन्हे भय के कारण सत्य छिपाना भी स्वीकार नही है। वे निर्भय हैं, पर शान्त। वे अपनी स्थिति इस प्रकार स्पष्ट करते है :–

"जो हम कषाय करि निन्दा करै वा औरनिकौ दु:ख उपजावै तौ हम पापी ही है। अन्य मत के श्रद्धानादिक करि जीवनिकै अतत्त्वश्रद्धान दृढ होय, तातै ससारविषै जीव दु:खी होय, तातै करुणा भाव करि यथार्थ निरूपण किया है। कोई बिना दोष ही दु:ख पावै, विरोध उपजावै तौ हम कहा करै। जैसै मदिरा की निन्दा करतै कलाल दु:ख पावै, कुशील की निन्दा करतै वैश्यादिक दु:ख पावै, खोटा-खरा पहिचानने की परीक्षा बतावतै ठग दु:ख पावै तौ कहा

[1] मो०मा० प्र०, २८३

करिए। ऐसै जो पापीनिके भयकरि धर्मोपदेश न दीजिए तौ जीवनिका भला कैसै होय ? ऐसा तौ कोई उपदेश है नाही, जाकरि सर्व ही चैन पावै। बहुरि वह विरोध उपजावै, सौ विरोध तौ परस्पर हो है। हम लरै नाही, वे आप ही उपशान्त होय जायेगे। हमकौ तौ हमारे परिणामो का फल होगा[1]।"

उनकी दृष्टि मे एक वीतराग भाव ही परम धर्म है और वही अहिसा है। अत. राग भाव की पोषक और हिसामूलक क्रियाओ को उन्होने कुधर्म कहा है। धर्म के नाम पर फैले आडम्बर और शिथिलाचार का उन्होने डट कर विरोध किया है। शैथिल्य के वर्णन मे तत्कालीन समाज मे धर्म के नाम पर चलने वाली प्रवृत्तियो का चित्र उपस्थित होता है :-

"बहुरि व्रतादिक करिकै तहाँ हिसादिक वा विषयादिक बधावै है। सौ व्रतादिक तौ तिनकौ घटावने के अर्थि कीजिए है। बहुरि जहाँ अन्न का तौ त्याग करै अर कदमूलादिकनि का भक्षण करै, तहाँ हिसा विशेष भई – स्वादादिक विषय विशेष भए। बहुरि दिवस विषै तौ भोजन करै नाही, अर रात्रि विषै करै। सौ प्रत्यक्ष दिवस भौजनतै रात्रि भौजन विषै हिसा विशैष भासै, प्रमाद विशेष होय। बहुरि व्रतादिक करि नाना शृगार बनावै, कुतूहल करै, जूवा आदिरूप प्रवर्तै, इत्यादि पापक्रिया करै। बहुरि व्रतादिक का फल लौकिक इष्ट की प्राप्ति, अनिष्ट का नाशकौ चाहै, तहाँ कषायनि की तीव्रता विशेष भई। ऐसै व्रतादिक करि धर्म मानै है, सौ कुधर्म है।

बहुरि भक्त्यादि कार्यनिविषै हिसादिक पाप बधावै, वा गीत नृत्यगानादिक वा इष्ट भोजनादिक वा अन्य सामग्रीनि करि विषयनिकौ पौषै, कुतूहल प्रमादादिरूप प्रवर्तै। तहाँ पाप तौ बहुत उपजावै अर धर्मका किछू साधन नाही, तहाँ धर्म मानै सो सब कुधर्म है[2]।"

---

[1] मो० मा० प्र०, २०२

[2] वही, २७८–७९

वे सती होना, काशीकरोत लेना आदि आत्मघाती प्रवृत्तियो का धर्म के नाम पर होना धर्म के लिए कलक मानते थे और उस सामन्त युग मे उन्होने उनका डट कर विरोध किया। उन्होने निर्भय होकर उनके विरुद्ध आवाज उठाई, उन्हे कुधर्म घोषित किया। उन्होने यह सब कुछ अपने जीवन की बाजी लगा कर किया। उनके निम्नलिखित शब्दो मे क्रान्ति का शखनाद है :–

"बहुरि केई इस लोक विषै दु.ख सह्या न जाय या परलोक विषै इष्ट की इच्छा वा अपनी पूजा बढावने के अर्थि वा कोई क्रोधादिककरि अपघात करै। जैसै पतिवियोगतै अग्नि विषै जलकरि सती कुहावे है वा हिमालय गलै है, काशीकरोत ले है, जीवित मारी ले है, इत्यादि कार्यकरि धर्म मानै है। सो अपघातका तौ बडा पाप है। शरीरादिकतै अनुराग घट्या था, तौ तपश्चरणादि किया होता। मरि जाने मे कौन धर्म का अग भया। तातै अपघात करना कुधर्म है। ऐसै ही अन्य भी घने कुधर्मके अग है। कहाँ ताई कहिए, जहाँ विषय कषाय बधै अर धर्म मानिए, सौ सर्व कुधर्म जानने[1]।"

उनका निष्कर्ष है – 'जहाँ विषय-कषाय बढ़े और धर्म माने वह कुधर्म है', क्योकि विषय-कषायरूप प्रवृत्ति तो अधर्म है और अधर्म मे धर्मबुद्धि वह कुधर्म है। वस्तुत विषय-कषाय भाव स्वय मे कुधर्म नही है, वे तो अधर्म रूप है, उन्हें धर्म मानना कुधर्म है। इस प्रकार उक्त मान्यता ही कुधर्म रूप है। इसी प्रकार रागी-द्वेषी व्यक्ति कुदेव नही है क्योकि वह तो अदेव (देव नही) है, उसे देव मानना कुदेव है, अतः मान्यता ही कुदेव है, कोई व्यक्ति विशेष नही। ऐसे ही शास्त्र और गुरु के सम्बन्ध मे भी समझना चाहिए।

धर्म विषय-कषाय के अभावरूप है। धर्म की इसी कसौटी पर वे तत्कालीन जैन समाज मे प्रचलित धार्मिक क्रियाकाण्डो को कसते है। जैनेतरो की आलोचना से भी कठोर आलोचना वे जैनियो की करते दिखाई देते है। धर्म के नाम पर चलने वाला पोपडम

---

[1] मो० मा० प्र०, २७९

उन्हे बिलकुल स्वीकार नही। वे उस पर कस कर प्रहार करते है। उनके ही शब्दो मे :–

"देखो काल का दोष, जैनधर्म विषै भी कुधर्म की प्रवृत्ति भई। जैनमत विषै जे धर्मपर्व कहे है, तहाँ तौ विषय-कषाय छोरि सयमरूप प्रवर्त्तना योग्य है। ताकौ तौ आदरै नाही अर व्रतादिक का नाम धराय तहाँ नाना शृगार बनावै वा गरिष्ठ भोजनादि करै वा कुतूहलादि करै वा कषाय बधावने के कार्य करै, जूवा इत्यादि महापापरूप प्रवर्त्तै[1]।"

"बहुरि जिन मदिर तौ धर्मका ठिकाना है। तहाँ नाना कुकथा करनी, सोवना इत्यादिक प्रमाद रूप प्रवर्त्तै वा तहाँ बाग बाडी इत्यादि बनाय विषय-कषाय पोषै। बहुरि लोभी पुरुषनिकौ गुरु मानि दानादिक दे वा तिनकी असत्य-स्तुतिकरि महतपनौ मानै, इत्यादि प्रकार करि विषय-कषायनिकौ तौ बधावै अर धर्म मानै। सौ जिनधर्म तौ वीतराग भावरूप है। तिस विषै ऐसी प्रवृत्ति कालदोषतै ही देखिए है[2]।"

उक्त कथन मे तत्कालीन धार्मिक समाज मे व्याप्त शिथिलाचरण का चित्र आ गया है। लेखक का वह रूप भी सामने आया है, जो उसके जीवन मे कूट-कूट कर भरा था। उसने यहाँ स्पष्ट घोषणा कर दी है कि – जैन धर्म तो वीतराग भाव का नाम है, उसमे राग-रग को कोई स्थान प्राप्त नही है।

सूक्ष्मातिसूक्ष्म मिथ्याभाव

जैनियो में पाये जाने वाले सूक्ष्मातिसूक्ष्म मिथ्याभाव को उन्होने दो रूपो मे रखा है –

(१) निश्चय और व्यवहार को न समझ पाने के कारण होने वाला।

(२) चारो अनुयोगो की पद्धति को सही रूप मे न समझ पाने के कारण होने वाला।

---

[1] मो० मा० प्र०, २७९–८०

[2] वही, २८०

इनका विस्तृत वर्णन उन्होने मोक्षमार्ग प्रकाशक के सातवे-आठवे अधिकार मे क्रमश किया है। सातवे अधिकार मे लेखक भवरूपी तरु का मूल एक मात्र मिथ्याभाव को बताता है। इस मिथ्यात्व का एक अंश भी बुरा है, अत स्थूल मिथ्यात्व की तरह सूक्ष्म मिथ्यात्व भी त्यागने योग्य है। स्थूल मिथ्याभाव का वर्णन पिछले अध्यायो मे किया जा चुका है। इस अध्याय मे सूक्ष्म मिथ्यात्व का विवेचन है। सूक्ष्म मिथ्याभाव से पडितजी का आशय उन अन्तरग व वाह्य जैन आचार-विचारो से है जो तात्त्विक दृष्टि से विचाराभास है।

पंडितजी के अनुसार जैनधर्म विशुद्ध आत्मवादी है। उसकी कथनशैली मे यथार्थ कथन को निश्चय और उपचारित कथन को व्यवहार कहा है। व्यवहार निश्चय का साधन है, साध्य नही। व्यवहार नय की अपनी अपेक्षाएँ और सीमाएँ है। उन सीमाओ को नही पहिचान पाने से भ्रम उत्पन्न हो जाते है। जैन दर्शन का प्रत्येक वाक्य स्याद्वाद-प्रणाली के अन्तर्गत कहा जाता है। उसके अपने अलग सन्दर्भ और परिप्रेक्ष्य होते है। वह कथन किस परिप्रेक्ष्य और सदर्भ में हुआ है, इसे समझे बिना उसका मर्म नही समझा जा सकता है, उल्टा गलत आशय ग्रहण कर लेने से लाभ के स्थान पर हानि की सम्भावना अधिक रहती है।

पंडित टोडरमल ने जैन शास्त्रों के कथनो को उनके सही सन्दर्भ मे देखने का आग्रह किया है और कई उदाहरण प्रस्तुत करके यह स्पष्ट करने का सफल प्रयास किया है कि किस वाक्य का किस प्रकार गलत अर्थ समझ लिया जाता है और उसका वास्तविक अर्थ क्या होता है। प्रत्येक कथन एक निश्चित प्रयोजन लिए होता है। उस प्रयोजन को लक्ष्य मे रखे बिना उसका अर्थ निकालने का प्रयास यदि किया जायगा तो सत्य स्थिति हमारे सामने स्पष्ट नही हो पायगी, किन्तु सन्देह उत्पन्न हो जावेगे। उक्त तथ्यो को स्पष्ट करने के लिए पडितजी द्वारा प्रस्तुत कुछ अश उदाहरणार्थ नीचे दिये जाते है :—

"केई जीव निश्चयकौ न जानते निश्चयाभास के श्रद्धानी होई आपकौ मोक्षमार्गी मानै है। अपने आत्मा कौ सिद्ध समान अनुभवै है। सो आप प्रत्यक्ष ससारी है। भ्रमकरि आपकौ सिद्ध मानै सोई मिथ्यादृष्टि है। शास्त्रनिविषै जो सिद्ध समान आत्माकौ कह्या है, सो द्रव्यदृष्टि करि कह्या है, पर्याय अपेक्षा समान नाही है। जैसे राजा अर रक मनुष्यपने की अपेक्षा समान है, राजापना और रंकपना की अपेक्षा तो समान नाही। तैसे सिद्ध अर ससारी जीवत्वपनेकी अपेक्षा समान है, सिद्धपना ससारीपना की अपेक्षा तौ समान नाही। यहु जैसै सिद्ध शुद्ध है, तैसे ही आपको शुद्ध मानै। सो शुद्ध-अशुद्ध अवस्था पर्याय है। इस पर्याय अपेक्षा समानता मानिए, सो यहु मिथ्यादृष्टि है।

बहुरि आपकै केवलज्ञानादिकका सद्भाव मानै, सो आपकै तौ क्षयोपशमरूप मतिश्रुतादि ज्ञान का सद्भाव है। क्षायिकभाव तौ कर्म्म का क्षय भए होइ है। यह भ्रमतै कर्म्मका क्षय भए बिना ही क्षायिकभाव मानै। सो यहु मिथ्यादृष्टि है। शास्त्रविषै सर्वजीवनि का केवलज्ञान स्वभाव कह्या है, सो शक्ति अपेक्षा कह्या है। सर्व जीवनिविषै केवलज्ञानादिरूप होने की शक्ति है। वर्तमान व्यक्तता तौ व्यक्त भए ही कहिए[1]।"

उक्त कथन को अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होने लिखा है कि जल का स्वभाव शीतल है, किन्तु अग्नि के सयोग से वर्तमान मे वह गर्म है। यदि कोई व्यक्ति जल का शीतल स्वभाव कथन सुन कर गर्म खौलता हुआ पानी पी लेवे तो जले बिना नही रहेगा। उसी प्रकार आत्मा का स्वभाव तो केवलज्ञान अर्थात् पूर्णज्ञान स्वभावी है, किन्तु वर्तमान मे तो वह अल्पज्ञानरूप ही परिणमित हो रहा है। यदि कोई उसे वर्तमान पर्याय में भी केवलज्ञानरूप मान ले तो अपेक्षा और सन्दर्भ का सही ज्ञान न होने से भ्रम मे ही रहेगा।

---

[1] मो० मा० प्र०, २८३-२८४

इसी प्रकार शास्त्रो मे तप को निर्जरा का कारण कहा है और अनशनादि को तप कहा है । व्यवहाराभासी जीव अनशन आदि तपो का सही स्वरूप तो जानता नही है और अपनी कल्पनानुसार उपवासादि करके तप मान लेता है । इस बात को पडितजी ने इस प्रकार स्पष्ट किया है –

"बहुरि यहु अनशनादि तपतै निर्जरा मानै है । सो केवल बाह्य तप ही तौ किए निर्जरा होय नाही । बाह्यतप तौ शुद्धोपयोग बधावनै के अर्थि कीजिए है । शुद्धोपयोग निर्जराका कारण है । तातै उपचार करि तपकौ भी निर्जरा का कारण कह्या है । जो बाह्य दु ख सहना ही निर्जरा का कारण होय, तौ तिर्यचादि भी भूख तृषादि सहै है[1] ।"

"शास्त्रविषै 'इच्छानिरोधस्तप' ऐसा कह्या है । इच्छा का रोकना ताका नाम तप है । सो शुभ-अशुभ इच्छा मिटै उपयोग शुद्ध होय, तहाँ निर्जरा हो है । तातै तपकरि निर्जरा कही है[2] ।"

"यहाँ प्रश्न – जो ऐसै है तो अनशनादिककौ तप संज्ञा कैसे भई ? ताका समाधान – इनिकौ बाह्यतप कहै है । सो बाह्य का अर्थ यहु है जो बाह्य औरनिकौ दीसै यहु तपस्वी है । बहुरि आप तो फल जैसा अतरग परिणाम होगा, तैसा ही पावेगा । जातै परिणामशून्य शरीर की क्रिया फलदाता नाहीं[3] ।"

"यहाँ कहेगा – जो ऐसै है तो हम उपवासादि न करैगे ?

ताकौ कहिए है – उपदेश तौ ऊँचा चढनेकौ दीजिए है । तू उलटा नीचा पडेगा, तौ हम कहा करैगे । जो तू मानादिकतै उपवासादि करै है, तौ करि वा मति करै; किछू सिद्धि नाही । अर जो धर्मबुद्धितै आहारादिकका अनुराग छौडे है, तौ जैता राग छूट्या तैता ही छूट्या । परन्तु इसहीकौ तप जानि इसतै निर्जरामानि सन्तुष्ट मति होहु[4] ।"

---

[1] मो० मा० प्र०, ३३७

[2] वही, ३३८

[3] वही, ३३९

[4] वही, ३४०

सूक्ष्म मिथ्याभावो का विश्लेषण करते समय लेखक ने सर्वत्र सन्तुलन बनाए रखा है। जहाँ उन्होने अज्ञानपूर्वक किये जाने वाले व्रत तप आदि को बालव्रत और बालतप कहा है, वही उन्होने स्वच्छद होने का भी निषेध किया है। इस सम्बन्ध मे उन्होने अपनी स्थिति इस प्रकार स्पष्ट की है –

"जाकौ स्वच्छन्द होता जानै, ताकौ जैसै वह स्वच्छन्द न होय, तैसै उपदेश दे। बहुरि अध्यात्मग्रथनि विषै भी स्वच्छन्द होने का जहाँ-तहाँ निषेध कीजिए है। तातै जो नीके तिनकौ सुनै तो स्वच्छन्द होता नाही। अर एक बात सुनि अपने अभिप्रायतै कोऊ स्वच्छन्द होय, तौ ग्रन्थ का तौ दोष है नाही, उस जीव ही का दोष है[1]।"

इसी नीति के अनुसार उन्होने सर्वत्र सावधानी रखी है। इस सत्य का ज्ञान कराना भी जरूरी है कि बिना आत्मज्ञान के करोडो प्रयत्न करने पर भी आत्मोपलब्धि होना सम्भव नही है, और यह भी कि सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के उपरान्त वीतरागी चारित्र से ही दु खो से पूर्ण मुक्ति होगी।

उनकी मूल समस्या यह है कि अधिकाश जैन वस्तु के मर्म को तो जानते नही है, शास्त्रो का कुछ अश यहाँ-वहाँ से पढ कर अपने मन की कल्पना के अनुसार अविवेकपूर्वक धार्मिक क्रियाएँ करने लगते है और अपने को धर्मात्मा मान कर सन्तुष्ट हो जाते है। इस तरह के लोगो का चित्रण उन्होने इस प्रकार किया है –

"बहुरि सर्वप्रकार धर्मकौ न जाने, ऐसा जीव कोई धर्म का अगकौ मुख्यकरि अन्य धर्मनिकौ गौण करे है। जैसै केई जीव दयाधर्मकौ मुख्यकरि पूजा प्रभावनादि कार्यकौ उथापै है, केई पूजा प्रभावनादि धर्मकौ मुख्य करि हिंसादिक का भय न राखै है, केई तप की मुख्यताकरि आर्त्तध्यानादि करिकै भी उपवासादि करै वा आपकौ तपस्वी मानि नि शक क्रोधादि करै है। केई दान की मुख्यता करि बहुत पाप करिकै भी धन उपजाय दान दे है, केई आरम्भ

[1] मो० मा० प्र०, ४२६-३०

त्याग की मुख्यताकरि याचना आदि करै है। केई जीव हिंसा मुख्य करि स्नान शौचादि नाही करै है। वा लौकिक कार्य आए धर्म छोडि तहाँ लगि जाय है। इत्यादि प्रकार करि कोई धर्मकौ मुख्यकरि अन्य धर्मकौ न गिने है। वा वाके आसरे पाप आचरै है। सो जैसे अविवेकी व्यापारी कोई व्यापार के नफे के अर्थि अन्य प्रकारकरि बहुत टोटा पाडै तैसै यहु कार्य भया। चाहिये तो ऐसै, जैसै व्यापारी का प्रयोजन नफा है, सर्व विचारकरि जैसे नफा घना होय तैसै करै। तैसै ज्ञानी का प्रयोजन वीतरागभाव है। सर्व विचारकरि जैसे वीतरागभाव घना होय तैसै करै। जातै मूलधर्म वीतरागभाव है। याही प्रकार अविवेकी जीव अन्यथा धर्म अगीकार करै है, तिनकै तो सम्यक्चारित्र का आभास भी न होय[1]।"

उनके सामने इस प्रकार का जैन समाज था, जिसे उन्हें मोक्षमार्ग बताना था। अत उन्होने अपने तत्त्व विवेचन मे सर्वत्र सन्तुलन बनाए रखा और प्रत्येक धार्मिक क्रियाकाण्ड को आध्यात्मिक लाभ-हानि की कसौटी पर कसा तथा जो खरा उतरा उसे स्वीकार किया और जो खोटा दिखा उसका डट कर विरोध किया।

इच्छाएँ

उक्त मिथ्याभावो से इच्छाओ और आकाक्षाओ की उत्पत्ति होती है। ससार के समस्त प्राणी इनकी पूर्ति के प्रयत्न मे निरन्तर आकुल-व्याकुल रहते है और इनकी पूर्ति मे सुख की कल्पना करते है। किन्तु पडितजी इच्छा और आकाक्षाओ की पूर्ति मे सुख की कल्पना न करके इच्छा के अभाव (उत्पन्न ही न होना) मे सुख मानते है। वे इच्छाओ मे कोई इस प्रकार का भेद नही करते कि यह ठीक है और यह बुरी। उनका तो स्पष्ट कहना है कि इच्छा चाहे जिसकी हो, वह होगी दु खरूप ही। इच्छाओ की पूर्ति करने की दिशा मे किया गया पुरुषार्थ ही गलत पुरुषार्थ है। प्रयत्न ऐसा होना चाहिए कि इच्छाएँ उत्पन्न ही न हो। उन्होने तीन प्रकार की इच्छाओ की

---

[1] मो० मा० प्र०, ३५४-३५५

चर्चा की है – विषय, कषाय, और पाप का उदय । इनका विश्लेषण वे इस प्रकार करते है –

"दु ख का लक्षण आकुलता है सो आकुलता इच्छा होतै हो है । सोई ससारी जीव कै इच्छा अनेक प्रकार पाइये है । एक तौ इच्छा विषयग्रहण की है सो देख्या जाना चाहै । जैसै वर्ण देखने की, राग सुननेकी, अव्यक्तकौ जानने इत्यादि की इच्छा हो है । सो तहाँ अन्य किछू पीडा नाही परन्तु यावत् देखै जानै नाही तावत् महाव्याकुल होइ । इस इच्छा का नाम विषय है । वहुरि एक इच्छा कषाय भावनिके अनुसारि कार्य करने की है सो कार्य किया चाहै । जैसे बुरा करने की, हीन करने की इत्यादि इच्छा हो है । सो इहाँ भी अन्य कोई पीडा नाही । परन्तु यावत् वह कार्य न होइ तावत् महाव्याकुल होय । इस इच्छा का नाम कषाय है । बहुरि एक इच्छा पापके उदयतै शरीरविषै या बाह्य अनिष्ट कारण मिलै तव उनके दूरि करने की हो है । जैसै रोग पीडा क्षुधा आदि का सयोग भए उनके दूर करने की इच्छा हो है सो इहाँ यहु ही पीडा मानै है । यावत् वह दूरि न होइ तावत् महाव्याकुल रहै । इस इच्छा का नाम पाप का उदय है । ऐसै इन तीन प्रकार की इच्छा होतै सर्व ही दु ख मानै है सो दु ख ही है[1] ।"

इन तीन इच्छाओ के अतिरिक्त उन्होने एक चौथी इच्छा और मानी है और उसका नाम दिया है पुण्य का उदय । इसकी व्याख्या उन्होने इस प्रकार दी है –

"बहुरि एक इच्छा बाह्य निमित्ततै बनै है सौ इन तीन प्रकार इच्छानि के अनुसारि प्रवर्त्तने की इच्छा हो है । सो तीन प्रकार इच्छानिविषै एक-एक प्रकार की इच्छा अनेक प्रकार है । तहाँ केई प्रकार की इच्छा पूरण करने का कारण पुण्य उदयतै मिलै । तिनिका साधन युगपत् होइ सकै नाही । तातै एककौ छोरि अन्यकौ लागै, आगै भी वाकौ छोरि अन्यकौ लागै । ऐसै ही अनेक कार्यनि

---

[1] मो० मा० प्र०, १००–१०१

की प्रवृत्ति विषै इच्छा हो है सो इस इच्छा का नाम पुण्य का उदय है। याकौ जगत सुख मानै है सो सुख है नाही, दु ख ही है[1]।"

इच्छाओ का उक्त वर्गीकरण उनका मौलिक है। इसके पूर्व इच्छाओ का इस प्रकार का वर्गीकरण अन्यत्र देखने मे नही आया।

यद्यपि उक्त सभी इच्छाओ को वे दु खरूप ही मानते है तथापि कषाय नामक इच्छा से उत्पन्न दु:खावस्था का उन्होने विस्तार से वर्णन किया है। उसमे होने वाले मरण पर्यन्त कष्ट का बारीकी से उल्लेख करने के उपरान्त वे निष्कर्ष इस प्रकार देते है –

"तहाँ मरण पर्यन्त कष्ट तौ कबूल करिए है अर क्रोधादिक की पीडा सहनी कबूल न करिए है। तातै यह निश्चय भया जो मरणादिकतै भी कषायनि की पीडा अधिक है। बहुरि जब याकै कषाय का उदय होइ तब कषाय किए बिना रह्या जाता नाही। बाह्य कषायनि के कारण आय मिलै तौ उनके आश्रय कषाय करै। न मिलै तो आप कारण बनावै। जैसै व्यापारादि कषायनिका कारण न होइ तौ जुआ खेलना वा अन्य क्रोधादिक के कारण अनेक ख्याल खेलना वा दुष्ट कथा कहनी सुननी इत्यादि कारण बनावै है[2]।"

इसी प्रकार कामवासना, जिसकी पूर्ति को जगत सुखरूप मानता है, वे उसे महा दु खरूप सिद्ध करते हुए लिखते है :–

"तिसकरि अति व्याकुल हौ है। आताप उपजै है। निर्लज्ज हौ है, धन खर्चै है। अपजसकौ न गिनै है। परम्परा दु ख होइ वा दडादिक होय ताकौ न गिनै है। काम पीडातै बाउला हो है। मरि जाय है। सो रसग्रथनि विषै काम की दश दशा कही है। तहाँ बाउला होना, मरण होना लिख्या है। वैद्यक शास्त्रनि मे ज्वर के भेदनि विषै कामज्वर मरण का कारण लिख्या है। प्रत्यक्ष काम करि मरण पर्यन्त होते देखिए है। कामाधकै किछू विचार रहता नाही।

---

[1] मो० मा० प्र०, १०१

[2] वही, ७९–८०

पिता पुत्री वा मनुष्य तिर्यचणी इत्यादितै रमने लगि जाय है। ऐसी काम की पीडा महा दु:खरूप है[१] ।"

सक्षेप मे पडित टोडरमल के विचार परम्परागत विचार ही है, किन्तु उनमे उनका मौलिक चिन्तन सर्वत्र प्रतिफलित हुआ है। किसी भी वस्तु को वे आगम, अनुभव और तर्क की कसौटी पर कस कर ही स्वीकार करते है। मात्र परम्परागत होने से वे उसे स्वीकार करने को तैयार नही है। यद्यपि आर्षवाक्यो को उन्होने सर्वत्र आगे रखा तथापि तर्को द्वारा उन्हे तरासा भी, जिससे उनमे एक नवीनता व चमक आ गई है। उन्होने अपने प्रतिपाद्य को अनुभव करने के बाद पाठको के सामने प्रस्तुत किया है, अत' उनके प्रतिपादन मे वजन है।

पंचम अध्याय

गद्य शैली

गद्य शैली

पंडित टोडरमल की प्रतिपादन शैली दृष्टान्तमयी प्रश्नोत्तर शैली है। जैसाकि कहा जा चुका है कि उनका लेखन कार्य प्राचीन आगम-ग्रथो की टीका से आरभ हुआ लेकिन उसी मे से उनके चिन्तक का विकास हुआ। परम्परागत विषय होते हुए भी उन्होने अपनी लेखन शैली का स्वय निर्माण किया और अपने अनुभवपूर्ण चिन्तन को ऐसी शैली मे रखने का सकल्प किया जो सरल, दृष्टान्तमयी और लोक सुगम हो। 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' नाम मे उनकी शैली की झलक मिल जाती है। जहाँ तक प्रतिपाद्य विषय का सम्बन्ध है, इसे हम मोक्षशास्त्र कह सकते है अर्थात् ससार से मुक्ति का शास्त्र। लेकिन उन्होंने इसे मोक्षशास्त्र न कह कर 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' कहा। जैन तत्त्वज्ञान की दृष्टि से मोक्षमार्ग पर प्रकाश डालनेवाले कई ग्रंथ है, परन्तु इसे 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' कहने मे लेखक का अभिप्राय यह बताना है कि उसके विचार से सही मोक्षमार्ग क्या है ? खासकर उन परिस्थितियो के सन्दर्भ मे जिनमे उसे इसे प्रकाशित करना है।

लेखक अपनी सीमा, अपने पाठक समाज की बौद्धिक क्षमता और विषय की निस्सीमता से परिचित है। इसलिए वह ऐसी शैली को चुनता है जो एकदम शास्त्रीय न हो, जो आध्यात्मिक सिद्धियो और चमत्कारो से मुक्त हो, वह ऐसी शैली हो जिसमे एक सामान्य जन दूसरे सामान्य जन से बात करता है, उसी आत्मीय शैली को वे स्वीकार करते है। वक्ता के जो गुण और धर्म बताये गए है, वे प्रकारान्तर से मोक्षमार्ग प्रकाशक मे स्वीकृत लेखन शैली के गुण धर्म है। अत· यह कहा जा सकता है कि वे जिस शैली को आदर्श मानते है, वह उनकी स्वय की निर्मित शैली है। यदि शैली मनुष्य के चरित्र की अभिव्यक्ति का प्रतीक हो तो हम इस शैली से पडित टोडरमल के चितक का चरित्र और स्वभाव अच्छी तरह परख

सकते है। आध्यात्मिक विपय के प्रतिपादन मे स्वीकार की गई शैली मे व्यक्तित्व का ऐसा मुखरित रूप वहुत कम आध्यात्मिक लेखको मे मिलता है।

पडितजी की उक्त शैली मे दृष्टान्तो का प्रयोग मणि-काचन प्रयोग है। एक ही मूल बात के प्रतिपादन के लिए कभी वे एक दृष्टान्त को दूर तक चलाते चले जाते है और दृष्टान्त सागरूपक की सीमाओ को भी लॉघ जाता है। कभी वे एक ही जगह कई दृष्टान्तो का प्रयोग करते है। ये दृष्टान्त लोक प्रसिद्ध और जाने माने होते है। इनके चयन मे गद्यकार टोडरमल का सूक्ष्म वस्तु निरीक्षण प्रतिफलित होता है। उदाहरण के लिए हम यहाँ उनके एक गद्यखण्ड पर विचार करेंगे। इस गद्यखण्ड का मुख्य प्रतिपाद्य है कि मतिज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से होता है – दोनो मे निमित्त-नैमित्तिक सम्वन्ध है। यहाँ निमित्त का अर्थ है कारण (वाह्य कारण) और नैमित्तिक का अर्थ होता है कार्य। प्रश्न है – जीव पदार्थो का ज्ञान कैसे करता है? यहाँ जानना कार्य है और ज्ञाता है जीव, लेकिन वह इन्द्रिय और मन की सहायता से ज्ञान करता है, इसलिए ये निमित्त कारण है। जीव तात्त्विक दृष्टि से ज्ञानस्वरूप है किन्तु वर्तमान मे शरीरवद्ध है, अत उसके ज्ञान मे उसकी अगभूत इन्द्रियाँ और मन निमित्त है। इस तथ्य को समझाने के लिए वे निम्नलिखित दृष्टान्त शैली अपनाते है –

"जैसै जाकी दृष्टि मन्द होय सौ अपने नेत्रकरि ही देखै है परन्तु चसमा दीए ही देखै। बिना चसमै के देखि सकै नाही। तैसै आत्मा का ज्ञान मद है सो अपने ज्ञान ही करि जानै है परन्तु द्रव्यइन्द्रिय वा मन का सम्बन्ध भए ही जानै, तिनि बिना जानि सकै नाही। बहुरि जैसै नेत्र तौ जैसा का तैसा है अर चसमाविषै किछु दोप भया होय तौ देखि सकै नाही, अथवा थोरा दीसै अथवा और का और दीसै, तैसै अपना क्षयोपशम तौ जैसा का तैसा है अर द्रव्यइन्द्रिय वा मन के परमाणु अन्यथा परिणमे होय तौ जानि सकै नाही, अथवा थोरा जानै अथवा और का और जानै। जातै द्रव्यइन्द्रिय वा मनरूप परमाणुनिका परिणमनकै अर मतिज्ञानकै निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है

सो उनका परिणमनकै अनुसारि ज्ञान का परिणमन होय है। ताका उदाहरण –

"जैसै मनुष्यादिककै बाल वृद्ध अवस्थाविषै द्रव्यइन्द्रिय वा मन शिथिल होय तब जानपना भी शिथिल होय। बहुरि जैसै शीत वायु आदि के निमित्ततै स्पर्शनादि इन्द्रियनि के वा मन के परमाणु अन्यथा होय तब जानना न होय वा थोरा जानना होय वा अन्यथा जानना होय। बहुरि इस ज्ञानकै अर बाह्य द्रव्यनिकै भी निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध पाइये है। ताका उदाहरण.–

"जैसै नेत्र इन्द्रियकै अधकार के परमाणु वा फूला आदिक के परमाणु वा पापाणादिक के परमाणु आदि आड़े आ जाएँ तौ देखि न सकै। बहुरि लाल काँच आड़ा आवै तौ सब लाल ही दीसै, हरित काँच आड़ा आवै तौ हरित ही दीसै, ऐसै अन्यथा जानना होय। बहुरि दूरबीन चसमा इत्यादि आडा आवै तौ बहुत दीसने लगि जाय। प्रकाश, जल, हिलव्वी कॉच इत्यादिक के परमाणु आडै आवै तौ भी जैसा का तैसा दीखै। ऐसै अन्य इन्द्रिय वा मनकै भी यथासभव निमित्त-नैमित्तिकपना जानना[१]।"

उक्त गद्यांश मे सिर्फ नेत्र इन्द्रिय के विषय को चश्मा, दूरबीन, अंधकार, फूला, पाषाण, प्रकाश, जल, हिलव्वी कॉच आदि के उदाहरणो से स्पष्ट किया है तथा इसमे भी चश्मे का कॉच लाल, हरा, मैला आदि विश्लेषण द्वारा भी विषय की गहराई तक पहुँचाने का यत्न किया है। साथ ही यह निर्देश भी दिया है कि जितना सागोपाग विश्लेषण लेखक ने नेत्र इन्द्रिय सम्बन्धी किया है, पाठक का कर्त्तव्य है कि वह बाकी चार इन्द्रियों और मन का भी इसी तरह विश्लेषण करके प्रतिपाद्य को समझने का यत्न करे।

इसी प्रकार सूक्ष्म विचारो को समझाने के लिए उन्होने लौकिक उदाहरणो का सफल प्रयोग किया है। क्षयोपशम ज्ञान द्वारा एक समय मे एक ही वस्तु को जाना जा सकता है, अनेक को नही। इस विपय को वे इस प्रकार स्पष्ट करते है –

---

[१] मो० मा० प्र०, ४८–४९

"बहुरि क्षयोपशमतै शक्ति तौ ऐसी बनी रहै अर परिणमन करि एक जीव कै एक काल विषै एक विषय ही का देखना व जानना हो है। इस परिणमन ही का नाम उपयोग है।......सो ऐसे ही देखिए है। जब सुनने विषै उपयोग लग्या होय तब नेत्रनिके समीप तिष्ठता भी पदार्थ न दीसै, ऐसै ही अन्य प्रवृत्ति देखिए है। बहुरि परिणमन विषै शीघ्रता बहुत है ताकरि काहू काल विषै ऐसा मानिए है कि अनेक विषयनि का युगपत् जानना वा देखना हो है, सो युगपत् होता नाही, क्रम ही करि हो है। सस्कार बलतै तिनिका साधन रहै है। जैसै कागले कै नेत्र के दोय गोलक है, पूतरी एक है सो फिरै शीघ्र है ताकरि दोऊ गोलकनि का साधन करै है, तैसै ही इस जीव कै द्वार तौ अनेक है अर उपयोग एक है सो फिरै शीघ्र है ताकरि सर्व द्वारनिका साधन रहै है[१]।"

उपयोग चाहे कही रहे, अपने पर या दूसरे पर, यदि वह राग-द्वेष की उत्पत्ति का कारण नही बनता, तो कोई हानि नही। इस बात को वे इस प्रकार स्पष्ट करते है –

"बहुरि वह कहै ऐसै है, तौ परद्रव्य तै छुडाय स्वरूप विषै उपयोग लगावने का उपदेश काहैकौ दिया है ?

ताका समाधान – जो शुभ-अशुभ भावनिकौ कारण परद्रव्य है, तिन विषै उपयोग लगै जिनकै राग-द्वेष होई आवै है, अर स्वरूप चितवन करै तौ राग-द्वेष घटै है, ऐसै नीचली अवस्थावारे जीवनिकौ पूर्वोक्त उपदेश है। जैसै कोऊ स्त्री विकार भाव करि काहू के घर जाय थी, ताकौ मनै करी–पर घर मति जाय, घर मै बैठि रहौ। बहुरि जो स्त्री निर्विकार भावकरि काहू के घर जाय यथायोग्य प्रवर्त्तै तौ किछू दोष है नाही। तैसै उपयोगरूप परणति राग-द्वेष भावकरि परद्रव्यनि विषै प्रवर्त्तै थी, ताकौ मनै करी – परद्रव्यनि विषै मति प्रवर्त्तै, स्वरूपविषै मग्न रहौ। बहुरि जो उपयोगरूप परणति वीतराग भाव करि परद्रव्यकौ जानि यथायोग्य प्रवर्त्तै, तो किछू दोष है नाही।"

---

[१] मो० मा० प्र०, ५२

बहुरि वह कहै है – ऐसै है, तौ महामुनि परिग्रहादिक चितवन का त्याग काहेकौ करै है।

ताका समाधान – जैसै विकार रहित स्त्री कुशील के कारण परघरनि का त्याग करै, तैसै वीतराग परणति राग-द्वेष कै कारण परद्रव्यनि का त्याग करै है। बहुरि जे व्यभिचार के कारण नाही, ऐसे पर घर जाने का त्याग है नाही। तैसै जे राग-द्वेषकौ कारण नाही, ऐसे परद्रव्य जानने का त्याग है नाही।

बहुरि वह कहै है – जैसै जो स्त्री प्रयोजन जानि पितादिक के घरि जाय तौ जावो, बिना प्रयोजन जिस-तिस के घर जाना तो योग्य नाही। तैसै परणतिकौ प्रयोजन जानि सप्त तत्त्वनि का विचार करना। बिना प्रयोजन गुणस्थानादिक का विचार करना योग्य नाही।

ताका समाधान – जैसै स्त्री प्रयोजन जानि पितादिक वा मित्रादिक के भी घर जाय तैसै परणति तत्त्वनि का विशेष जानने के कारण गुणस्थानादिक वा कर्म्मादिक कौ भी जानै। बहुरि तहाँ ऐसा जानना – जैसै शीलवती स्त्री उद्यम करि तौ विट पुरुषनि के स्थान न जाय, जो परवश तहाँ जाना बनि जाय, तहाँ कुशील न सेवै तौ स्त्री शीलवती ही है। तैसै वीतराग परणति उपाय करि तौ रागादिक के कारण परद्रव्यनि विषैं न लागै, जो स्वयमेव तिनका जानना होय जाय, तहाँ रागादिक न करै तौ परणति शुद्ध ही है। तातै स्त्री आदि की परीषह मुनिनकै होय, तिनिकौ जानै ही नाही, अपने स्वरूप ही का जानना रहै है, ऐसा मानना मिथ्या है। उनको जानै तौ है, परन्तु रागादिक नाही करै है। या प्रकार परद्रव्यकौ जानतै भी वीतराग भाव हो है, ऐसा श्रद्धान करना[1]।"

उक्त गद्यखण्ड मे स्त्री का परघर जाना सम्बन्धी उदाहरण यद्यपि बहुत लम्बा है, पर प्रत्येक पक्ति मे विषय क्रमबद्ध स्पष्ट होता चला गया है और निष्कर्ष स्पष्ट हो गया है।

---

[1] मो० मा० प्र०, ३१०–३१२

विषय का विस्तार से वर्णन करने के बाद वे उसका अंत मे समाहार कर देते है जिससे विषय स्पष्ट हो जाय । क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति आदि कपायो का एव उनके वेग मे होने वाली जीव की अवस्था का विस्तृत वर्णन करने के उपरान्त वे उनका इस प्रकार साराश देते है –

"क्रोधविषै तौ अन्य का बुरा करना, मानविषै औरनिकूँ नीचा करि आप ऊँचा होना, मायाविषै छलकरि कार्य सिद्धि करना, लोभ विषै इष्ट का पावना, हास्यविषै विकसित होने का कारण वन्या रहना, रतिविषै इष्ट सयोग का वना रहना, अरतिविषै अनिष्ट सयोग का दूर होना, शोकविषै शोक का कारण मिटना, भयविषै भय का कारण मिटना, जुगुप्सा विषै जुगुप्सा का कारण दूरि होना, पुरुषवेद विषै स्त्रीस्यों रमना, स्त्रीवेद विषै पुरुपस्यो रमना, नपुसकवेदविषै दोऊनिस्यो रमना, ऐसै प्रयोजन पाइए है[1] ।"

विषय को स्पष्ट करने के लिए स्वयं शकाएँ उठा-उठा कर उनका समाधान प्रस्तुत करना उनकी शैली की अपनी विशेषता है । वे विषय प्रतिपादन इस ढग से करते है कि पूर्वप्रश्न के समाधान मे अगला प्रश्न स्वय उभर आता है । पढते-पढते पाठक के मस्तिष्क मे जो प्रश्न उठता है वह उसे अगली पंक्ति मे लिखा पाता है । इस प्रकार विषय का विश्लेषण क्रमबद्ध होता चला जाता है । वे किसी भी विषय को तब तक नही छोडते है जब तक कि उसका मर्म सामने न आ जाय । प्रथमानुयोग के अध्ययन का निषेध करने वाले को लक्ष्य करके वे लिखते है –

"केई जीव कहै है – प्रथमानुयोग विषै शृगारादिक का वा सग्रामादिक का बहुत कथन करै, तिनके निमित्ततै रागादिक बधि जाय, तातै ऐसा कथन न करना था । ऐसा कथन सुनना नाही । ताकौ कहिए है – कथा कहनी होय तव तौ सर्व ही अवस्था का कथन किया चाहिए । बहुरि जो अलकारादि करि बधाय कथन करै है सौ पडितनिके वचन युक्ति लिए ही निकसै ।

[1] मो० मा० प्र०, ८०

अर जो तू कहेगा, सम्बन्ध मिलावनेकौ सामान्य कथन किया होता, बधायकरि कथन काहेकौ किया ?

ताका उत्तर यहु है – जो परोक्ष कथनकौ बधाय कहे बिना वाका स्वरूप भासै नाही। बहुरि पहलै तौ भोग सग्रामादि ऐसै किए, पीछै सर्वका त्यागकरि मुनि भए, इत्यादि चमत्कार तबही भासै जब बधाय कथन कीजिए। बहुरि तू कहै है, निमित्ततै रागादिक बधि जाय। सो जैसै कोऊ चैत्यालय बनावै, सो वाका तौ प्रयोजन तहाँ धर्म कार्य करावने का है। अर कोई पापी तहाँ पापकार्य करै, तौ चैत्यालय बनावने वाले का तौ दोष नाही। तैसै श्रीगुरु पुराणादिविषै शृगारादि वर्णन किए, तहाँ उनका प्रयोजन रागादिक करावने का तो है नाही, धर्मविषै लगावने का प्रयोजन है। अर कोई पापी धर्म न करै अर रागादिक ही वधावै, तौ श्रीगुरु का कहा दोप है ?

बहुरि जो तू कहै – जो रागादिकका निमित्त होय, सो कथन ही न करना था।

ताका उत्तर यहु है – सरागी जीवनि का मन केवल वैराग्य कथन विषै लागै नाही। तातै जैसै बालककौ पतासा के आश्रय औषधि दीजिए, तैसै सरागीकौ भोगादि कथन के आश्रय धर्मविषै रुचि कराइए है।

वहुरि तू कहैगा – ऐसै है तौ विरागी पुरुषनिकौ तो ऐसे ग्रथनिका अभ्यास करना युक्त नाही।

ताका उत्तर यहु है – जिनकै अन्तरग विषै रागभाव नाही, तिनके शृगारादि कथन सुनै रागादि उपजै ही नाही। यहु जानै ऐसै ही यहाँ कथन करने की पद्धति है।

बहुरि तू कहैगा – जिनकै शृगारादि कथन सुनै रागादि होय आवै, तिनकौ तौ वैसा कथन सुनना योग्य नाही।

ताका उत्तर यहु है – जहाँ धर्म ही का तौ प्रयोजन अर जहाँ-तहाँ धर्मको पोषै ऐसे जैन पुराणादिक तिनविषै प्रसग पाय शृंगारादिक का कथन किया, ताकौ सुनै भी जो बहुत रागी भया तौ वह अन्यत्र कहाँ

विरागी होसी, पुराण सुनना छोडि और कार्य भी ऐसा ही करेगा जहाँ बहुत रागादि होय। तातैं वाकैं भी पुराण सुने थोरी बहुत धर्मबुद्धि होय तौ होय। और कार्यनितैं यहु कार्य भला ही है।

बहुरि कोई कहै – प्रथमानुयोग विषै अन्य जीवनि की कहानी है, तातैं अपना कहा प्रयोजन सधै है ?

ताकौ कहिए है – जैसैं कामीपुरुषनि की कथा सुनैं आपकैं भी काम का प्रेम वधै है, तैसैं धर्मात्मा पुरुषनिकी कथा सुनैं आपकै धर्मकी प्रीति विशेष हो है। तातैं प्रथमानुयोग का अभ्यास करना योग्य है[1]।"

उनका मोक्षमार्ग प्रकाशक आध्यात्मिक चिकित्सा शास्त्र है। इसमे उन्होने आध्यात्मिक रोग मोह-राग-द्वेष की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि एवं फल का निदान किया है तथा उसे दूर करने की चिकित्सा पद्धति का वर्णन किया है। आध्यात्मिक विकारो से वचने के उपाय का नाम ही मोक्षमार्ग है, और इस ग्रथ मे उसी पर प्रकाश डाला गया है। उन्होने इस पूरे ग्रंथ मे वैद्य का रूपक बाँधा है। यहाँ लेखक स्वय वैद्य है। किसी रोगी की चिकित्सा करने मे जो पद्धति एक चतुर वैद्य अपनाता है, वही शैली लेखक ने इस ग्रथ मे अपनाई है। उन्होंने लिखा है –

"तहाँ जैसे वैद्य है सौ रोगसहित मनुष्यकौ प्रथम तौ रोग का निदान बतावै, ऐसैं यहु रोग भया है। बहुरि उस रोग के निमित्ततैं याकै जो-जो अवस्था होती होय सो बतावै, ताकरि वाकै निश्चय होय जो मेरे ऐसैं ही रोग है। बहुरि तिस रोग के दूरि करने का उपाय अनेक प्रकार बतावै अर तिस उपाय की ताकौ प्रतीति अनावै। इतना तौ वैद्य का बतावना है। बहुरि जो वह रोगी ताका साधन करै तो रोगतैं मुक्त होई अपना स्वभावरूप प्रवर्तै। सो यहु रोगी का कर्त्तव्य है। तैसैं ही इहाँ कर्मबन्धन युक्त जीवकौ प्रथम तो कर्मबन्धन का निदान बताइए है, ऐसैं यहु कर्मबन्धन भया है। बहुरि उस कर्म-बन्धन के निमित्ततैं याकै जो-जो अवस्था होती होय सो-सो बताइए है।

---

[1] मो० मा० प्र०, ४२४–४२६

ताकरि जीवकै निश्चय होय जो मेरे ऐसै ही कर्मबन्धन है। बहुरि तिस कर्मबन्धन के दूरि होने का उपाय अनेक प्रकार बताइए है अर तिस उपाय की याकौ प्रतीति अनाइये है, इतना तौ शास्त्र का उपदेश है। बहुरि यहु जीव ताका साधन करै तो कर्मबन्धनतै मुक्त होय अपना स्वभावरूप प्रवर्त्तै, सो यहु जीव का कर्त्तव्य है। सो इहाँ प्रथम ही कर्मबन्धन का निदान बताइये है[1]।"

"बहुरि जैसै वैद्य है सो रोग का निदान अर ताकी अवस्था का वर्णन करि रोगी कौ रोग का निश्चय कराय पीछै तिसका इलाज करने की रुचि करावै है, तैसै यहाँ ससार का निदान वा ताकी अवस्था का वर्णन करि ससारीकौ ससार रोग का निश्चय कराय अब तिनिका उपाय करने की रुचि कराईए है। जैसै रोगी रोगतै दु खी होय रह्या है परन्तु ताका मूल कारण जानै नाही, साँचा उपाय जानै नाही अर दु:ख भी सह्या जाय नाही। तब आपकौ भासै सो ही उपाय करै तातै दु ख दूरि होय नाही। तब तडफि-तडफि परवश हुवा तिन दु:खनिकौं सहै है परन्तु ताका मूल कारण जानै नाही। याकौ वैद्य दु:ख का मूल कारण बतावै, दु खका स्वरूप बतावै, याके किये उपायनिकूँ झूँठ दिखावै तब साँचे उपाय करने की रुचि होय। तैसैही यह ससारी ससारतै दु खी होय रह्या है परन्तु ताका मूल कारण जानै नाही, अर साँचा उपाय जानै नाही अर दु:ख भी सह्या जाय नाही। तब आपकौ भासै सो ही उपाय करै तातै दु:ख दूरि होय नाही। तब तड़फि-तडफि परवश हुवा तिन दु:खनिकौ सहै है। याकौ यहाँ दु:खका मूल कारण बताइए है, दु:खका स्वरूप बताइए है अर तिन उपायनिकूँ झूँठे दिखाइए तौ साँचे उपाय करने की रुचि होय, तातै यह वर्णन इहाँ करिये है[2]।"

पंडितजी अपने विचार पाठक या श्रोता पर लादना पसंद नहीं करते है। जैसे वैद्य रोगी को अपने विश्वास में लेता है, उससे पूछता है

---

[1] मो० मा० प्र०, ३१–३२

[2] वही, ६५–६६

कि मैने जो स्थिति तुम्हारे रोग की बताई, क्या तुम अनुभव करते हो कि वह सत्य है ? रोगी के स्वीकारात्मक उत्तर देने पर व सतोष प्रगट करने पर उसे अपने द्वारा बताई गई चिकित्सा करने की सलाह देता है। उसी प्रकार पडितजी भी अपने पाठक से पूछते हैं –

"हे भव्य ! हे भाई ! जो तोकूँ ससार के दु ख दिखाए, ते तुझ विषै बीतै है कि नाही सो विचारि। अर तू उपाय करै है ते झूठे दिखाए सो ऐसै ही है कि नाही सो विचारि। अर सिद्धपद पाए सुख होय कि नाही सो विचारि। जो तेरै प्रतीति जैसै कही है तैसै ही आवै तौ तूँ ससारतै छूटि सिद्धपद पावने का हम उपाय कहै है सो करि, विलम्ब मति करै। इह उपाय किए तेरा कल्याण होगा[1] ।"

यहाँ वे मात्र पूछते ही नही प्रत्युत सलाह भी देते है कि देर मत कर, उपाय शीघ्र कर, रोग खतरनाक है और समय थोडा। जिस-जिस प्रकार वैद्य कुपथ्य सेवन न करने के लिए सावधान करता है और साथ ही यह भी बताता है कि क्या-क्या कुपथ्य है, वैसे ही लेखक ने अनेक प्रकार के कुपथ्यो का वर्णन कर उनसे बचने के प्रति सावधान भी किया है। इस प्रकार 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' रूपक के रूप मे लिखा गया है। औषधि सम्बन्धी उदाहरणो का बहुत और बारीकी से प्रयोग ग्रन्थ मे यत्र-तत्र मिलता है। इससे मालूम होता है कि लेखक को औषधि-विज्ञान एव चिकित्सा-पद्धति का भी पर्याप्त ज्ञान और अनुभव था।

उनकी शैली मे समुचित तर्कों को सर्वत्र यथायोग्य स्थान प्राप्त है। वे किसी बात को मात्र कह देने मे विश्वास नही करते हैं किन्तु वे उसे तर्क की कसौटी पर कसते है। वे स्वय भी कोई बात बिना तर्क की कसौटी पर कसे स्वीकार नही करते। वे जिनाज्ञा को भी बिना परीक्षा किए मानने को तैयार नही। वे स्पष्ट करते हैं –

"तातै परीक्षा करि जिन वचननिकौ सत्यपनो पहिचानि

---

[1] मो० मा० प्र०, १०८

जिन आज्ञा माननी योग्य है। बिना परीक्षा किए सत्य असत्य का निर्णय कैसै होय[1]।"

वे परीक्षा प्रधानी व्यक्ति थे। यही कारण है कि उनकी शैली मे तर्क-वितर्क को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। वे बहुत सी शास्त्रीय गुत्थियाँ अपने अनुभूतिमूलक तर्कों से सुलझाते है। इस आर्ष वाक्य का कि 'तप आदि का क्लेश करौ तो करौ, ज्ञान बिना सिद्धि नही' – उत्तर देते हुए वे कहते है कि उक्त कथन उनके लिए है जो बिना तत्त्वज्ञान के केवल तप को ही मोक्ष का कारण मान लेते है। तत्वज्ञान-पूर्वक तप करने के विरोध का तो प्रश्न ही नही है, अपनी शक्ति अनुसार तप करना अच्छा ही है। बिना समझे और शक्ति के प्रतिज्ञा लेने के वे विरुद्ध है, पर वे यह भी पसद नही करते कि लोग शक्ति और समझ का बहाना बना कर या प्रतिज्ञा भग होने के भय का बहाना बना कर स्वच्छन्द प्रवृत्ति करे। वे यह भी नही चाहते कि लोग प्रतिज्ञा ले ले, फिर भग कर दे, उसे खेल बना ले। ऐसे उलझन भरे प्रसंगों मे वे बहुत ही सतुलित दृष्टिकोण अपनाते है एवं वस्तुस्थिति स्पष्ट करने के लिए बड़े ही मनोवैज्ञानिक तर्क व उदाहरण प्रस्तुत करते है। इस सम्बन्ध मे उनका कहना है कि अपनी निर्वाह-क्षमता को देख कर प्रतिज्ञा लेनी चाहिए, किन्तु इस भय से प्रतिज्ञा न लेना कि टूट जायगी तो पाप लगेगा वैसा ही है, जैसा यह सोच कर भोजन नही करना कि भोजन करने से कही अजीर्ण न हो जाय। ऐसा सोचने वाला मृत्यु को ही प्राप्त होगा। वे दूसरा तर्क देते है – यद्यपि कार्य प्रारब्ध के अनुसार ही होता है, फिर भी लौकिक कार्यो में मनुष्य बराबर प्रयत्न करता है, उसी प्रकार यहाँ भी उद्यम करना चाहिए। तीसरे तर्क मे उसे निरुत्तर करते हुए कहते है कि जब तेरी दशा प्रतिमावत् हो जायगी तब हम प्रारब्ध ही मानेगे। वे निष्कर्ष देते है:–

"तातै काहेकौ स्वच्छन्द होने की युक्ति बनावै है। बनै सौ प्रतिज्ञा करि व्रत धारना योग्य ही है[2]।"

---

[1] मो० मा० प्र०, ३१६

[2] वही, ३००

गद्य शैली मे पडितजी के व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप है। वे अपने अदम्य विश्वास एव प्रखर पाण्डित्य के साथ सर्वत्र प्रतिबिबित हैं। समाधानकर्त्ता भी वे ही है और शकाकार भी; पर समाधानकर्त्ता सर्वत्र उत्तम पुरुष मे विद्यमान है जबकि शकाकार कही मध्यम पुरुष और अन्य पुरुष भी हो जाता है। 'इहाँ प्रश्न' के रूप मे जहाँ वह उत्तम पुरुष मे व्यक्त हुआ है वही 'तू कहे' या 'तुम कहो' में मध्यम पुरुष एव 'कोई कहे' में अन्य पुरुष के रूप में आता है। शकाकार विनयशील है, पर है मुखर। समाधानकर्त्ता का व्यक्तित्व सर्वत्र दबग है। कही वह करुणा से द्रवित होकर मृदुल सम्बोधन करने लगता है तो कही शिष्य की वाचालता पर उसे फटकार भी देता है। एक अच्छे अध्यापक के सर्व गुण पूर्ण रूप से उसमे विद्यमान है। नीचे उसके विभिन्न रूपो की कुछ झाँकियाँ प्रस्तुत है :-

(१) "हे भव्य ! हे भाई ! जो तोकूँ ससार के दुःख दिखाए, वे तुझ विषै बीतै है कि नाही सो विचारि।......तौ तूँ संसारतै छूटि सिद्धपद पावने का हम उपाय कहै हैं सो करि, विलम्ब मति करै। इह उपाय किए तेरा कल्याण होगा[1]।"

(२) "अर तत्त्व निर्णय न करने विषै कोई कर्म का दोष है नाही, तेरा ही दोष है। अर तू आप तो महन्त रह्या चाहै अर अपना दोष कर्मादिककै लगावै, सो जिन आज्ञा माने तो ऐसी अनीति संभवै नाही। तोकौ विषयकषायरूप ही रहना है, तातै झूँठ बोलै हैं। मोक्ष की साँची अभिलाषा होय तौ ऐसी युक्ति काहेकौ बनावै। सांसारिक कार्यनि विषै अपना पुरुषार्थतै सिद्धि न होती जानै तौ भी पुरुषार्थ करि उद्यम किया करै, यहाँ पुरुषार्थ खोय बैठै[2]।"

(३) "बहुरि हम पूछै है – व्रतादिककौ छोड़ि कहा करेगा ? जो हिसादि रूप प्रवर्त्तैगा तौ तहाँ तौ मोक्षमार्ग का उपचार भी सभवै नाही।

---

[1] मो० मा० प्र०, १०८

[2] वही, ४५८

तहाँ प्रवर्त्तनेतै कहा भला होयगा, नरकादिक पावेगा । तातै ऐसै करना तौ निर्विचारपना है[1] ।"

(४) "जो ऐसा श्रद्वान है, तौ सर्वत्र कोई ही कार्य का उद्यम मति करै । तू खान-पान व्यापारादिक का तौ उद्यम करै, अर यहाँ होनहार बतावै । सो जानिए है, तेरा अनुराग यहाँ नाही । मानादिक करि ऐसी भूँठी बातै बनावै है[2] ।"

(५) "बहुरि जैसै बड़े दरिद्रीकौ अवलोकनमात्र चिन्तामणि की प्राप्ति होय अर वह न अवलोकै, बहुरि जैसै कोढीकूँ अमृत पान करावै अर वह न करै, तैसै संसारपीड़ित जीवकौ सुगम मोक्षमार्ग के उपदेश का निमित्त बनै अर वह अभ्यास न करै तौ वाके अभाग्य की महिमा हमतै तौ होई सकै नाही । वाँका होनहारहीकौ विचारै अपने समता आवै[3] ।"

(६) "सो हे भव्य हो ! किचिन्मात्र लोभतै वा भयतै कुदेवादिक का सेवन करि जातै अनन्तकाल पर्यंत महादुःख सहना होय ऐसा मिथ्यात्वभाव करना योग्य नाही । जिनधर्म विषै यह तौ आम्नाय है, पहलै बड़ा पाप छुडाय पीछै छोटा पाप छुडाया । सो इस मिथ्यात्वकौ सप्तव्यसनादिकतै भी बडा पाप जानि पहलै छुडाया है । तातै जो पापके फल तैं डरै है, अपने आत्मा को दुःखसमुद्र में न डुबाया चाहै है, ते जीव इस मिथ्यात्व कौ अवश्य छोडो । निंदा प्रशंसादिक के विचार तै शिथिल होना योग्य नाही[4] ।"

(७) "हे स्थूलबुद्धि ! तैं व्रतादिक शुभ भाव कहै ते करनै योग्य ही है, परन्तु ते सर्व सम्यक्त्व बिना ऐसै है जैसै अक बिना बिन्दी । अर जीवादि का स्वरूप जानै बिना सम्यक्त्व का होना ऐसा है, जैसा

---

[1] मो० मा० प्र०, ३७३

[2] वही, २६०

[3] वही, २६-३०

[4] वही, २८१-२८२

बाझ का पुत्र। तातै जीवादिक जानने के अर्थि इस शास्त्र का अभ्यास अवश्य करना[1]।"

(८) "हे सूक्ष्माभासबुद्धि ! तै कह्या सो सत्य, परन्तु अपनी अवस्था देखनी। जो स्वरूपानुभव विषै वा भेदविज्ञान विषै उपयोग निरतर रहै तौ काहै कौ अन्य विकल्प करने। तहाँ ही स्वरूपानद सुधारस का स्वादी होइ सन्तुष्ट होना। परन्तु नीचली अवस्था विषै तहाँ निरन्तर उपयोग रहै नाही, उपयोग अनेक अवलबनि को चाहै है। तातै जिस काल तहाँ उपयोग न लागै तब गुणस्थानादि विशेष जानने का अभ्यास करना[2]।"

(९) "सौ हे भव्य हो ! शास्त्राभ्यास के अनेक अग है। शब्द वा अर्थ का बाँचना या सीखना, सिखावना, उपदेश देना, विचारना, सुनना, प्रश्न करना, समाधान जानना, बारबार चरचा करना, इत्यादि अनेक अग है। तहाँ जैसे बनै तैसै अभ्यास करना। जो सर्व शास्त्र का अभ्यास न बनै तौ इस शास्त्र विषै सुगम वा दुर्गम अनेक अर्थनि का निरूपण है, तहाँ जिसका बनै तिसही का अभ्यास करना, परन्तु अभ्यास विषै आलसी न होना[3]।"

पडित टोडरमल का श्रोता या शकाकार भी कम पडित नही है। वह बुद्धिमान, जिज्ञासु एव बहुशास्त्रविद् है। मात्र उसमे एक कमजोरी है कि वह यथाप्रसग सही अर्थ नही समझ पाता है। पडित टोडरमल की शैली की यह विशेषता है कि उन्होने अधिकाश आगम-प्रमाण शकाकार के मुख मे रखे है। उनका शकाकार प्राय. प्रत्येक शका आर्षवाक्य प्रस्तुत करके सामने रखता है और समाधान-कर्त्ता आर्षवाक्यो का अपेक्षाकृत कम प्रयोग करता है, वह अनुभूति-जन्य युक्तियो और उदाहरणो द्वारा उसकी जिज्ञासा शान्त करता है। शकाकार उद्दण्ड नही है, पर वह कोई भी बात कहने से चूकता भी

---

[1] स० च० पी०, ७

[2] वही, १०

[3] वही, १६

नहीं है, वह अपनी बात अपनी मर्यादा मे रह कर चतुराई से कह देता है। फटकार और दुतकार मिलने पर भी अखाडा छोडता नही है, किन्तु जिज्ञासा भाव से वस्तु को समझने का बराबर प्रयत्न करता रहता है। शकाकार द्वारा शका प्रस्तुत करने के कुछ नमूने नीचे दिये जा रहे है :—

(१) "बहुरि वह कहै है—शास्त्रविषै ऐसा कह्या है—तप आदि का क्लेश करै है तौ करौ, ज्ञान बिना सिद्धि नाही[1]।"

(२) "बहुरि वह कहै है—शास्त्रविषै शुभ-अशुभकौ समान कह्या है, तातै हमकौ तो विशेष जानना युक्त नाही[2]।"

(३) "बहुरि वह कहै है—गोम्मटसारविषै ऐसा कह्या है—सम्यग्दृष्टि जीव अज्ञानी गुरु के निमित्त तै झूठ भी श्रद्धान करै तौ आज्ञा माननेतै सम्यग्दृष्टि ही होय है। सौ यहु कथन कैसै किया है[3]।"

(४) "यहाँ कहैगा—जो ऐसै है, तो हम उपवासादि न करैगे[4]।"

(५) "इहाँ प्रश्न—जो मोक्ष का उपाय काललब्धि आए भवितव्यानुसारि बनै है कि मोहादि का उपशमादि भए बनै है अथवा अपने पुरुषार्थतै उद्यम किए बनै है, सौ कहौ ? जो पहिले दोय कारण मिले बनै है, तो हमको उपदेश काहैकौ दीजिए है अर पुरुषार्थतै बनै है, तौ उपदेश तौ सर्व सुनै, तिन विषै कोई उपाय कर सकै, कोई न कर सकै, सो कारण कहा[5] ?"

(६) "यहाँ कोऊ कहै—ऐसै है तो मुनिलिग धारि किंचित परिग्रह राखे, सो भी निगोद जाय—ऐसा षट्पाहुड विषै कैसै कह्या है[6]?"

---

[1] मो० मा० प्र०, २९८

[2] वही, ३०१

[3] वही, ३१९

[4] वही, ३४०

[5] वही, ४५५

[6] वही, ४४०

(७) "यहाँ कोई प्रश्न करै – जहाँ अन्य-अन्य प्रकार न सभवै, तहाँ तौ स्याद्वाद सभवै। बहुरि एक ही प्रकार करि शास्त्रनि विषै परस्पर विरुद्ध भासै तहाँ कहा करिए ? जैसै प्रथमानुयोग विषै एक तीर्थंकर की साथि हजारौ मुक्ति गए बताए। करणानुयोग विषै छह महिना आठ समय विषै छहसै आठ जीव मुक्ति जाँय – ऐसा नियम किया। प्रथमानुयोग विषै ऐसा कथन किया – देव-देवागना उपजि पीछै मरि साथ ही मनुष्यादि पर्याय विषै उपजै। करणानुयोग विषै देव का सागरौ प्रमाण, देवागना का पल्यो प्रमाण आयु कह्या। इत्यादि विधि कैसे मिलै"[1] ?

(८) "बहुरि अर्थ का पक्षपाती कहै है कि – इस शास्त्र का अभ्यास कीए कहा है ? सर्व कार्य धनतै बनै है। धन करि ही प्रभावना आदि धर्म निपजै है। धनवान के निकट अनेक पडित आय प्राप्त हो है। अन्य भी सर्व कार्य सिद्धि होई। तातै धन उपजावने का उद्यम करना[2]।"

(९) "बहुरि काम भोगादिक का पक्षपाती बोलै है कि – शास्त्राभ्यास करने विषै सुख नाही, बडाई नाही। तातै जिन करि इहाँ ही सुख उपजै ऐसै जे स्त्री सेवना, खाना, पहिरना इत्यादि विषयसुख तिनका सेवन करिए अथवा जिन करि इहाँ ही बड़ाई होई, ऐसे विवाहादिक कार्य करिए[3]।"

जहाँ वे किसी बात से असहमत होते है वहाँ शकाकार के सामने प्रश्नो की बौछार करने लगते है। एक के बाद एक तर्क क्रमबद्ध रूप से उसके सामने प्रस्तुत करते चले जाते है और उसे बच निकलने का कोई रास्ता नही छोड़ते है। जैसे सर्वव्यापी ब्रह्म के स्वरूप पर विचार करते हुए निम्नलिखित शैली अपनाते है –

"इहा कौऊ कहै कि समस्त पदार्थनिके मध्यविषै सूक्ष्मभूत ब्रह्म के अग है तिनकरि सर्व जुरि रहे है ताकौ कहिए है –

---

[1] मो० मा० प्र०, ४४४

[2] स० च० पी०, १३

[3] वही, १४

जो अग जिस अंगतै जुरचा है, तिसही तै जुरचा रहै है कि टूटि टूटि अन्य अन्य अगनिस्यौ जुरचा करै है । जो प्रथम पक्ष ग्रहेगा तौ सूर्यादि गमन करे है, लिनिकी साथि जिन सूक्ष्म अगनितै वह जुरै है ते भी गमन करै । बहुरि उनको गमन करते वे सूक्ष्म अंग अन्य स्थूल अगनितै जुरे रहै, वे भी गमन करै है सो ऐसै सर्व लोक अस्थिर होइ जाय । जैसे शरीर का एक अग खीचे सर्व अग खीचे जॉय, तैसै एक पदार्थकौ गमनादि करते सर्व पदार्थनि का गमनादि होय, सो भासै नाही । बहुरि जो द्वितीय पक्ष ग्रहैगा, तो अग टूटनै तै भिन्नपना होय ही जाय तब एकत्वपना कैसै रह्या ? तातै सर्वलोक का एकत्व कौ ब्रह्म मानना कैसे संभवै ? बहुरि एक प्रकार यहु है जो पहलै एक था, पीछै अनेक भया बहुरि एक हो जाय तातै एक है । जैसे जल एक था सो वासणनिमै जुदा-जुदा भया बहुरि मिलै तब एक होय । वा जैसे सोना का गदा एक था सो कंकण-कुण्डलादि रूप भया बहुरि मिलकरि सोना का गदा होय जाय । तैसैं ब्रह्म एक था, पीछै अनेक रूप भया बहुरि एक होयगा तातै एक ही है । इस प्रकार एकत्व मानै है तौ जब अनेक रूप भया तब जुयचा रह्या कि भिन्न भया । जो जुरया कहैगा तो पूर्वोक्त दोष आवैगा । भिन्न भया कहैगा तौ तिस काल तौ एकत्व न रह्या । बहुरि जब सुवर्णादिककौ भिन्न भए भी एक कहिए है सो तौ एक जाति अपेक्षा कहिए है । सो सर्व पदार्थनि की एक जाति भासे नाही । कोऊ चेतन है, कोऊ अचेतन है, इत्यादि अनेकरूप है, तिनकी एक जाति कैसै कहिए ? बहुरि पहिले एक था पीछे भिन्न भया माने है, तौ जैसे एक पाषाणादि फूटि टुकड़े होय जाय है तैसे ब्रह्मके खण्ड होय गए, बहुरि तिनका इकट्ठा होना माने है तौ वहाँ तिनिका स्वरूप भिन्न रहै है कि एक होइ जाय है । जो भिन्न रहे है तो तहाँ अपने-अपने स्वरूप करि भिन्न ही है अर एक होइ जाय है तौ जड़ भी चेतन होइ जाय वा चेतन जड़ होइ जाय । तहाँ अनेक वस्तुनिका एक वस्तु भया तब काहू कालविषै अनेक वस्तु, काहू कालविषै एकवस्तु ऐसा कहना बनै । अनादि अनन्त एक ब्रह्म है ऐसा कहना बने नाही[1] ।"

---

[1] मो० मा० प्र०, १४०–१४१

उनका साहित्य उदाहरणो का एक विशाल भण्डार है। परम्परागत उदाहरणो की अपेक्षा उन्होने उदाहरणो का चुनाव दैनिक जीवन एव प्रकृति से किया है। मानव जीवन, पशु-पक्षी एव प्रकृति से चुने गए उदाहरणो से उनका सूक्ष्म निरीक्षण एव विशाल व्यवहारिक ज्ञान प्रस्फुटित हुआ है। वणिक कुल मे उत्पन्न होने एव व्यापारिक सम्पर्क से उनके साहित्य मे व्यापार सम्बन्धी उदाहरण भी पर्याप्त मात्रा मे पाए जाते है। वैद्यक सम्बन्धी उदाहरण भी विपुल मात्रा मे मिलते है। उदाहरणो के लिए उदाहरण कही भी नही आए, वरन् विषय को स्पष्ट करने की दृष्टि से सहज प्रवाह मे आए है। वे विषय के साथ घुलमिल गए है, अलग-अलग प्रतीत नही होते। उनके कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे है –

औषधि विज्ञान से सम्बन्धित उदाहरण

उदाहरण	सिद्धान्त
(१) जैसे वैद्य सब से पहिले रोग का निदान करता है, रोग के लक्षण बताता है, रोगी को विश्वास मे लेकर रोग की चिकित्सा करने की प्रेरणा देता है एव दवा और पथ्य का निर्देश करता है।	(१) उसी प्रकार मोक्षमार्ग प्रकाशक मे पहले ससार रोग का निदान व दुःख के लक्षण बता कर ससारी जीव को विश्वास मे लेकर दु ख दूर करने की प्रेरणा देते हुए ग्रहण-त्यागरूप उपाय बताया गया है[1]।
(२) जैसे वैद्य रोग दूर करना चाहता है। अत शीत सम्बन्धी रोग हो तो उष्ण औषधि देता है और आताप सबधी रोग हो तो शीत औषधि देता है।	(२) उसी प्रकार श्री गुरु रागादि छुडाना चाहते है। अत जो रागादि को पर जान कर स्वच्छन्द हो जाते है, उनसे कहा जाता है तेरे ही है, और जो उन्हे अपना मान कर छोड़ना नही चाहते, उनसे कहा जाता है कि

[1] मो० मा० प्र०, ३१,६५,१०६, १३७

	कर्म के निमित्त से हुए है, अत. कर्म के है[1] ।
(३) रोग तो बुरा ही है पर अधिक की अपेक्षा कम रोग हो तो अब अच्छा है – यह भी कह देते है ।	(३) उसी प्रकार राग भाव तो बुरा ही है किन्तु अशुभ राग की अपेक्षा शुभ राग को भला भी कह देते है[2] ।
(४) जैसे दाह ज्वर वाला वायु होने के भय से शीतल वस्तु का त्याग करे, पर जब तक शीतल वस्तु रुचे तब तक दाह ज्वर गया नही जानना चाहिए ।	(४) उसी प्रकार कोई नरकादि के भय से विषय-सेवन का त्याग कर दे किन्तु जब तक विषय-सेवन रुचे तब तक वह वास्तविक त्यागी नही है[3] ।
(५) रोग तो शीताग भी है और ज्वर भी, पर शीताग से मरना जाने तो उसे ज्वर कराने का उपाय किया जाता है । बाद में ज्वर भी ठीक किया जाता है ।	(५) उसी प्रकार कषाय तो सब बुरी ही है, किन्तु पाप कषायरूप महाकषाय छुडाने के लिए पुण्य कषायरूप अल्प-कषाय कराई जाती है । बाद मे उसे भी छुडाया जाता है[4] ।
(६) किसी को विषम ज्वर हो तो कभी तकलीफ अधिक होती है, कभी कम । कम होने पर लोग कहते है कि अब ठीक है, पर जब तक रोग गया नही तब तक ठीक कैसा ?	(६) वैसे ही जब तक जीव मोही है तब तक दु खी है, कभी अधिक और कभी कम । कम दु खके काल मे अच्छा भी कहा जाता है, पर है वह दु खी ही[5] ।

[1] मो० मा० प्र०, २८८

[2] वही, ३०१

[3] वही, ३६२–६३

[4] वही, ४१२

[5] वही, ४५३

(७) कोई रोगी यदि निर्गुण औषधि का निषेध सुन कर औषधि सेवन छोड कुपथ्य सेवन करेगा तो मृत्यु को प्राप्त होगा, उसमे वैद्य का तो दोष नही है।	(७) उसी प्रकार कोई व्यक्ति पुण्यरूप धर्म का निषेध सुन कर धर्मसाधन छोड दे और विषयो मे लग जाय तो वह नरकादि मे दुःखी होगा, इसमे उपदेशक का तो दोष नही है[१]।
(८) यदि गधा मिश्री खाने से मर जावे तो मनुष्य तो मिश्री खाना न छोड़े।	(८) उसी प्रकार विपरीत-बुद्धि अध्यात्मग्रथ सुन कर स्वच्छन्द हो जावे तो विवेकी अध्यात्मग्रथ का अभ्यास क्यो छोड़े[२] ?
(९) अति शीताग रोग वाले को अति उष्ण रसादिक औषधि दी जाती है। यदि दाह वाले को या साधारण शीत वाले को वह उष्ण औषधि दे दी जावे तो अनर्थ ही होगा।	(९) उसी प्रकार किसी एक ओर अधिक झुके हुए व्यक्ति के सतुलन को ठीक करने के लिए उसके निषेध का उपदेश दिया जाता है। यदि सामान्य जन उसे ग्रहण कर उक्त कार्य छोड दे तो बुरा ही होगा। जैसे दिन-रात शास्त्राभ्यास मे लगे हुए व्यक्ति को कहा जावे कि आत्मानुभव के बिना कोरा शास्त्राभ्यास निरर्थक है। इसे सुन कर कम शास्त्राभ्यास करने वाले या शास्त्राभ्यास नही करने वाले शास्त्राभ्यास से विमुख हो जावें तो बुरा ही होगा[३]।

---

[१] मो० मा० प्र०, ३१३-१४

[२] वही, ४२६

[३] वही, ४४२

(१०) जैसे पाकादि औषधि गुणकारी ही है पर ज्वर वाला खावे तो हानि ही करेगी ।

(१०) उसी प्रकार उच्च धर्म बहुत अच्छा है किन्तु जब तक विकार दूर न हो और धारण करे तो अनर्थ ही होगा, जैसे भोजनादि विषयों में आसक्त रहे और आरंभत्यागी हो जावे तो अनर्थ ही करेगा[1] ।

व्यापार सम्बन्धी उदाहरण

उदाहरण	सिद्धान्त
(१) जैसे स्वयसिद्ध मोतियों से गहना बनाने वाले अपनी इच्छानुसार विभिन्न प्रकार से मोती गूँथ कर विभिन्न प्रकार के गहने बनाते है ।	(१) उसी प्रकार लेखकगण स्वयसिद्ध अक्षरो को अपनी इच्छानुसार विभिन्न प्रकार गूँथ कर विभिन्न प्रकार के ग्रथ बनाते है[2] ।
(२) जैसे शक्तिहीन, लोभी, झूठा वैद्य यदि रोगी को आराम हो तो अपना किया बताता है और यदि बुरा हो या मरण हो जाय तो होनहार पर टालता है ।	(२) उसी प्रकार ईश्वरवादी यदि भला हो तो ईश्वर का किया मानता है और बुरा हो तो अपने कर्मो का फल कहता है[3] ।
(३) कमाने की मद इच्छा रखने वाला व्यापारी भी बाजार में बैठता है, कमाने की इच्छा भी रखता है, पर किसी से याचना नही करता । यदि ग्राहक	(३) उसी प्रकार मुनि आहार को निकलते है, भोजन की मद इच्छा भी है, पर किसी से प्रार्थना नहीं करते । सहज ही उनकी विधि अनुसार आहार

[1] मो० मा० प्र०, ४४२

[2] वही, १४,१८-१९

[3] वही, १५६

अपने आप सहज आता है तो व्यापार करता है, अन्यथा नही।	मिले तो करते है, अन्यथा नही[1]।
(४) कोई भी व्यक्ति धन खर्च करना नही चाहता, पर सम्पूर्ण जाता देखे तो थोडा देकर काम निकालने का उपाय करता है।	(४) उसी प्रकार ज्ञानी थोडी भी कषाय नही करना चाहता, पर पापरूप महाकषाय होती देखे तो उससे बचने के लिए अल्प कषायरूप पुण्य कार्यों मे लगता है[2]।
(५) जैसे रोजनामचा (दैनिक रोकड) मे अनेक रकमे जहाँ-तहाँ लिखी रहती है, उन्हे खाते मे खताए विना यह पता नही चलता कि किससे क्या लेना है और किसका क्या देना है।	(५) उसी प्रकार शास्त्रो में अनेक प्रकार उपदेश दिया गया है। उसको सम्यग्ज्ञान (सही बुद्धि) से सही-सही पहिचाने तव हित-अहित का पता चलता है, अन्यथा नही[3]।
(६) मुनीम सेठ का कार्य करता है, उसे अपना कहता है, कार्य बनने बिगडने पर उसे हर्ष-विषाद भी होता है, उस समय वह अपने और सेठ को एक ही समझता है, पर अन्तर मे सेठ और अपने भेद को अच्छी तरह जानता है। यदि सेठ के धन को अपना माने तो वह मुनीम नही, चोर कहा जाएगा।	(६) उसी प्रकार ज्ञानी कर्मोदय मे शुभाशुभ भावरूप परिणमित होता है, उन्हे अपने भी कहता है, पर अन्तर मे उन्हे भिन्न ही मानता है। यदि वह शरीराश्रित व्रत-सयम को अपना माने तो अज्ञानी ही कहा जायेगा[4]।

---

[1] मो० मा० प्र०, २२७–२८

[2] वही, ३०२

[3] वही, ४४८

[4] वही, ५०५ (रहस्यपूर्ण चिट्ठी)

(७) जैसे खोटा रुपया चलाने वाला उसमे कुछ चाँदी भी डालता है।

(७) उसी प्रकार नकली साधु भी धर्म का कोई ऊँचा अग (क्रिया) रख कर अपनी उच्चता की धाक लोगो पर जमाए रखना चाहता है[1]।

मानव जीवन सम्बन्धी उदाहरण

उदाहरण	सिद्धान्त
(१) एक पडाव पर एक पागल रहता था। वहाँ बहुत यात्री आते थे। उनके साथ गाडी-घोड़े आदि धन-धान्यादि सामग्री भी होती। वह उन्हे अपनी मान कर प्रसन्न होता, पर वे जब जाने लगते तो दुःखी होता।	(१) उसी प्रकार इस जीव के भवरूपी पड़ाव पर शरीर स्त्री पुत्रादि का सयोग हो गया है। यह उन्हें अपने मान कर प्रसन्न होता है और उनके वियोग में दु खी। अत पागल के समान अज्ञानी ही है[2]।
(२) गाडी अपने आप चल रही है। बालक उसे धक्का देकर मानता है कि यह गाडी मेरे धकाने से चल रही है तथा जब गाडी रुक जाती है तब बालक व्यर्थ में खेद-खिन्न होता है।	(२) उसी प्रकार सारा जगत स्वय परिणमनशील है, पर यह अज्ञानी समझता है कि मेरे द्वारा परिणमित हो रहा है। जब इसकी इच्छानुकूल परिणमन नही होता तब व्यर्थ ही दु खी होता है[3]।
(३) जैसे कोई पत्थर से अपना सिर स्वयं फोड़े, फिर पत्थर को दोष दे तो मूर्ख ही है।	(३) उसी प्रकार आप कर्म बाँधे और दुखी हो, फिर कर्मो को दोष दे तो मूर्ख ही माना जायगा[4]।

[1] मो० मा० प्र०, २६२–६३
[2] वही, ७३
[3] वही, १२८
[4] वही, १३०

(४) स्वामी की आज्ञा से नौकर ने भला-बुरा किया । उसमे कोई नौकर से वैर बाँधे तो मूर्ख ही है ।	(४) उसी प्रकार इस जीव का कर्मो को दोष देना बेकार है, क्योकि वे तो जीव के भावानुसार ही बँधे है[1] ।
(५) जैसे शीलवती स्त्री स्वेच्छा से परपुरुष के साथ पति के समान रमण क्रिया कभी भी नही करती है ।	(५) उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि सुगुरुवत् कुगुरु आदि को कभी भी नमस्कार आदि नही करते[2] ।
(६) जैसे कोई पुरुष स्वप्न मे अपने को राजा हुआ देखे और प्रसन्न हो ।	(६) वैसे ही निश्चयाभासी भ्रम से कल्पना मे अपने को सिद्ध मान कर सन्तुष्ट होते है[3] ।
(७) जैसे कोई बालक स्त्री का वेष धारण करके शृगार रस का ऐसा गाना गावे कि सुनने वाले काम विकाररूप हो जावे किन्तु वह उसका भाव नही जानता है, अत· कामासक्त नही होता है ।	(७) उसी प्रकार भावज्ञान से रहित उपदेशक ऐसा उपदेश देते है कि दूसरे आत्मरस के रसिक हो जावे पर स्वय अनुभव नही करते है व जैसा लिखा है वैसा उपदेश दे देते है[4] ।
(८) किसी व्यक्ति ने धर्म साधन के लिए मन्दिर बनाया किन्तु कोई पापी उसमे पापकर्म करे तो मन्दिर बनाने वाले का तो दोष नही है ।	(८) उसी प्रकार आचार्यों ने धर्म मे लगाने के लिए शास्त्रो की रचना की । यदि कोई उन्हे पढ कर ही विकाररूप परिणमित हो तो इसमे आचार्यो का तो दोष नही है[5] ।

[1] मो० मा० प्र०, १३०
[2] वही, २७६
[3] वही, ३०६
[4] वही, ३४८
[5] वही, ४२५

उदाहरण	सिद्धान्त
(९) मनुष्य जैसे हाथ-पैर बदर के नही होते ।	(९) उसी प्रकार ज्ञानी के समान अज्ञानी के सम्यक्त्व के अग नही हो सकते[1] ।
(१०) जैसे अंधा मिश्री के स्वाद का अनुभव करता है, उसके आकारादि को नही देख पाता है ।	(१०) उसी प्रकार क्षयोपशम ज्ञान वाले अज्ञानी आत्मा का अनुभव करते है, आत्मा के प्रदेशों को नही देखते है[2] ।

पशु एवम् प्रकृति सम्बन्धी उदाहरण

उदाहरण	सिद्धान्त
(१) सूर्योदय होने पर चकवा-चकवी अपने आप मिल जाते है और सूर्यास्त होने पर अपने आप बिछुड जाते है । उन्हें कोई मिलाता या बिछुडाता नही है ।	(१) उसी प्रकार रागादि भाव होने पर कर्म अपने आप बध जाते है । कर्मोदय काल मे जीव स्वय विकार करता है, उन्हे कोई परिणमाता या विकार नही कराता है[3] ।
(२) जैसे कुत्ते को लाठी मारने पर कुत्ता लाठी मारने वाले की ओर न झपट कर लाठी पर झपटता है । असली शत्रु को नही पहिचानता ।	(२) उसी प्रकार अज्ञानी स्वयकृत कर्मो के फल प्राप्त होने पर वाह्य पदार्थो पर राग-द्वेष करता है । अपने असली शत्रु मोह-राग-द्वेष को नही पहिचानता[4] ।
(३) शास्त्रो मे इस काल मे भी हसो का सद्भाव कहा है, किन्तु हस दिखाई नही देते तो	(३) उसी प्रकार शास्त्रो मे इस काल मे भी साधुओ का सद्भाव कहा है, किन्तु सच्चे

[1] मो० मा० प्र०, ५०२
[2] वही, ५१० (रहस्यपूर्ण चिट्ठी)
[3] वही, ३७
[4] वही, ८३

औरो को हस नही माना जा सकता। जब तक हंस के गुण न मिले तब तक किसी पक्षी को हस नही माना जा सकता।

साधु दिखाई न देवे तो औरो को तो साधु नही माना जा सकता। साधु के लक्षण मिलने पर ही किसी को साधु माना जा सकता है, अन्यथा नही[1]।

(४) बीज बोए बिना खेत को कितना ही सभालो, अनाज पैदा नही होगा।

(४) उसी प्रकार सच्चा तत्त्व-ज्ञान हुए बिना कितना ही व्रतादि करो, सम्यक्त्व नही होगा[2]।

संगीत सम्बन्धी उदाहरण

उदाहरण	सिद्धान्त
(१) जैसे कोई व्यक्ति सगीत सम्बन्धी शास्त्रो के आधार से उसके स्वर, ग्राम, मूर्छना व रागों के रूप, ताल, तान व उनके भेदो को सीख लेता है परन्तु उनके स्वरूप को नही पहिचानता। पहिचान बिना किसी स्वर को कुछ का कुछ मान लेता है या सही भी मान लेता है पर बिना निर्णय के तो वह चतुर गायक नही बन सकता।	(१) उसी प्रकार कोई जीव शास्त्रो का अध्ययन कर जीवादि तत्त्वो के नामादि सीख ले किन्तु उनके सही रूप को पहिचाने नही। अत बिना पहिचान किसी तत्त्व को कोई तत्त्व मान ले अथवा सही भी मान ले पर बिना निर्णय के तो वह सम्यक्त्व को प्राप्त नही कर सकता[3]।

पाठक की रुचि-अरुचि एव कठिनता-सरलता का ध्यान उन्होने सर्वत्र रखा है। वे उतना ही लिखना चाहते है जितना पाठक ग्रहण कर सके और उसी प्रकार से लिखना चाहते है जिस प्रकार पाठक

[1] मो० मा० प्र०, २३५, २७२

[2] वही, ३४४

[3] वही, ३२६

समझ सके । इस बात का उल्लेख भी उन्होने जहाँ आवश्यकता समझी, किया है । इसी बात को लक्ष्य मे रख कर उन्होने 'सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका' में सदृष्टियाँ यथास्थान न देकर अन्त मे उनका एक पृथक अधिकार रखा है । उसके सम्बन्ध मे उन्होने लिखा है –

"जो यहु टीका मदबुद्धीनि के ज्ञान होने के अर्थि करिए सौ या विषै बीचि-बीचि सदृष्टि लिखने तै तिनकौ कठिनता भासै तब अभ्यास तै विमुख होई । तातै जिनकौ अर्थ मात्र ही प्रयोजन होई सौ अर्थ ही कर अभ्यास करौ अर जिनको सदृष्टिनिकौ भी जाननी होई ते सदृष्टि अधिकार विषै तिनका भी अभ्यास करौ[1] ।"

बीच-बीच मे लोक-प्रचलित एव शास्त्रो में समागत् लोकोक्तियो का यथास्थान प्रयोग किया गया है । इससे विषय की स्पष्टता के साथ-साथ शैली में भी गतिशीलता आई है । कुछ इस प्रकार है :–

(१) मेरी माँ और बाँझ

(२) जल का बिलोवना

(३) देह विषै देव है, देहुरा विषै नाही

(४) स्वभाव विषै तर्क नाही

(५) बालक तोतला बोले तो बडे तो न बोले

(६) झोल दिये बिना खोटा द्रव्य चाले नाही

(७) विष तै जीवना कहे है

(८) कीडी के कण और कुजर के मण

(९) टीटोडी की सी नाई उबारै है

(१०) हस्त चुगल का सा नाई

(११) मिश्री को अमृत जान भखे तो अमृत का गुण तो न होय

(१२) काकतालीय न्यायवत्

---

[1] स० च० पी०, ५०

(१३) यज्ञार्थ पशव सृष्टा

(१४) अपुत्रस्य गतिर्नास्ति

(१५) चारित्त खलु धम्मो

(१६) हस्तामलकवत्

पडित टोडरमल ने गद्य को अपने विचारो के प्रतिपादन का माध्यम उस समय चुना जब कि प्रमुख रूप से सब लोग पद्य मे ही लिखते थे। ब्रज गद्य का रूप भी अपनी प्रारम्भिक अवस्था मे था। यद्यपि छुटपुट रूप मे टोडरमलजी से कुछ समय पूर्व के पिगल गद्य के रूप मिल जाते है किन्तु उनसे यह नही कहा जा सकता कि उस समय गद्य विचारो के वाहन का मुख्य साधन बन चुका था। हिन्दी साहित्य के इतिहासकारो ने गद्य की समस्त विधाओ से युक्त प्राचीन से प्राचीन गद्य ग्रथ सन् १८०० ई० के बाद का ही होना उल्लिखित किया है[1], जबकि पडित टोडरमल का रचनाकाल सन् १७५४ से १७६७ ई० (विक्रम सवत् १८११–१८२४) है। अत हिन्दी गद्य के निर्माण एव रूपस्थिरीकरण मे पडित टोडरमल का प्रमुख योगदान रहा है। तत्कालीन गद्य की तुलना मे पडितजी का गद्य कही अधिक परिमार्जित, सशक्त, प्रवाहपूर्ण एव सुव्यवस्थित है।

निष्कर्ष रूप मे यह कहा जा सकता है कि उनकी गद्य शैली प्रश्नोत्तर शैली है, जिसमे दृष्टान्तो का प्रयोग मणि-काचन योग की शोभा बढाने वाला है। आध्यात्मिक विषय के प्रतिपादक होने पर भी उनकी गद्य शैली मे उनके व्यक्तित्व की झलक है। उनकी शैली ऐसी प्रतिपादन शैली है, जिसमे वह प्रत्यक्ष रूप में उपदेशक बन कर नही आते। उनकी शैली मे शास्त्रीय चितन और लोक व्यवहारज्ञान एव अनुभूति और चितन का सुन्दर सामजस्य है।

---

[1] हिन्दी साहित्य, ३६४-३६५

षष्ठ अध्याय

भाषा

भाषा

पडित टोडरमल द्वारा प्रयुक्त भाषा के सम्बन्ध में विचार करते समय उसके दो रूप देखने को मिलते है –

(१) मौलिक लेखन की भाषा

(२) अनूदित ग्रन्थो की भाषा

उन्होने परम्परागत दार्शनिक और सैद्धान्तिक ग्रन्थो का हिन्दी भाषा मे रूपान्तर किया जो अधिकतर प्राकृत और सस्कृत भाषा मे है। इन मूल ग्रन्थो मे से किन्ही-किन्ही पर सस्कृत टीकाएँ मिलती है। ये अनुवाद उन्ही पर आधारित है। अनुवाद केवल अनुवाद ही नही अपितु उनमे अनुवाद के साथ मौलिक चिन्तन भी है, जिसमे वे एक स्वतत्र विचारक के रूप में उभरते दिखाई देते है।

इन्ही मौलिक विचारो और मान्यताओ को उन्होने स्वतत्र ग्रन्थो के रूप मे ग्रथित कर दिया है, जिन्हे हम उनकी मौलिक रचनाएँ मान सकते है। जहाँ तक अनुवाद की भाषा का प्रश्न है, उसके मूल भाषा पर आधारित होने से लेखक की मौलिक भाषा नही मानी जा सकती। अधिक से अधिक यही माना जा सकता है कि उन्होने लोकप्रयुक्त भाषा मे उसका अनुवाद किया है। त्रिलोकसार भाषाटीका की भूमिका (पीठिका) के आरभ मे उन्होने अपनी टीका की भाषा को लौकिक बोलचाल की भाषा बताया है। वे लिखते है :–

"इस शास्त्र की सस्कृत टीका पूर्वै भई है तथापि तहाँ संस्कृत गणितादिक के ज्ञान बिना प्रवेश होई सकता नाही। तातै स्तोक ज्ञान वालो के त्रिलोक के स्वरूप का ज्ञान होने के अर्थि तिसही अर्थ कौ भाषा करि लिखिए है। या विषै मेरा कर्त्तव्य इतना ही है जो क्षयोपशम के अनुसारि तिस शास्त्र का अर्थ कौ जानि धर्मानुराग तै औरनि के

जानने के अर्थि जैसे कोऊ मुखतै अक्षर उच्चारि करि देशभाषारूप व्याख्यान करै है तैसे मै हस्ततै अक्षरनि की स्थापना करि लिखौगा[1] ।"

पडित टोडरमल ने अपने लेखन मे प्रयुक्त भाषा के सम्वन्ध मे स्पष्ट रूप से कही कुछ भी नही लिखा। फिर भी प्रसगवश कही-कही ऐसे उल्लेख मिलते है जिनसे उनके भाषा सम्वन्धी विचारो पर प्रकाश पड़ता है। भाषा के सम्बन्ध मे उनका कथन है :–

"इस निकृष्ट समय विषै हम सारिखे मदबुद्धीनितै भी हीनबुद्धि के धनी घने जन अवलोकिए है। तिनिकौ तिन पदनि का अर्थज्ञान होने के अर्थि धर्मानुराग के वशतै देशभाषामय ग्रन्थ करने की हमारै इच्छा भई, ताकरि हम यहु ग्रन्थ वनावै है। सो इस विषै भी अर्थ सहित तिनिही पदनि का प्रकाशन हो है। इतना तौ विशेष है जैसै प्राकृत सस्कृत शास्त्रनिविषै प्राकृत सस्कृत पद लिखिए है, तैसै इहाँ अपभ्रश लिए वा यथार्थपनाको लिए देशभाषारूप पद लिखिए है परन्तु अर्थ विषै व्यभिचार किछू नाही है[2] ।"

इस कथन से सिद्ध है कि पडितजी ने यद्यपि धर्मानुराग से देश-भाषा मे अपने ग्रन्थो की रचना की है, फिर भी उन्होने यह स्पष्ट कर दिया है कि देशी भाषा उनकी है, जबकि वर्णित विषय और उसकी प्रतिपादन शैली बहुत कुछ परम्परागत है। उनका यह भी कहना है कि जिस प्रकार प्राकृत और सस्कृत शास्त्रो मे प्राकृत व सस्कृत पद लिखे जाते है, उसी प्रकार इस ग्रंथ मे देशभाषारूप पदों की रचना की गई है, परन्तु यह देशी पद रचना अपभ्रश और यथार्थ को लिए हुए है। यहाँ लेखक का अभिप्राय यह मालूम होता है कि वह जिस देशभाषा मे लिख रहा है उसमे अपभ्रश का पुट है लेकिन साथ ही वह यथार्थ का आधार लेकर भी चलती है। अर्थात् उनकी देशभाषा न ठेठ अपभ्रश है, न ठेठ देशभाषा। सामान्यतया कुछ आलोचक उसे ढूढारी (जयपुरी) भाषा कहते है[3], जबकि ब्र० रायमल ने सम्यग्ज्ञानचद्रिका की भाषा को

---

[1] त्रि० भा० टी० भूमिका, १

[2] मो० मा० प्र०, १७

[3] वही, प्रस्तावना, ४

ग्वालियरी भाषा लिखा है[1]। वस्तुत वह जयपुर, ग्वालियर आदि विशाल हिन्दीभाषी प्रदेश की साहित्य भाषा ब्रजभाषा ही है क्योकि लेखक स्वय इसे देशभाषा कहता है एवं उसका स्वरूप अपभ्रश और लोकभाषा के बीच स्वीकार करता है। वह अपनी भाषा को किसी नाम विशेष से अभिहित नही करता है। लेकिन भाषा मे रचित होते हुए भी इसके अर्थ मे कही भी किसी प्रकार का दोष नही है, यह उन्होने स्पष्ट रूप से लिखा है। उनका 'देशभाषा' से आशय है तत्कालीन लोक प्रचलित विकासशील भाषा, जिसको व्याकरणादि के अध्ययन के बिना भी समझा जा सके। वे मोक्षमार्ग प्रकाशक के अध्ययन की प्रेरणा देते हुए लिखते है :–

"इस ग्रन्थ का तौ वॉचना, सुनना, विचारना घना सुगम है, कोऊ व्याकरणादिक का भी साधन न चाहिए, तातै अवश्य याका अभ्यास विषै प्रवर्त्तौ, तुम्हारा कल्याण होयगा[2]।"

पडितजी के लेखन कार्य का मुख्य उद्देश्य उच्च आध्यात्मिक ज्ञान को प्रचलित लोकभाषा मे सरल ढग से प्रस्तुत करना था क्योकि तत्त्व-विवेचन के ग्रन्थ सस्कृत या प्राकृत भाषा मे थे। उन्होने इन दो कारणो से इनकी टीका सस्कृत की अपेक्षा देशभाषा मे की :–

(१) सस्कृत ज्ञान से रहित लोगो को तत्त्वज्ञान सुलभ हो सके।

(२) जिन्हे सस्कृत का ज्ञान है, वे इसकी सहायता से अर्थ का और अधिक विस्तार कर सकते है।

उनका यह भी कहना है कि नई भाषा में तत्त्वज्ञान की चर्चा करना नई बात नही है। पूर्व मे अर्द्धमागधी के ग्रन्थो को समझना कठिन हो गया तो सस्कृत मे शास्त्र रचना हुई और उसके बाद देशभाषा मे। जब सस्कृत के ग्रथो का अर्थ देशी भाषा मे समझाया ही जाता है तो मूल तत्त्वज्ञान को देशी भाषा मे लिखने मे भी कोई

---

[1] देखिए प्रस्तुत ग्रथ, ५२

[2] मो० मा० प्र०, ३०

दोप नही है । अतः उन्होने देशी भाषा मे टीकाएँ लिखी[1] ।

भाषा के मूलभूत स्वरूप एव वर्णों के सम्वन्ध मे पडितजी का कथन है कि अकारादि अक्षर अनादिनिधन है, जिन्हे लोग अपनी इच्छा के अनुसार लिखते है । इसीलिए 'सिद्धो वर्णसमाम्नाय' कहा गया है । जहाँ तक वर्णसमाम्नाय का सम्वन्ध है, पडितजी उसे सिद्ध मान कर चलते है । वे उसके विकास की समस्या मे नही पडते । उनके अनुसार अक्षरो का समूह पद है और सत्यार्थ के प्रतिपादक पदो के समूह का नाम श्रुत है[2] । इस प्रकार उन्होने श्रुत की परिभाषा व्यापक वना दी है ।

---

[1] "जे जीव सस्कृतादि विशेप ज्ञान रहित है ते इस भाषाटीका तै अर्थ धारो । वहुरि जे जीव सस्कृतादि ज्ञानसहित है परन्तु गणित आम्नायादिक के ज्ञान का अभाव तै मूलग्रन्थ वा सस्कृत टीकाविषै प्रवेश न पावै है, तो इस भापा टीकातै अर्थ कौ धारि मूलग्रन्थ वा सस्कृत टीकाविषै प्रवेश करहु । वहुरि जो भाषाटीका तै मूलग्रन्थ वा सस्कृत टीकाविषै अधिक अर्थ होई ताकै जानने का अन्य उपाय वनै सो करहु । इहाँ कोऊ कहै सस्कृत ज्ञान वालो कै भापा अभ्यास विषै अधिकार नाही ? ताकौं कहिए है – सस्कृत ज्ञान वालो का भाषा वाँचने तै कोई दोष तौ नाही उपजै है । अपना प्रयोजन जैसै सिद्ध होय तैसै करना । पूर्व अर्द्धमागधी आदि भाषामय महान् ग्रथ थे । बहुरि बुद्धि की मदता जीवनि कै भई तव सस्कृतादि भापामय ग्रन्थ वने । अव विशेप बुद्धि की मदता जीवनि कै भई तातै देशभाषामय ग्रन्थ करने का विचार भया । वहुरि सस्कृतादिक का अर्थ भी अव भापाद्वारकरि जीवनि कौ समझाइये है । इहाँ भाषाद्वारकरि ही अर्थ लिख्या तो किछु दोष नाही हे । ऐसै विचारि श्रीमद् गोम्मटसार द्वितीय नाम श्री पचसग्रह ग्रन्थ की जीवतत्त्वप्रदीपिका नामा सस्कृत टीका ताके अनुसार 'सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका' नामा यहु देशभापामयी टीका करने का निश्चय कीया है ।"

– स० च० पी०, ४-५

[2] "अकारादि अक्षर हैं ते अनादिनिधन है, काहू के किए नाही । इनिका आकार लिखना तौ अपनी इच्छा के अनुसारि अनेक प्रकार है परन्तु वोलने मे आवै है तै अक्षर तौ सर्वत्र सर्वदा ऐसै ही प्रवर्तै है सो ही कह्या है – 'सिद्धो वर्णसमाम्नाय' । याका अर्थ यहु – जो अक्षरनि का सप्रदाय है सौ स्वयसिद्ध हे । बहुरि तिनि अक्षरनि करि निपजे सत्यार्थ के प्रकाशक पद तिनके समूह का नाम श्रुत है सो भी अनादिनिधन है ।"

– मो० मा० प्र०, १४

पडितजी ने इस सम्बन्ध मे मोती-माला का उदाहरण देते हुए कहा है जैसे कोई मोतियों की छोटी-बड़ी माला बनाता है, परन्तु वह मोती नही बना सकता, मोती उसके लिए सिद्ध है, उसी प्रकार वर्णसमाम्नाय सिद्ध है, उसका वे अपनी इच्छानुसार प्रयोग करते है, परन्तु इस प्रयोग में मूल अर्थ प्रभावित नही होता है। अतः इसे भी मूलग्रंथ की तरह प्रमाणिक माना जाय[१]। इस प्रकार उन्होने देशी भाषा को परम्परा से चली आती रही भाषा के विरुद्ध आध्यात्मिक ज्ञान की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। देशभाषा के लिए उनकी यह मौलिक देन है।

पडितजी द्वारा प्रयुक्त भाषा (जिसे वे देशभाषा कहते है) वस्तुतः तत्कालीन जयपुर राज्य व पार्श्ववर्ती क्षेत्र मे प्रयुक्त ब्रज है, परन्तु उसमे जयपुर की तत्कालीन बोलचाल की भाषा के प्रयोग भी आ गए है। इसका एक कारण यह है कि उनका मुख्य उद्देश्य आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान को देशभाषा मे लिख कर अधिक से अधिक व्यापक और लोकप्रिय बनाना था। अत इसके लिए स्थानीय रूप से प्रयुक्त बोली को माध्यम बनाने के बजाय उन्होने प्रचलित देशभाषा (ब्रज) को ही माध्यम के रूप में स्वीकार किया, परन्तु उसमे बोलचाल की स्थानीय भाषा का भी पुट है। दूसरे शब्दो मे परम्परागत भाषा होते हुए भी उसके बोलचाल के स्वरूप को बनाए रखने का प्रयत्न किया है।

शब्द समूह

पडित टोडरमल का साहित्य मुख्यतः सस्कृत और प्राकृत भाषा मे लिखित प्राचीन साहित्य पर आधारित धार्मिक साहित्य है। इसलिए उसमे ७५ प्रतिशत सस्कृत, प्राकृत और उनकी परम्परा से विकसित शब्द है। इसके अतिरिक्त देशी शब्दो का भी प्रयोग है पर अपेक्षाकृत कम। उर्दू के शब्द भी मिलते है पर बहुत थोडे। एक स्थान पर अरबी शब्द 'हिलव्वी[२]' का भी प्रयोग हुआ है। इस प्रकार तत्सम, तद्भव

---

[१] मो० मा० प्र०, १४-१५

[२] प्रो० मोलवी करीमुद्दीन द्वारा लिखित 'करीमुललुगात' शब्दकोष मे 'हिलव्वी' का अर्थ एक प्रसिद्ध कांच है। प्रकरण के अनुसार भी यह अर्थ ठीक है।

और देशी शब्दो के अतिरिक्त उसमे उर्दू के भी शब्द मिलते है। तत्सम शब्दो की बहुलता का कारण मूल ग्रन्थो का सस्कृत प्राकृत मे होना है। लेखक अपनी अभिव्यक्ति को सुगम बनाने के लिए खुले रूप मे तत्सम शब्दो का प्रयोग करता है। दूसरे वह तद्भव के नाम पर जिन शब्दो का प्रयोग करता है उनकी रचना-प्रक्रिया प्राकृत रचना-प्रक्रिया से मिलती-जुलती है। उनके गद्य साहित्य मे तत्सम शब्दो की बहुलता है तो पद्य साहित्य मे तद्भव शब्दों की। इसका कारण काव्यभाषा ब्रज मे तद्भव और देशी शब्दो के ही प्रयोग के विधान का अनिवार्य होना है। ब्रजभाषा प्रकृति और छन्द की लय इन्ही को अपनाने के पक्ष मे है। पद्य मे इसीलिए पडितजी परम्परा से बधे थे, परन्तु ब्रजभाषा मे गद्य का अभाव था इसलिए उन्हे उसमे तत्सम शब्दो के प्रयोग मे किसी प्रकार भी रुकावट नही थी। नगण्य होते हुए भी देशी शब्द भी उल्लेखनीय है क्योकि वे उस समय बोले जाने वाले स्थानीय शब्द है। उनकी भाषा मे प्रयुक्त विभिन्न प्रकार के शब्दो के कुछ नमूने नीचे दिये जा रहे है –

संज्ञा शब्द

(१) व्यक्तिवाचक :–

तत्सम – कृष्ण, बुद्ध, वर्द्धमान, शिव, मूलबद्री, काशी, जयपुर, लक्ष्मी, सूर्य, भूतबलि, वृषभ, नेमिचद्र, राजमल्ल, चामुण्डराय, पंचसग्रह।

तद्भव – ऋषभ>रिषभ, रामसिह>रामसिघ, वर्द्धमान> वर्धमान, मूलवद्री>मूलविद्रपुर, गिरनार>गिरनारि, जयपुर>जैपुर, गोपाल>गुवालिया।

(२) जातिवाचक –

तत्सम – वक्ता, श्रोता, श्रावक, वैद्य, ब्राह्मण, मुनि, राजा, नृप, पुत्र, जीव, अजीव, मोक्ष, देव, शास्त्र, गुरु, मुख, कर्म, गुणस्थान, हस्त, पाद, जिह्वा, स्थान, आचार्य, उपाध्याय, साधु, मनुष्य, द्वीप, लता, शर्करा, निब,

किकर, स्कध, पुस्तक, चोर, पुण्य, पाप, ग्राम, उदधि, जनक ।

तद्भव – मनुष्य>मानुष, मृत्तिका>माटी, स्वर्ण>सोना, रौप्य>रूपा, स्कंध>खध, स्थान>थान, हृदय>हिया, गुणस्थान>गुणथान, वानर>बाँदर, मुक्ता>मोती, यति>यती, रूप्यकम्>रुपैया, क्षेत्रधर>खितहर, काक>कागला, गो>गऊ, हट्ट>हाटि, पण्डित>पाण्डे, कच्छप>काछिवा, श्वसुरालय>ससुराल ।

देशी – घूघू, मण, हाँडी, साँठा, गाडा, जेवरी, पगाँ, पतासा, ठाकुर (भगवान), ठकुरानी, रोडी, सूवा, गली ।

उर्दू – मदिरा, जामा, गुमास्ता, चसमा, दुरबीन, खुदा, पैगम्बर, कलाल, हिलव्वी (अरबी) ।

(३) भाववाचक –

तत्सम – ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सम्यक्त्व, प्रीति, कार्य, सत्य, व्रत, भ्रम, यश, भाग्य, अध्यात्म, कषाय, क्रोध, राग, द्वेष, मोह, उपयोग, वार्ता, स्तुति, ऋण, अनुभव, सुख, दु ख, आकुलता, अवगुण, उदासीनता, उन्मत्तता, पाडित्य, स्वामित्व, मनोरथ, चेतना, कलंक, मिलाप ।

तद्भव – मर्म>मरम, बार्ता>बात, सत्य>साँचा, सम्यक्त>समकित, निर्वाण>निरवान, योग>जोग, बन्धन>बन्धान, यश>जस, कार्य>कारज, गुण>गुन, धृष्ठ>ढीठ ।

देशी – आखडी, सीर, पावना, जानपना, झापटा ।

उर्दू – खरीद, एवज, जुदाई ।

इनके अतिरिक्त भाववाचक सज्ञाएँ 'पना, पनो, पने, ता, त्व, त्य, आई' लगा कर बना ली गई है । कही-कही दो-दो प्रत्यय एक साथ लगा दिये गए है । प्रत्येक के कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे है :–

पना – (१) **देवाधिदेवपना** को प्राप्त भए है।
(२) कुल अपेक्षा **महंतपना** नाही संभवै है।
(३) घातिकर्म का **हीनपना** के होने तैं सहज ही वीतराग विशेषज्ञान प्रगट हो है।

पनो – (१) जे **गृहस्थपनो** त्यागि मुनि धर्म अंगीकार करि निज स्वभाव साधनतैं च्यारि घातिया कर्मनिकौं खिपाय अनंतचतुष्टयरूप विराजमान भए।
(२) तहाँ **इष्ट-अनिष्टपनो** न मानिए है।

पने – (१) बहुरि जे **मुख्यपने** तो निर्विकल्प स्वरूपाचरण विषै ही मग्न है।
(२) राजा और रंक **मनुष्यपने** की अपेक्षा समान है।

ता – (१) **उन्मत्तता** उपजावने की शक्ति है।
(२) ज्ञान दर्शन की **व्यक्तता** रहे है।
(३) सो ए लोकविषै **पंडितता** प्रगट करने के कारण है।
(४) कुल की **उच्चता** तो धर्म्म साधनतैं है।

त्व – प्राणाधिकारविषै प्राणनि का लक्षण अर भेद अर कारण अर **स्वामित्व** का कथन है।

त्य – अर जो **पांडित्य** प्रगट करनेकौं लागै तो कषायभाव तैं उल्टा बुरा हो है।

आई – (१) **जुदाई** कौं नाही विचारै।
(२) अपनी **पण्डिताई** जनावनेकौं ''।

त्व और पना का एक साथ प्रयोग – (१) याही करि जीव का **जीवत्वपना** निश्चय कीजिए हैं।
(२) अनुभाग शक्ति के अभाव होनेतैं **कर्मत्वपना** का अभाव हो है।

कहीं-कहीं पर 'आरोग्यवानपनो, बलवानपनो' जैसे प्रयोग भी मिलते है। जैसे – बहुरि साता के उदय करि शरीर विषै **आरोग्य-वानपनों बलवानपनों** इत्यादि हो है।

सर्वनाम

आलोच्य साहित्य की भाषा मे नीचे दिये जा रहे चार्ट के अनुसार सर्वनाम का प्रयोग हुआ है :—

	उत्तम पुरुष	मध्यम पुरुष	अन्य पुरुष
एकवचन			
कर्तृ	मै, अह, हम	तूँ, तू, तै (तूनै), तुम	सो, वा, वह, ता, तिस, इस, या, यहु, यह, जौ, जिहि, कोई, जा, कोऊ,
कर्म-सम्प्रदान	मुझको, मोको मेरो, मोकूँ	तौकूँ	ताको, ताको, ताहि, जाको, जाको, जाकौ, याको, ताकूँ
सम्बन्ध	मम, मेरा, मेरी, मेरो, मेरौ, मेरे, मेरचो, मेरचौ, हमारे, हमारै, हमारा	तेरा, तेरे	ताका, ताके, ताकी, ताकै, जाका, जाकै, जाकी, जाकै, याका, याके, याकी, याकै, याकै, वाकै
वहुवचन			
कर्तृ	हम	तुम	तै, तैई, तिन, तिनि, जे, वे, इन, उन,ए, कैई, सर्व, सब
कर्म-सम्प्रदान	हमको, हमकौ, हमको	तुमको, तुमको, तुमकूँ	जिनको, जिनको, तिनकौ, तिनकौ, तिनिकौ, इनकौ, सबकूँ, सबनिकूँ
सम्बन्ध	हमारा, हमारे, हमारौ	तुम्हारा, तुमारे, तुमकौ, तुमकौ	तिनका, तिनिका, तिनिकै, जिनका, जिनकै, जिनकै, इनका, इनकी, इनकै, उनका उनकी उनकै सबका सबनिका

डॉ० उदयनारायण तिवारी ने व्रजभाषा मे प्रयोग आने वाले सर्वनामो का विवरण इस प्रकार दिया है[१] :—

	मैं	तू	वह (पु० वा०) वह (सकेत वा०)	यह	कौन	वह (सकेत वा०)	कौन (प्र० वा०)	क्या (प्र० वा०)
एकवचन								
कर्तृ	मैं, हौं, हो	तू, तैं, तैं	वो, वह, वुह	यह, यिह	जो, जौन	सो, तौन	को, कौ, नकौ	कहा, का
तिर्यंक	मो, मुज, मोहि, मुहि	तो, तुज, तोहि, तुहि	विस, वा, वाहि	इस, या, याहि	जिस, जा, जाहि	तिस, ता, ताहि	किस, का, काहि	काहे
कर्म-सम्प्रदान	मोहि, मुहि मोए, मोय, मोइ, मो	तोहि, तुहि, तोए, तोय, तोइ, तो	वाहि, वाए, वाय, विसे	याहि, याए, याय, इमे	जाहि, जाए, जाय, जिसे	ताहि, ताए, ताय, तिमे	काहि, काए, काय, किसे	...
सम्बन्ध	मेरौ, मेर्‌यौ	तेरौ, तेर्‌यौ	..	...	जासु	तासु	.	. .
बहुवचन								
कर्तृ	हम	तुम	वे, वै	ये, यै	जो	सो, ते	को, कौ	.
तिर्यंक	हम, हमौं, हमनि, हमन	तुम, तुम्हौं	उनि, उन, उन्हौं, विनि, विन, विन्हौं	इनि, इन, इन्हौं	जिनि, जिन्, जिन्हौं,	तिनि, तिन्, तिन्हौं	किनि, किन्, किन्हौं	.
कर्म-सम्प्रदान	हमैं	तुम्है	उन्है, विन्हैं	इन्है, इहैं	जिन्हैं	तिन्है	किन्हैं	.
सम्बन्ध	हमारौ हमार्‌यौ	तुम्हारौ तुम्हार्‌यौ तिहारौ तिहार्‌यौ		....	..		.	...

नोट :—उपर्युक्त (प्रमुख रूप मे उत्तम तथा मध्यम पुरुष) बहुवचन के रूपो का प्रयोग प्राय एकवचन मे भी होता है। इसी प्रकार इधर 'व' के स्थान पर 'ब' तथा 'य' के स्थान पर 'ज' का प्रयोग भी चलता है।

१ . ० -४५

आलोच्य साहित्य की भाषा के और ब्रजभाषा के सर्वनामो के तुलनात्मक अध्ययन से पता चलता है कि दोनों मे पर्याप्त समानता है। दोनो में ही बहुवचन के रूपो का प्रयोग एकवचन मे भी हुआ है। इसी प्रकार 'या' के स्थान पर 'जा' की प्रवृत्ति दोनों मे समान रूप से पाई जाती है। आलोच्य साहित्य की भाषा में कर्त्ता के उत्तम पुरुप एकवचन में ब्रजभाषा के 'हो, हौं' रूप नही मिलते है, किन्तु एकाध स्थान पर संस्कृत का 'अहं' दिखाई दे जाता है। कर्म व सम्प्रदान में ब्रज के 'मोहि, मुहि, तोहि, तुहि' आदि रूप न होकर खडी बोली के 'मुझकों, मोकूं, तोकूं' रूप प्राप्त होते है, पर कही-कही विशेषकर पद्य में 'ताहि' दिखाई पड़ जाता है। 'जिन्हें, तिन्हें, किन्हें' के स्थान पर 'जिनको, तिनको, किनको', प्रयोग मे लाए गए है, जो ब्रजभाषा की अपेक्षा खड़ी बोली के अधिक निकट है। सब कुछ मिला कर इनकी प्रकृति ब्रजभाषा के सर्वनामों के ही निकट है।

अव्यय

पंडित टोडरमल की भाषा में निम्नलिखित अव्यय प्रयुक्त है, जो वाक्यरचना में विभिन्न रूप से काम आते है। अव्ययों को विभिन्न वैयाकरणों ने विभिन्न शीर्षको के अन्तर्गत रखा है। विचाराधीन भाषा मे प्रयुक्त अव्ययो को निम्नलिखित शीर्षको मे रखा जा सकता है :–

(१) समयवाचक अव्यय

(२) परिमाणवाचक अव्यय

(३) स्थानवाचक अव्यय

(४) गुणवाचक अव्यय

(५) प्रश्नवाचक अव्यय

(६) निषेधवाचक अव्यय

(७) विस्मयवाचक अव्यय

(८) सामान्य अव्यय

(१) समयवाचक –

अब – **अब** सिद्धनि का स्वरूप ध्याइये है।

तब – (१) **तब** ऐसा उत्तम कार्य कैसे बनै।

(२) **तब** कुटुम्ब को मेलो भयौ।

जब – **जब** प्रश्न उपजै है तब अति विनयवान होय प्रश्न करै है।

अबार – (१) तहाँ ठीक कीए ग्रथ पाइए **अबार** है।

(२) अर वैसे गुरु **अबार** दीसै नाही।

सदा – देखै जानै ऐसी आत्मा विषै शक्ति **सदा** काल है।

सर्वदा – ऐसी दशा **सर्वदा** रहे।

कबहूँ – (१) **कबहूँ** आन दशा नहि गहै।

(२) **कबहूँ** तो जीव की इच्छा के अनुसार शरीर प्रवर्त्तै है, **कबहूँ** शरीर की अवस्था अनुसार जीव प्रवर्त्तै है।

अबहू – अनुसारी ग्रंथनितै शिवपथ पाइ भव्य,
अबहू करि साधना स्वभाव सब भयो है।

कदाचित् – **कदाचित्** मदराग के उदयतै शुभोपयोग भी हो है।

पहिलै } **पहिलै** जानै तब **पीछै** तैसे ही प्रतीत करी
पीछै } श्रद्धानकौ प्राप्त हो है।

इदानी – **इदानी** जीवनिकी बुद्धि मद बहुत है।

एकैकाल – तीनो वेदनिविषै **एकैकाल** एक-एक ही प्रकृतिनि का बध हो है।

यावत् – **यावत्** बधान रहे तावत् साथ रहे।

तावत् – यावत् बधी स्थिति पूर्ण होय **तावत्** समय-समय तिस प्रकृति का उदय आया ही करे।

(२) परिणामवाचक –

इतना – **इतना** जानना जिनको अन्यथा जाने जीव का बुरा होय ।

जितना – जैसै सूर्य का प्रकाश है सो मेघ पटल तैं है **जितना** व्यक्त नाही तितना का तो तिसकाल विषै अभाव है।

तितना – जेता अनुराग होय **तितना** फल तिसकाल विषै निपजै है ।

जैते – अपनी स्थिति के **जैते** समय होहि तिन विषै क्रमते उदय आवै है ।

जैती – जन्म समय तै लगाय **जैती** आयु की स्थिति होय तितने काल पर्यन्त शरीर का सम्बन्ध रहे है।

जेता } अर **जेता** यथार्थपना हो है, **तेता** ज्ञानावरण के
तेता } क्षयोपशम तैं हो है ।

जितने } **जितने** अंशनि करि वह हीन होय, **तितने** अंशनि
तितने } करि यह प्रगट होय ।

वहुत – **बहुत** सूत्र कै करन तैं नेमिचन्द गुणधार ।
मुख्यपनै या ग्रथ के कहिए है करतार ।।

अति – (१) शास्त्राभ्यास विषै **अति** आसक्त है ।
(२) गमन करन को **अति** तरफरै ।

किछू – (१) परन्तु **किछू** अवधारण करते नाही ।
(२) संशयादि होते **किछू** जो न कीजिए ग्रंथ ।

केतीक – मुख्यपने **केतीक** सामग्री साता के उदय तैं हो है, **केतीक** असाता के उदय तैं हो है ।

कितेक – सूत्र **कितेक** किए गभीर ।

केतैक – **केतैक** काल पीछै च्यारि अघाति कर्मनिका.......।

केतैइक – परन्तु **केतैइक** अति मदबुद्धीनि तैं भला है ।

केताइक – पर्व के दिन भी **केताइक** काल पर्यन्त पाप क्रिया करे पीछे पोषहधारी होय ।

अल्प – **अल्प** कषाय होते थोरा अनुभाग बधै है ।

अधिक – शास्त्राभ्यास विषै सुभग, बढ्यो **अधिक** उत्साह ।

किंचित् – चरम शरीर तै **किंचित्** ऊन पुरुषाकारवत् आत्म-प्रदेशनि का आकार अवस्थित भया ।

किंचिन्मात्र – जो कुलक्रमादिकतै भक्ति हो है सो **किंचिन्मात्र** ही फल का दाता है ।

(३) स्थानवाचक –

दूर – **दूर** किया चाहे है ।

समीप – दूर तै कैसा ही जाने **समीप** तै कैसा ही जाने ।

निकटि – दक्षिण मे गोम्मट **निकटि** मूलविद्रपुर '।

यहाँ – अर कहाँ तै आकर **यहाँ** जन्म धार्‌या है ।

इहाँ – (१) **इहाँ** इतना जानना ।

(२) **इहाँ** ऐसा नियम नाही है ।

कहाँ – मर कर **कहाँ** जाऊँगा ।

तहाँ – (१) **तहाँ** प्रथम अरहतनि का स्वरूप विचारिए है ।

(२) **तहाँ** ठीक कीए ग्रथ पाइए अबार है ।

जहाँ – या विषै **जहाँ-जहाँ** चूक होइ, अन्यथा अर्थ होइ तहाँ-तहाँ मेरे ऊपरि क्षमा करि ' ' ।

जहँ – मार्ग कियो तिहि जुत विस्तार,
जहँ स्थूलनिकौ भी सचार ।

ऊँचा – यातै **ऊँचा** और धर्म्म का अग नाही ।

पीछै – **पीछै** देश सकल चारित्र को बखान है ।

सर्वत्र – बहुरि जघन्य **सर्वत्र** एक अतर्मुहूर्त काल है ।

(४) गुणवाचक .–

ऐसा – **ऐसा** वक्ता होय ।

ऐसी – **ऐसी** अंतरंग अवस्था होते बाह्य दिगम्बर सौम्य मुद्राधारी भए है ।

ऐसे – **ऐसे** जैन मुनि है, तिन सबनि की ऐसी ही अवस्था हो है ।

ऐसै – **ऐसै** सर्व प्रकार पूजने योग्य श्री अरहंतदेव है ।

असौ – सत्य अर्थ सभा माहि **असौ** जिन महिमा अनुसरै है ।

जैसी – होऊ मेरी असी दशा **जैसी** तुम धारी है ।

जैसै – अपने योग्य बाह्य क्रिया **जैसै** बनै तैसै बनै है ।

जैसौ – जाकौ **जैसौ** इष्ट सो सुनै है ।

तैसै – अवशेष जैसै है **तैसै** प्रमाण ।

वैसा – **वैसा** विपरीत कार्य कैसे बनै ।

जैसा, तैसा – **जैसा** जीव **तैसा** उपदेश देना ।

(५) प्रश्नवाचक –

कौन – (१) दण्ड न दिया **कौन** कारण ?

(२) ऐसे कार्य को **कौन** न करेगा ?

कहा – मेरा **कहा** स्वरूप है ?

क्यो – टीका करने का प्रारंभ **क्यों** न कीया ?

कैसा – बहुरि वक्ता **कैसा** चाहिए ?

कैसी – जीव की **कैसी** अवस्था होय रही है ?

कैसे – **कैसे** सौ विचारिए ।

कैसै – यह चरित्र **कैसै** वनि रह्या है ?

(६) निषेधवाचक :—

नाही – (१) परद्रव्य विषै अहबुद्धि **नाहीं** है ।

(२) कौऊ द्रव्य काहू का मित्र शत्रु है **नाही** ।

नही – पुद्गल परमाणु तो जड है, उनके किछू ज्ञान **नहीं** ।

नाहि – वर्धमान केवली के देहरूप पुद्गल ते,
जीव **नाहि** प्रेरे तौऊ उपकार करै है ।

नहि – सस्कृत सद्दृष्टिनि कौ ज्ञान,
नहि जिनके ते बाल समान ।

न – (१) पर भावनि विषै ममत्व **न** करे है ।

(२) बिगार **न** होय, तो हम काहे कौ निषेध करै ।

मति – (१) जिनको बध न करना होय ते कषाय **मति** करो ।

(२) कार्यकारी नाही तो **मति** होहु, किछू तिनके मानने तै बिगार भी तो होता नाही ।

(७) विस्मयवाचक –

अहो – **अहो** ! देव गुरु धर्म्म तो सर्वोत्कृष्ट पदार्थ है, इनके आधारि धर्म है ।

हाय हाय – सो हाय ! हाय ! ! यहु जगत राजा करि रहित है, कोई न्याय पूछनेवाला नाही ।

(८) सामान्य अव्यय :—

अथ – **अथ** मोक्षमार्ग प्रकाशक नाम शास्त्र का उदय हो है ।

अर – (१) **अर** ताही के अनुसार ग्रन्थ बनावै है ।

(२) **अर** श्रद्धान ही सर्व धर्म का मूल है ।

आन – ताही का निमित्त पाय **आन** स्कध पुद्गल के ।

बहुरि – **बहुरि** वक्ता कैसा चाहिए ?

व – वा वचन सुनना वा निकटवर्ती होना **व** तिनके अनुसार प्रवर्त्तना ।

वा – इहाँ जो मै यहु ग्रथ बनाऊँ हूँ सो कषायनितै अपना मान बधावनेकौ **वा** लोभ साधनेकौ **वा** यश होनेकौ **वा** अपनी पद्धति राखनेकौ नाहीं बनाऊँ हूँ ।

अथवा – **अथवा** परस्पर अनेक प्रश्नोत्तर करि वस्तु का निर्णय करै है ।

पर – **पर** यदि वक्ता लोभी होय तो वक्ता आप ही हीन हो जाय ।

परन्तु – **परन्तु** तिस राग भाव को हेय जान कर दूर किया चाहे है ।

केवल – **केवल** निर्जरा ही हो है ।

बिना – ताके **बिना** कुमाए भी धन होता देखिए ।

बिनु – (१) तातै बुद्धिमान **बिनु** जाने नाहि सार है ।
(२) बल **बिनु** नाहि पदनिकौ धरै ।

यद्यपि } **यद्यपि** यहु पुद्गल कौ खध,
तथापि } है **तथापि** श्रुत ज्ञान निबध ।

तो – दुर्जन **तो** हास्य करेंगे ।

तौ – ऐ **तौ** क्रिया सर्व मुननि के साधारण है ।

भी – (१) ते **भी** यथायोग्य सम्यग्ज्ञान के धारक है ।
(२) बहुरि युक्तितै **भी** ऐसे ही संभवै है ।

तौऊ – **तौऊ** उपकार करै है ।

यदि – पर **यदि** वक्ता लोभी होय तो वक्ता आप ही हीन हो जाय ।

यथावत् – ताको **यथावत्** निश्चय जानि अवधारै है ।

यथायोग्य – (१) तिनका **यथायोग्य** विनय करूँ हूँ ।
(२) ते भी **यथायोग्य** सम्यग्ज्ञान के धारक है ।

यथासभव – ऐसे ही **यथासंभव** सीखना, सिखावना आदि.......।

नाना प्रकार – जे **नाना प्रकार** दु:ख तिन करि पीड़ित हो रहे है ।

नाना विध – (१) **नाना विध** भाषारूप होइ विसतरे है ।
(२) सो **नाना विध** प्रेरक भयो ।

तथा विध – **तथा विध** कर्म को क्षयोपशम जानिए ।

वारबार – अपने अतरग विषै **बारंबार** विचारै है ।

जातै – ऐसै इतरेतराश्रय दोप नाही **जातै** अनादि का स्वयसिद्ध द्रव्यकर्म सबध है ।

तातै – **तातै** भिन्न न देखे कोय, बिनु विवेक जग अंधा होय ।

सहज – **सहज** ही वीतराग विशेषज्ञान प्रगट हो है ।

फुनि – कनकनदि **फुनि** माधवचन्द,
प्रमुख भए मुनि वहु गुन कद ।

कि – वहुरि कोऊ कहे **कि** अनुराग है तो अपनी बुद्धि अनुसार ग्रथाभ्यास करौ ।

ही – तातै व्रत पालने विषै ज्ञानाभ्यास **ही** प्रधान है ।

प्रगट – वीतराग विशेषज्ञान **प्रगट** हौ है ।

युगपत् – सर्व को **युगपत्** जानि सकते नाही ।

अन्यथा – अर्थ **अन्यथा** ही भासै ।

किनहूँ – **किनहूँ** ने अन्य ग्रथ वनाए ।

भिन्न-भिन्न – **भिन्न-भिन्न** भाषा टीका कीनी अर्थ गायकै ।

सर्वथा – तातै सुखी **सर्वथा** होई ।

संख्यावाची शब्द

आलोच्य साहित्य में संख्यावाची शब्दो का प्रयोग विभिन्न प्रकार से हुआ है। प्रत्येक शब्द के अनेकों रूप मिलते है। उन रूपों मे तत्सम्, तद्भव, एवं देशी सभी प्रकार के रूप पाए जाते है। कुछ विभिन्न रूप नीचे दिये जा रहे है :-

एक – एक, एका, इकवाई, प्रथम, पहिला
दो – दो, दोय, दोइ, दोऊ, दूजा, दूजौ, दूसरा, द्वितीय, दूणा, दूवा
तीन – तीन, तृतीय, तीसरा, तीजो, तीजी, तीजा, तीया, तिगणा, तिहाई, तीसरे, तीनो
चार – चार, च्यार, च्यारि, चारि, चौका, च्यारों, चौथे, चौथा, चौथाई, चतुर्थ
पाँच – पाँच, पँच, पाँचा, पाँचमा, पाँचवाँ
छह – छह, छ, षट्, छक्का, छठा, छट्ठा
सात – सात, सप्त, सातमा, सातवाँ
आठ – आठ, आठा, अष्ट, आठमा, आठवाँ
नौ – नव, नवमा, नवमाँ
दश – दश, दशवाँ, दाहाकी
ग्यारह – ग्यारह, ग्यारही, ग्यारहवाँ
बारह – बारह, द्वादश, बारहवाँ
तेरह – तेरहवाँ
चौदह – चौदह, चउदह, चौदहवाँ
पन्द्रह – पद्रह, पन्द्रहवाँ
सोलह – सोलह, सोलहवाँ
सत्रह – सतरह, सतरहवाँ
अठारह – अठारह, अठारहवाँ
उन्नीस – उगणीस, उगणीसवाँ
बीस – बीस, बीसवाँ
इक्कीस – इकईस, इक्कीसवाँ
बाईस – बाईस, दोयबीस, बावीसवाँ
तेईस – तेईस
चौबीस – चौबीस
पच्चीस – पच्चीस
छब्बीस – छब्बीस

अट्ठाईस – अट्ठाईस, अठाईस
उन्तीस – गुणतीस
तीस – तीस
चौतीस – चौतीस
छत्तीस – छत्तीस
सैंतीस – सैंतीस
चालीस – चालीस
इकतालीस – इकतालीस
पैंतालीस – पैंतालीस
अडतालीस – अडतालीस
उन्चास – गुणचास
पचास – पचास
त्रैपन – तरेपन
चौवन – चौवन
पचपन – पचावन
छप्पन – छप्पन
सत्तावन – सत्तावन
साठ – साठ, साठि
बासठ – बासठ
त्रेसठ – तरेसठि
चौसठ – चौसठि, चौसठवाँ
पैंसठ – पैंसठ
उनत्तर – गुणहत्तरि, गुणहत्तर
बहत्तर – बहत्तर, बहत्तरिवाँ

पचहत्तर – पिचहत्तरि
अस्सी – असी
तेरासी – तियासी
नवासी – निवासी
बानवै – बाणवै
तेरानवै – तिराणवै
छ्यानवै – छिनवै
सत्तानवै – सत्याणवै
सौ – सौ, शत, सौ, सै, सैकडा
हजार – हजार, सहस्त्र
इकाई – इकवाई, एकस्थानीय
दहाई – दाहाकी, दशस्थानीय
सैकडा – सैकडा, शतस्थानीय
हजार – हजार, सहस्त्र-स्थानीय
सख्यात – सख्यात्
असख्यात – असख्यात्
अनत – अनत
आधा – आधा
पौन – पौण
ड्येड – ड्योड, ड्योढ
सवा – सवा
शून्य – शून्य, बिन्दी

शब्द-विशेष के कई प्रयोग (लिपि की दृष्टि से)

विचाराधीन साहित्य की भाषा मे एक ही अर्थ मे कुछ शब्दो के दो या दो से अधिक रूप मिलते है। इनमें प्रायः ध्वनि मे परिवर्तन कर दिया जाता है। नमूने के रूप मे कुछ उदाहरण प्रस्तुत है :–

(१) अनुसार – १. इनि का आकार लिखना तो अपनी इच्छा के **अनुसार** अनेक प्रकार है।

और २. तिन विषै हमारै बुद्धि **अनुसार** अभ्यास वर्तै है।

अनुसारि – १. ताके **अनुसारि** अन्य-अन्य आचार्यादिक नाना प्रकार ग्रंथादिक की रचना करै है।

२. इच्छा कषाय भावनि के **अनुसारि** कार्य करने की हो है।

(२) सिद्धि – दु ख विनशै ऐसै प्रयोजन की **सिद्धि** इनि करि हो है कि नाही ?

और

सिद्धी – इन करि ऐसै प्रयोजन की तो **सिद्धी** हो है।

(३) तिनका – पीछे **तिनका** भी अभाव भया।

और

तिनिका – भ्रम करि **तिनिका** कह्या मार्गविषै प्रवर्तै है।

(४) किछू – बिना कषाय बाह्य सामग्री **किछू** सुख-दु ख की दाता नाही।

कछु – मिले **कछु** कहिए भी सो मिलना कर्माधीन है।

और

कुछ – तिसके उत्तर अपनी बुद्धि अनुसार **कुछ** लिखिए है।

(५) वार्ता – धन्य है जे स्वात्मानुभव की **वार्ता** भी करै।

और

बात – आत्मा की **बात** भी सुनी है, सो निश्चय करि भव्य है।

(६) विषै – परिणामन की मग्नता **विषै** विशेष है ।
और
बिखै – अर दोनो ही का परिणाम नाम **बिखै** है ।

(७) धर्म – तव साँचा **धर्म** हो है ।
और
धर्म्म – बहुरि **धर्म्म** के अनेक अग है ।

(८) कर्म – जो **कर्म** आप कर्त्ता होय उद्यम करि जीव कै
और स्वभाव को घातै ......।
कर्म्म – **कर्म्म** निमित्त तै निपजै जीव नाना प्रकार दु ख
तिन करि पीडित हो रहे है ।

(९) च्यारि – तहाँ **च्यारि** घातिया कर्म्मनि के निमित्त तै तो
जीव के स्वभाव का घात ही हो है ।
च्यार – प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग,
द्रव्यानुयोग ए **च्यार** अनुयोग है ।
और
चारि – जो ये **चारि** लक्षण कहे तिनि विपै...... ।

(१०) काज – करि मगल करि हौ महाग्रथ करन कौ **काज** ।
कारज – तव यह उत्तम **कारज** थयो ।
और
कार्य – जैसे कोई गुमास्ता साहू के **कार्य** विषै प्रवर्ते है ।

(११) आदि – आहार-**विहारादि** क्रियानि विषै सावधान हो है ।
और
आदिक – **वचनादिक लिखनादिक** क्रिया,
वर्णादिक अरु इन्द्रिय हिया ।

(१२) गुमावै – जैसै तैसै काल **गुमावै** ।
और
गमावै – निरुद्यमी होय प्रमादी यूँ ही काल **गमावै** है ।

(१३) प्रतीति अनावनै } बहुरि **प्रतीति अनावनै** कै अर्थि अनेक युक्ति करि उपदेश दीजिए।

और

प्रतीति करावनै } वस्तु की **प्रतीति करावने** कौ उपदेश दीजिए है।

वचन

आलोच्य साहित्य की भाषा मे एकवचन और बहुवचन का प्रयोग हुआ है। एकवचन से बहुवचन बनाने के लिए 'नि, न, ओं' का प्रयोग किया गया है। एकवचन से बहुवचन बनाने मे अकारान्त, आकारान्त, इकरान्त, ईकारान्त, उकारान्त और ऊकारान्त आदि शब्दो मे कोई विशेष नियम न अपना कर सर्वत्र उक्त प्रत्यय लगा कर ही एकवचन से बहुवचन बना लिये गए है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि जब वे ह्रस्व 'इ, उ' के बाद 'नि' लगा कर बहुवचन बनाते है तब ह्रस्व 'इ, उ' के स्थान पर क्रमश. दीर्घ 'ई, ऊ' कर देते है। नीचे कुछ उदाहरण दिए जा रहे है :–

नि –

अ – तहाँ प्रथम **अरहंतनि** का स्वरूप विचारिए है।

आ – लोक विषै तो राजादिक की **कथानि** विषै पाप का पोषण हो है।

इ – ऐसै तुच्छ **बुद्धीनि** के समझावनै कौ यहु अनुयोग है।

ई – अर **पापीनि** की निन्दा जा विषै होय……।

उ – इन तीन **आयूनि** का अल्प कषाय तै वहुत अर वहुत कषाय तै अल्पस्थिति वंध जानना।

न – तातै **श्रोतान** का विरुद्ध श्रद्धान करने तै बुरा होय।

ओं – जातै जो ऐसा न होइ तो **श्रोताओं** का सन्देह दूर न होई।

कारक और विभक्तियाँ

हिन्दी की व्याकरण की दृष्टि से मीमासा करने वाले ग्रन्थो मे कारक और विभक्ति के सम्वन्ध मे बहुत भ्रम है। कारक और विभक्ति दो अलग-अलग चीजे है। कारको का सम्वन्ध क्रिया से है। वाक्य मे प्रयुक्त विभिन्न पदो का क्रिया से जो सम्वन्ध है, उसे कारक कहते है। इन प्रयुक्त पदो का आपसी सम्वन्ध भी क्रिया के माध्यम से होता है, उनका क्रिया से निरपेक्ष स्वतत्र सबध नही होता। इस प्रकार वाक्य रचना की प्रक्रिया मे कारक एक पद के दूसरे पद से सम्बन्ध-तत्त्व का बोधक है अर्थात् वह यह वताता है कि वाक्य मे एक पद का दूसरे पद से क्या सम्बन्ध है। भाषा मे इस सम्बन्ध को वताने वाली व्यवस्था विभक्ति कहलाती है अर्थात् जिन प्रत्ययो या शब्दो से इस सम्बन्ध की पहिचान होती है उसे विभक्ति कहते है। इस प्रकार विभक्ति भाषा सम्बन्धी व्यवस्था है। पाणिनी ने सात विभक्तियाँ और छह कारक माने है, इसमे एक-एक कारक के लिए एक-एक विभक्ति सुनिश्चित कर दी गई है।

कर्ता — प्रथमा
कर्म — द्वितीया
करण — तृतीया
सम्प्रदान — चतुर्थी
अपादान — पचमी
अधिकरण — सप्तमी

षष्ठी के सम्बन्ध मे उनका स्पष्ट निर्देश है 'शेषे षष्ठी'। सम्वन्ध को वताने के अतिरिक्त दूसरे कारको को बनाने के लिए भी षष्ठी का प्रयोग किया जा सकता है। 'शेषे षष्ठी' का अभिप्राय यही है, परन्तु हिन्दी के व्याकरणो मे सम्बन्ध को कारक मान लिया गया और उसे षष्ठी विभक्ति सुनिश्चित कर दी गई। इसी प्रकार सबोधन को भी एक विभक्ति दी जाती है जो कि सरासर गलत है। जहाँ तक कारको के ऐतिहासिक विकास का सम्बन्ध है, कारको की

स्थिति प्रत्येक भाषा मे अपरिवर्तनशील है, क्योकि उनका सम्बन्ध वाक्यों मे प्रयुक्त पदो की विवक्षा से है। हॉ, इस विवक्षा को बताने वाली भाषाई व्यवस्था मे विनिमय या परिवर्तन सभव है। उदाहरण के लिए जब हम कहते है कि सस्कृत के बाद प्राकृत–अपभ्रश मे कर्ता, कर्म और सम्बन्ध की विभक्तियो का लोप हो गया तो इसका अर्थ यह नही है कि इन कारकों का लोप हो गया, कारक तो ज्यो के त्यों है, हाँ, उनकी सूचक विभक्तियो या प्रत्ययो का लोप हो गया अर्थात् बिना भाषा सम्वन्धी प्रत्ययों के ही उनके कारक तत्त्व का प्रत्यय (ज्ञान) हो जाता है।

आलोच्य साहित्य मे नीचे लिखे अनुसार कारक चिह्नो और विभक्तियों के प्रयोग मिलते है –

कर्ता

कर्ता कारक मे विभक्ति का प्राय: लोप मिलता है। जैसे .–

(१) **जीव** नवीन शरीर धरै है।

(२) **राजा** और **रंक** मनुष्यपने की अपेक्षा समान है।

(३) **जे** केवलज्ञानादि रूप आतमा को अनुभवै हैं, ते मिथ्यादृष्टि है।

(४) **वैद्य** रोग मेट्या चाहै है।

(५) **मैं** सिद्ध समान शुद्ध हूँ।

(६) **वह** तपश्चरण को वृथा क्लेश ठहरावै है।

(७) **तुम** कोई विशेष ग्रथ जाने हो तो मुझ को लिख भेजना।

(८) **तुम** प्रश्न लिखे तिसके उत्तर अपनी बुद्धि अनुसार लिखिए है।

(९) **तुम** तीन दृष्टान्त लिखे।

(१०) जिहि **जीव** प्रसन्न चित्त करि इस चेतन स्वरूप आतमा की बात भी सुनी है, सो निश्चय करि भव्य है।

(११) बहुरि **तै** कह्या सो सत्य...... ...।

इसके अपवाद भी मिलते है। जैसे –

(१) **तुमने** प्रत्यक्ष-परोक्ष सम्बन्धी प्रश्न लिखे।
(२) **तिनिने** तिस मगल करनेवाले की सहायता न करी।
(३) तातै **तुमने** जो लिख्या था······ ··।
(४) **हमने** स्वप्न विषै वा ध्यान विषै फलाने पुरुष को प्रत्यक्ष देखा।
(५) स्वानुभव और प्रत्यक्षादिक सम्बन्धी प्रश्न **तुमने** लिखे थे।

कर्म

कर्म कारक मे 'को, को, कौ, कूँ, ओ' के प्रयोग मिलते है। कही-कही कर्म कारक मे भी विभक्ति का लोप देखा जाता है।

को – (१) तत्त्व ज्ञान **को** पोषते अर्थनिको धरेगे।
(२) मै सर्व **को** स्पर्शू, सर्व **को** सूँघूँ, सर्व **को** देखूँ, सर्व **को** सुनूँ, सर्व **को** जानूँ।
(३) आप**को** आप अनुभवै है।
(४) ता**को** भी मद करै है।

को – (१) अनत वीर्य करि ऐसी सामर्थ्य **कों** धारे है।
(२) जुदाई **कों** नाहि विचारे।
(३) जो उन**कों** मानै पूजै तिस सैती कौतुहल किया करै।

कौ – तिनि**कौं** तिन पदनि का अर्थज्ञान होने के अर्थि धर्मानुराग वश तै······ ···।

कूँ – (१) धन **कूँ** चुराय अपना माने।
(२) तातै ऐसी इच्छा **कूँ** छोरि·· ·····।
(३) मो**कूँ** बताय देना।
(४) सर्व **कूँ** स्वादूँ।

ओ – कही अनिष्टपनो मानि दिलगीर हो है।
विभक्ति का लोप – काष्ठ पाषाण की **मूर्ति** देखि, तहाँ विकाररूप होय अनुराग करै।

करण

करण कारक मे 'तैं, करि, स्यौं, सेती' प्रत्यय प्रयोग में लाये गए है :–

तैं – (१) मुनि धर्म साधन **तैं** च्यारि घाति कर्मनि का नाश भये…।

(२) ते तो मो**तैं** बने नाही।

(३) नमो ताहि जा**तैं** भये अरहंतादि महान।

(४) संस्कार के बल **तैं** तिनका साधन रहे है।

(५) मुख में ग्रास धर्‍या ताको पवन **तैं** निगलिए है।

(६) या कारण **तैं** यहाँ प्रथम मगल किया।

करि – (१) जा **करि** सुख उपजै वा दु:ख विनशै तिस कार्य का नाम प्रयोजन है।

(२) तिनका संक्लेश परिणाम **करि** तो तीव्र बंध हो है।

(३) बन्धन **करि** आत्मा दुखी होय रह्या है।

(४) जीभ **करि** चाख्या, नासिका **करि** सूंघ्या।

(५) अरहंतादिकनि **करि** हो है।

(६) ता **करि** जीवनि का कल्याण हो है।

स्यौं – (१) सुख **स्यौं** ग्रन्थ की समाप्ति होइ।

(२) राजा **स्यौं** मिलिए।

(३) शरीर **स्यौं** सम्बन्ध न छूटै।

सेती – जो उनकों मानै पूजै तिस **सेती** कौतूहल किया कर।

सम्प्रदान

सम्प्रदान कारक में 'के अर्थि' का बहुत अधिक प्रयोग हुआ है। 'कौ, को, ताईं' के प्रयोग भी यत्र-तत्र हुए है :–

के अर्थि–(१) नमस्कार अरहंतनि **के अर्थि**।

(२) श्रीगुरु तो परिणाम सुधारने **के अर्थि** बाह्य क्रियानि कों उपदेशैं है।

(३) या प्रकार याके सम्यग्दर्शन **के अर्थि** साधन करते भी सम्यग्दर्शन न हो है।

(४) जैन शासन **के अर्थि** ऐसौ सम्प्रदान जानिए ।

(५) भव्यनि **के अर्थि** किया ऐसे सम्प्रदान है ।

को – ताके दिखावने **को** प्रतिबिब समान है ।

को – जे कर्म बाधे थे, ते तो भोगे बिना छूटते नाही तातै मो**कों** सहने आए ।

ताई – किसी विशेष ज्ञानी से पूछ कर तिहारे **ताई** उत्तर दूंगा ।

अपादान

अपादान कारक मे 'तै, करि' का प्रयोग प्राप्त होता है –

तै – (१) क्षुधा-तृषा आदि समस्त दोषनि **तै** मुक्त होय देवाधिदेवपना को प्राप्त भये ।

(२) ग्रथही **तै** भयो ग्रथ यहु अपादान ।

(३) आन काज छूटने **तै** भयो यहु काज,
सोई अपादान नाम ऐसे जानत सुजान है ।

करि – सर्व रागद्वेषादि विकार भावनि **करि** रहित होय शातरस रूप परिणए है ।

सम्बन्ध

सम्बन्ध का ज्ञान कराने के लिए 'का, की, के, कै, को, कौ, कौ, का प्रयोग पाया जाता है :–

का – (१) जिनकै प्रतिपक्षी कर्मनि **का** नाश भया ।

(२) स्त्री **का** आकाररूप काष्ठ, पाषाण की मूर्ति देखि, तहाँ विकाररूप होय अनुराग करै ।

की – (१) तिन सबनि **की** ऐसी अवस्था हो है ।

(२) काष्ठ, पाषाण **की** मूर्ति देखि, तहाँ विकाररूप होय अनुराग करै ।

(३) ता **की** सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका भाषामय टीका सुखकार ।

(४) लब्धिसार **की** टीका करी, भाषामय अर्थनि सो भरी ।

भाषा

के – आत्मा **के** बाह्य सामग्री का सम्बन्ध बनै है।

कै – (१) बहुरि जिन **कै** प्रतिपक्षी कर्मनिका अभाव भया।

(२) संशयादि होते किछू जो न कीजिए ग्रंथ,
तो छद्मस्थनि **कै** मिटै ग्रंथ करन को पंथ।

(३) जौ कषाय उपजाय **कै** धरै अर्थ विपरीत,
तौ पापी है आप ही आज्ञा भंग अभीत।

को – करि मंगल करि हौ महाग्रथ करन **को** काज।

कौ – (१) या **कौं** अवगाहे भव्य पावे भवपार है।

(२) इनकी संदृष्टिनि **कौ** लिखिकै स्वरूप।

कौ – (१) समकित उपशम क्षायिक **कौ** है बखान।

(२) सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका धरचौ है या **कौ** नाम।

(३) लग्यो है अनादि तैं कलंक कर्ममल **कौ**।
ताही कौ निमित्त पाय रागादिक भाव भये।
भयो शरीर **कौ** मिलाप जैसे खल **कौ**॥

अधिकरण

अधिकरण कारक में 'विषै' विभक्ति का बहुत प्रयोग हुआ है।
इसके अतिरिक्त 'इ, मे' के भी प्रयोग मिलते है :-

विषै – (१) त्रिलोक **विषै** जे अकृत्रिम जिनबिब बिराजे हैं।

(२) पांच ग्रामनि **विषैं** जावो परन्तु एक दिन **विषैं** एक ही ग्राम को जावो।

(३) एक भेद **विषै** भी एक विषय **विषै** ही प्रवृत्ति हो है।

(४) मुनिधर्म **विषै** ऐसी कषाय सभवै नाही।

(५) लोक **विषै** भी स्त्री का अनुरागी स्त्री का चित्र बनावै है।

(६) जैनश्रुत **विषै** यहु अधिकरण प्रमानिए।

(७) सो महत पुरुष शास्त्रनि **विषै** ऐसी रचना कैसे करै ?

(८) सूधी भाषा **विषै** होय सकै नाही ।

इ – इ बीचि आवे तो उनकौ भी बुरा कहै ।

मे – जामें अपना हित होय ऐसे कार्य कौ कौन न करेगा ?

क्रियापद

'धातु' मूल रूप है, जो किसी भाषा की क्रिया के विभिन्न रूपो मे पाया जाता है । जा चुका है, जाता है, जायगा – इत्यादि उदाहरणो मे 'जाना' समान तत्त्व है । धातु से काल, पुरुष और लकार से बनने वाले रूप क्रियापद है ।

आलोच्य साहित्य की भाषा मे क्रियापदो की स्थिति स्पष्ट और सरल है । मुख्य रूप से उन्हे तीन वर्गो मे रखा जा सकता है –

(क) प्रथम वर्ग मे सस्कृत की साध्यमान क्रियाओ से बनने वाली क्रियाएँ तथा सस्कृत सज्ञापदो से बनने वाली क्रियाएँ आती है । सज्ञापदो से बनने वाली क्रियाओ को हम 'नाम धातु' नही कह सकते, क्योकि इनमे व्यक्तिवाचक सज्ञाओं की अपेक्षा भाववाचक सज्ञाओ का प्रयोग होता है । जैसे – 'अनुभव से अनुभवै है', अनुभव करने के अर्थ मे एव 'आदर से आदरै है', आदर करने के अर्थ मे प्रयोग हुए है ।

खडी बोली मे जहाँ ऐसे सज्ञा शब्दों के साथ 'कर' जोड कर सयुक्त क्रिया से काम चलाया जाता है, वहाँ आलोच्य साहित्य की भाषा मे मूल शब्दो से ही क्रिया बना ली जाती है ।

(ख) इनके अतिरिक्त जो देशी धातुएँ मिलती है, वे दूसरे वर्ग मे आती है । इनमे कई क्रियाएँ ऐसी है जिनके मूल स्रोत को सस्कृत धातु की साध्यमान प्रकृति से खोजा जा सकता है, परन्तु ऐसी धातुएँ प्राय· प्राकृत विकास परम्परा से

आई है। ये एक तरह से तद्भव रूपो से बनी हुई है। जैसे – 'उपजे है', यह रूप 'उत्पद्यते' से आया है। हम इन्हे यहाँ देशी मान कर ही चल रहे है। कुछ शुद्ध देशी क्रियाएँ भी पाई जाती है। जैसे – निगलिए, खोसे, कुमावे, आदि।

(ग) तीसरे वर्ग में वे प्रेरणार्थक क्रियाएँ आती है जो उक्त दोनों प्रकार के क्रियापदों मे प्रेरणार्थक 'आ' जोड़ कर ही बना ली गई है। जैसे – लिख से लिखाना, पढ से पढाना, परिणम से परिणमाना, कर से कराना, आदि। कुछ क्रियाएँ शुद्ध प्रेरणार्थक भी है। जैसे – बताना आदि।

इनके अतिरिक्त एक-दो विदेशी क्रियाएँ भी प्राप्त हुई है। जैसे – बक्सी (भेट दी)। कई स्थानो पर एक 'धातु' के एक ही अर्थ मे अनेक प्रकार के रूप भी बनाये गए है। जैसे – 'कर' धातु से करिए है, कीजिए है, करै है, करौ हौ, आदि वर्तमान काल के रूप मिलते है। इसी प्रकार देशी क्रिया 'बनाना' के वर्तमान काल मे ही बनाइये है, बनावै है, बनाऊँ हूँ, रूप प्राप्त होते है।

संस्कृत की साध्यमान (विकरण) क्रियाओ से बनने वाली कुछ क्रियाएँ सोदाहरण नीचे दी जा रही है :–

(१) कर	१. करिहौ	करि मंगल **करिहौ** महाग्रन्थ करन को काज।
	२. करिए है	तहाँ मगल **करिए है**।
	३. कीजिए है	चितवन **कीजिए है**।
	४. करेंगे	सज्जन हास्य नाही **करेंगे**।
	५. करै है	ताकौ भी मद **करै है**।
	६. करौ हौ	टीका करने का उद्यम **करौ हो**।
	७. कीन्हो	हम कछु **कीन्हों** नाहि।
	८. कीनौ	ऐसे **कीनौ** बहुरि विचारि।

(२)	निरूप	निरूपिए है	स्वरूप **निरूपिए** है।
(३)	धार	१ धारै है	सामर्थ्य को **धारै** है।
		२. धारौ	ते इस भाषा टीका तै अर्थ **धारौ**।
(४)	साध	१ साधै है	जे आत्मस्वरूप को **साधै** हैं।
		२ सधै है	स्वयमेव ही **सधै** है।
(५)	मान	१. मानै है	अपने **मानै** है।
		२. मानेंगे	ऐसै तो **मानेंगे**।
(६)	परिणय	परिणए है	शान्त रसरूप **परिणए** है।
(७)	परिणाम	परिणमै है	दिव्यध्वनि रूप **परिणमै** है।
(८)	प्रवर्त	प्रवर्त्तै है	परम्परा **प्रवर्त्तै** है।
(९)	भास	भासै है	प्रधानता **भासै** है।
(१०)	प्रतिभास	प्रतिभासै है	तिनके स्वभाव ज्ञान विषै **प्रतिभासै** है।
(११)	बस	बसै है	वनखडादि विषै **बसै** है।
(१२)	स्पर्श	स्पर्शूं	मै सर्व को **स्पर्शूं**।
(१३)	अवलोक	अवलोकै है	सामान्यपनै **अवलोकै** है।
(१४)	दीस	दीसै	औरनिको **दीसै** यहु तपस्वी है।
(१५)	लिख	लिखिए है	प्राकृत सस्कृत पद **लिखिए** है।
(१६)	सुन	१. सुनै है	कैई **सुनै** है।
		२. सुनिए है	बहुत कठिनता **सुनिए** है।
		३. सुनूँ	सर्व को **सुनूँ**।
(१७)	विचार	विचारिये है	अब अरहतनि का स्वरूप **विचारिये** है।
(१८)	ध्या	१ ध्याइये है	अब सिद्धनि का स्वरूप **ध्याइये** है।
		२. ध्यावै है	अपने स्वरूप को **ध्यावै** है।
(१९)	अवलोक	अवलोकिए है	अब आचार्य उपाध्याय साधुनि का स्वरूप **अवलोकिए** है।

भाषा		
(२०) कह	१ कहिये है	तिन सबनि का नाम आचार्य **कहिये है।**
	२. कहै है	कोई **कहै है।**
	३. कह्या है	सोई **कह्या है।**
(२१) बिराज	बिराजै है	अब सिद्धालय विषै **बिराजै है।**
(२२) बध	बंधी थी	पूर्वे असाता आदि पाप प्रकृति **बंधी थी।**
(२३) रच	१. रचे	द्रव्यानुयोग के **ग्रंथ रचे।**
	२. रचिए है	मोक्षमार्ग प्रकाशक नाम शास्त्र **रचिए है।**
(२४) वर्त्त	वर्तै है	हमारे बुद्धि अनुसार अभ्यास **वर्तै है।**
(२५) पाल	पालै है	अठाईस मूल गुणनिको अखण्डित **पालै है।**
(२६) सह	सहै है	बाईस परीषहनि को **सहै है।**
(२७) सम्भव	सम्भवै है	वीतराग विज्ञानभाव **सम्भवै है।**
(२८) पोष	पोषै है	अन्य कार्यनि करि अपनी कषाय **पोषै है।**
(२९) शोभ	शोभै	ताको वक्तापनो विशेष **शोभै।**
(३०) विचार	१. विचारै है	अंतरंग विषै बारबार **विचारै है।**
	२ विचारो हो	टीका करने **विचारों हों।**
(३१) सुन	सुनै है	जिस अर्थ कौ **सुनै** है।
(३२) अवधार	अवधारै है	ताको यथावत् निश्चय जानि **अवधारै है।**
(३३) प्रकाश	प्रकाशै है	सो यह भी ग्रथ मोक्षमार्ग को **प्रकाशै है।**
	प्रकाशोगा	बुद्धि अनुसार अर्थ **प्रकाशोंगा।**

(३४)	डर	डरै है	कथादिक सुनै पापते **डरै है**।
(३५)	दा	१ दीजिए	दान **दीजिए**।
		२ दे है	अधर्मी को दण्ड **दे है**।
		३ देते है	धर्मोपदेश **देते** है।
		४ देते भये	दिव्यध्वनि करि उपदेश **देते भये**।
(३६)	सेव	१ सेवे है	उत्तम जीव **सेवे** है।
		२. सेवेगे	विषयादिक **सेवेगे**।
(३७)	घात	घातै	जीव के स्वभाव को **घातै**।
(३८)	चल	चालै	हालै **चालै**।
(३९)	जीव	जीवैगा	यह जिवाया **जीवैगा** नाही।
(४०)	बखान	बखानिए	आन कौ विधान न **बखानिए**।
(४१)	अनुसर	अनुसरै है	जिन महिमा **अनुसरै** है।
(४२)	चुनना	चुनै है	तातै ग्रथ गुथने कौ भले वर्ण **चुनै** है।
(४३)	बध (बढना)	बधै	यह शक्ति तो ज्ञानदर्शन बधे **बधै**।
(४४)	उपदेश	उपदेशै है	श्रीगुरु तौ परिणाम सुधारने के अर्थि बाह्य क्रियानिको **उपदेशै है**।
(४५)	पूछ	पूछै	इहाँ कोऊ **पूछै** कि…।
(४६)	विस्तर	विस्तरे है	नाना विध भाषा रूप होय **विस्तरे** है।
(४७)	पढ	पढै है	शास्त्रनिकौ आप **पढै** है।
(४८)	मिल	१ मिलै है	इन्द्रियसुख को कारणभूत सामग्री **मिलै** है।
		२ मिलावै	सामग्री कौ **मिलावै**।
(४९)	धर	१ धरचो	नाम **धरचो** तिन हर्षित होय।
		२ धरैगे	वीतराग तत्त्वज्ञान को पोषते अर्थनि कौ **धरैगे**।

(५०)	प्रगट	प्रगटै है	प्रकाश **प्रगटै** है।
(५१)	निर्जर	निर्जरै है	एक समयप्रबद्ध मात्र **निर्जरै** है।
(५२)	निकस	निकसै है	छस्से आठ जीव **निकसै** है।
(५३)	उथाप	उथापै है	पूजा प्रभावनादि कार्य कौ **उथापै** है।
(५४)	अनुभव	अनुभवै है	परमानन्दकौ **अनुभवै** है।
(५५)	आदर	आदरै है	बारह प्रकारतपनि कौ **आदरै** है।
(५६)	विनश	विनशै	जा करि सुख उपजै व दु:ख **विनशै**।
(५७)	अनुसर	अनुसरे है	सभा माहि ऐसी जिनमहिमा **अनुसरे** है।
(५८)	स्वाद	स्वादूँ	सर्व कौ **स्वादूँ**।

आलोच्य साहित्य में देशी क्रियाओ के निम्नलिखित रूप पाए जाते है :–

(१)	चाह	चाहै है	रागद्वेष भाव कौ हेय जान करि दूर किया **चाहै** है।
(२)	उपज	१. उपजै है	ऐसा सन्देह **उपजै** है।
		२. उपज्यौ	**उपज्यौ** मानुष नाम कहाय।
(३)	देख	१. देखिए है	ताकै भी दुख **देखिए** है।
		२. देखूँ	सर्व कौ **देखूँ**।
(४)	जान	१. जानै है	प्रत्यक्ष **जानै** है।
		२. जानूँ	सर्व कौ **जानूँ**।
		३. जानने	ते सर्व मुनि साधु सज्ञा के धारक **जानने**।
(५)	पकर	पकरै	कौऊ शरीर को **पकरै** तौ आत्मा भी पकरचा जाय।

(६)	निगल	निगलिये	मुखमे ग्रास धर्‌या ताकौ पवनतै **निगलिये**।
(७)	चाब	चाबै	जैसे कूकरा हाड **चाबै**।
(८)	बनाना	१. बनावै है	गूँथि करि गहना **बनावै है**।
		२. बनाऊँ हूँ	बुद्धि अनुसारि गूँथि ग्रथ **बनाऊँ हूँ**।
		३. बनाये	तिन ग्रथनि तै अन्य ग्रंथ **बनाये**।
		४. बनाइये है	तातै यह स्तोक सुगम ग्रथ **बनाइये है**।
(९)	गूंथ	१. गूँथै है	अग्रप्रकीर्णक ग्रंथ **गूँथै है**।
		२. गूँथूँ हौ	नाही **गूँथूँ हौ**।
(१०)	काढ	काढिये है	मलादिक पवन तै ही **काढ़िये है**।
(११)	खोस	खोसै	कवहूँ **खोसै**।
(१२)	बनना	बनै है	वाह्य नाना निमित्त **बनै है**।
(१३)	देख	देखिये है	विघ्न का नाश होते **देखिये है**।
(१४)	आना	आवै है	अनेक काल विषै पूर्व बधै कर्म एक कालविषै उदय **आवै है**।
(१५)	रह	रहेगे	भविष्यकाल मे हम सारिखे भी ज्ञानी न **रहेंगे**।
(१६)	कूट	कूटै है	तू कण छोडि तुस ही **कूटै है**।
(१७)	फैलना	फैलै है	सहज ही वाकी किरण **फैलै है**।
(१८)	लागना	लागै है	उपयोग विशेष **लागै है**।
(१९)	कुमावना	कुमाए	विना **कुमाए** भी धन देखिए।
(२०)	मीड़ना	मीड़ै	साँची झूँठी दोऊ वस्तुनि को **मीड़ै**।
(२१)	हापटा मारना	हापटा मारै है	वहुरि वाको छोडि और को ग्रहै, ऐसे **हापटा मारै है**।

(२२)	सेय	सेइए	हित का कर्ता जानि **सेइए** ।
(२३)	पहिराव	पहिरावै	कबहूँ नवा **पहिरावै** ।
(२४)	बोल	बोलै	मरमच्छेद गाली प्रदानादि रूप वचन **बोलै** ।
(२५)	धुनना	धुनै है	सर्व कर्म **धुनै** है ।
(२६)	मिटना	मिटै	तो छद्मस्थनि कै **मिटै**, ग्रथ करन को पथ ।
(२७)	लगना	लग्यो है	**लग्यो** है अनादि तै कलंक कर्म मल कौ ।
(२८)	सूघ	सूँघूँ	सर्व कौ **सूँघूँ** ।
(२९)	पहिचान	पहिचानिए	भया यहु ग्रंथ सोई कर्म **पहिचानिए** ।
(३०)	ठिग	ठिगावै	कोई भोला होय सौ ही मोती नाम करि **ठिगावै** ।

प्रेरणार्थक क्रियाओ के निम्नलिखित रूप पाए जाते है :–

(१)	परिणमना	परिणमावै	पुण्य प्रकृति रूप **परिणमावै** ।
(२)	ठहराना	ठहरावै	वह तपश्चरण को वृथा **ठहरावै** ।
(३)	अनाना	अनाइये	याको प्रतीति **अनाइये** है ।
(४)	अनावना	अनावै	तिस उपाय की ताकौ प्रतीति **अनावै** ।
(५)	कराना	१. करावै है	संयोग **करावै** है ।
		२. करावौ	जैसै बने तैसै शास्त्राभ्यास **करावौ** ।
(६)	लिखाना	लिखावौ	लिखौ **लिखावौ** बाचौ पढौ ।
(७)	पढाना	पढ़ावै	अन्य धर्मबुद्धीनिकौ **पढ़ावै** ।
(८)	द्याव	द्यावने	दुख **द्यावने** की जो इच्छा है सो कषायमय है ।

(९) बताना	बताइये है	प्रथम ही कर्मबन्धन को निदान **बताइये है** ।
(१०) दिखाना	१. दिखाइये है	ताका सार्थकपना **दिखाइये है** ।
	२. दिखाया	सो ताको मिथ्या **दिखाया** ।
(११) मिलना	मिलावै	असत्यार्थ पदनि को जैन शास्त्रनि विषै **मिलावै** ।
(१२) बनाना	बनावै है	अर ताही के अनुसार ग्रथ **बनावै है** ।
(१३) राख	राखूँगा	मै तो बहुत सावधानी **राखूँगा** ।
(१४) लजाना	लजावै	जिनधर्म को **लजावै** ।
(१५) भ्रमाना	भ्रमावै है	अपने उपयोग को बहुत नाही **भ्रमावै है** ।

निम्नलिखित विदेशी क्रियाएँ भी पाई जाती है –

(१) बक्सना (देना)	१. बक्सी	राजा मौकूँ **बक्सी** ।
	२. बक्से	पीछै राजा **बक्से** तो ग्रहण करना ।
	३. बक्सै	पीछै ठाकुर **बक्सै** तो ग्रहण कीजै ।

वर्तमानकालिक क्रिया

पडित टोडरमल ने अपने साहित्य की भाषा मे मूल साध्यमान (विकरण) धातु एव सज्ञापदो के साथ 'है' सहायक क्रिया के रूप जोड कर वर्तमान काल के रूप बनाए है, किन्तु मूल धातु या सज्ञा शब्द के अन्त मे तथा सहायक क्रिया के पहिले 'ऐ, इए, औ, ऊँ' प्रत्यय लगाए है। जैसे 'कर' साध्यमान धातु मे 'ऐ' प्रत्यय जोड़ कर और 'है' सहायक क्रिया लगाकर 'करै है' रूप बनाया है, जबकि मूल में सस्कृत 'करोति' से 'करई, करै' रूप बनता है, किन्तु आलोच्य भाषा मे मात्र 'करै' कालबोध नही देता, अतः इसमे 'है' सहायक क्रिया लगाना

आवश्यक हो जाता है। साध्यमान धातु से यहाँ प्रायः इसी प्रकार क्रियाएँ बनाई गई है। कही-कही सहायक क्रिया के बिना भी काम चलाया गया है। 'ओ, ऊँ' प्रत्ययो का प्रयोग उत्तम पुरुष एकवचन में किया गया है। उक्त रूपों के कुछ उदाहरण नीचे दिए जा रहे है :-

ऐ -	कर+ऐ+है=करै है	ताको भी मंद **करै है**।
	धार+ए+है=धारै है	सामर्थ्य को **धारै है**।
इए -	लिख+इए+है=लिखिए है	प्राकृत संस्कृत पद **लिखिए है**।
	सुन+इए+है=सुनिए है	बहुत कठिनता **सुनिए है**।
ओं -	कर+ओ+हौ=करों हौ	टीका करने का उद्यम **करों हौं**।
	विचार+ओ+हौ=विचारो हौ	टीका करने **विचारों हौं**।
ऊँ -	गूँथ+ऊँ+हूँ=गूँथूँ हूँ	नाही **गूँथूँ** हूँ।

निम्न उदाहरणों में सहायक क्रिया का प्रयोग नही किया गया है :-

स्वाद+ऊँ=स्वादूँ	सर्व कौ **स्वादूँ**।
स्पर्श+ऊँ=स्पर्शूं	सर्व कौ **स्पर्शूं**।
बध+ए=बधै	यह शक्ति ज्ञानदर्शन बधे **बधै**।
पूछ+ए=पूछै	यहाँ कोऊ **पूछै**।
विनश+ए=विनशै	जा करि सुख उपजै व दुख **विनशै**।
निगल+इए=निगलिए	मुख में ग्रास धर्या ताकौ पवन तै **निगलिए**।
चाव+ए=चावै	जैसे कूकरा हाड **चावै**।
बोल+ए=बोलै	मरमच्छेद गाली प्रदानादि रूप बचन **बोलै**।

भूतकालिक क्रिया

भूतकाल सम्बन्धी रूप 'ई, आ, ए, ऐ, औ' प्रत्यय जोड कर बनाये गए है। कही-कही 'थी, था, थे' सहायक क्रिया के रूप भी लगाये गए है। सामान्य भूत के रूप 'या, ए, ई, यो' प्रत्यय जोड़ कर

बना लिये गए है। कही-कही 'या' के साथ 'हुआ है' भी लगा दिया गया है और कही-कही 'या' के स्थान पर 'आ' भी लगा हुआ है। उदाहरण इस प्रकार है :–

बध+ई+थी=बधी थी	पूर्वे असाता आदि पाप प्रकृति **बंधी थी**।
रच+ए=रचे	द्रव्यानुयोग के ग्रथ **रचे**।
बक्स+ई=बक्सी	राजा **बक्सी**।

सामान्यभूत सम्बन्धी उदाहरण निम्नानुसार हैं –

देख+या=देख्या	नृत्य **देख्या**।
सुन+या=सुन्या	राग **सुन्या**।
सूँघ+या=सूघ्या	फूल **सूँघ्या**।
जान+या=जान्या	स्वाद **जान्या**।
स्पर्श + आ = स्पर्शा	पदार्थ **स्पर्शा**।
ग्रह + या + हुआ = ग्रह्या हुआ	मुखद्वार करि **ग्रह्या हुआ** भोजन……।
उपदेश + या = उपदेश्या	सम्यग्दृष्टि जीव **उपदेश्या** सत्य वचन को श्रद्धान करे है।
मु (मरना) + ए = मुए	**मुए** पीछै हमारा यश होगा।
भू + ए = भए	बिराजमान **भए**।
भू + ई = भई	प्रारभी अर पूरण **भई**।
भू + यो = भयो	सफल मनोरथ **भयो** हमारो।
उपज + यो = उपज्यो	**उपज्यो** मानुष नाम कहाय।
धर + यो = धरचो	नाम **धरचो** तिन हर्षित होय, टोडरमल्ल कहै सब कोय।

भविष्यकालिक क्रिया

भविष्यकाल के रूप आलोच्य साहित्य की भाषा में खड़ी बोली के समान 'गा, गे, गी' लगा कर ही बनाये गए है, किन्तु 'गा, गे, गी' प्रत्ययो के पूर्व मूल धातु के अन्त मे 'ए, ए, ऐं, ओ, औ, ऊँ' का प्रयोग पाया जाता है। इनके अतिरिक्त 'सी, स्यूँ, हो' प्रत्ययों का प्रयोग भी मिलता है। कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे है :–

मान + ए + गे = मानेंगे	ऐसै तो **मानेंगे**।
प्रकाश + ओं + गा = प्रकाशोगा	बुद्धि अनुसार अर्थ **प्रकाशोंगा**।
सेव + एं + गे = सेवेंगे	विषयादिक **सेवेंगे**।
जीव + ए + गा = जीवेगा	यह जिवाया **जीवेगा** नाही।
रह + एं + गे = रहेगे	भविष्यकाल मे हम सरीखे भी ज्ञानी न **रहेंगे**।
कर + ऐं + गे = करेगे	ऐसैं विचारि हास्य न **करेंगे**।
कर + ए + गा = करेगा	ऐसै कार्य कौन न **करेगा**।
लिख + औ + गा = लिखौगा	उपचार करि मै **लिखौगा**।
कर + इ + हौ = करिहौ =	कर मंगल **करिहौ** महाग्रंथ करन को काज।
राख + ऊँ + गा = राखूँगा	मै तो बहुत सावधानी **राखूँगा**।
हो + स्यूँ = होस्यूँ	एक हूँ बहुत **होस्यूँ**।
हो + सी = होसी	इससे इतना तो **होसी** नरकादिक न **होसी** स्वर्गादिक **होसी** परन्तु मोक्षमार्ग की प्राप्ति तो होय नाही।

आज्ञार्थ क्रिया

आज्ञार्थ रूप बनाने के लिए 'ओ, औ, ने, ना, हु' प्रत्यय प्रयोग किये गए है :-

(१) लिख + औ = लिखौ
(२) लिखाव + औ = लिखावौ
(३) वाच + औ = बाचौ
(४) पढ + औ = पढौ
(५) सोध + ओ = सोधो
(६) सीख + औ = सीखौ
(७) बढ + औ = बढौ
(८) हर + औ = हरौ
(९) विचार + औ = विचारौ
(१०) कर + औ = करौ

लिखौ लिखावौ बाँचौ पढ़ौ,
सोधो सीखौ रुचिजुत **बढ़ौ** ।
दुखदायक रागादिक **हरौ,**
अर्थ **विचारौ** धारण **करौ** ।।

जान + ने = जानने — ते सर्व मुनि साधु सज्ञा के धारक **जानने** ।

जान + ना = जानना — तिनकी सुश्रुषा का निषेध किया है, सो **जानना** ।

धार + औ = धारौ — ते इस भाषाटीका तै अर्थ **धारौ** ।

जान + हु = जानहु — बहुरि लोभी पुरुषनिको दान देना जो होय, सो शव जो मरचा ताका विमान जो चकडोल ताकी शोभा समान **जानहु** ।

पूर्वकालिक क्रिया

पूर्वकालिक क्रियाएँ साध्यमान (विकरण) धातु सज्ञा शब्दो मे 'इ, आय' प्रत्यय जोड कर बनाई गई है । सर्वाधिक प्रयोग 'इ' के मिलते है –

कर + इ = करि	**करि** मगल करिहौ महा, ग्रंथ करन को काज । जातैं मिलै समाज सब, पावै निज पद राज ॥
त्याग + इ = त्यागि	गृहस्थपनौ **त्यागि** मुनिधर्म अगीकार करि……।
विचार + इ = विचारि	अपना प्रयोजन **विचारि** अन्यथा प्ररूपण करै तो राग-द्वेष नाम पावै ।
बन + आय = बनाय	ते झूठी कल्पित युक्ति **बनाय** विषय-कषायाशक्त पापी जीवनि करि प्रगट किए है ।
पा + आय = पाय	प्रधान पद कौ **पाय** संघ विषैं प्रधान भये ।
गा + आय = गाय	**गाय गाय** भक्ति करै ।
उपज + आय = उपजाय	तिनको लोभ कषाय **उपजाय** धर्म कार्यनि विषै लगाइये है ।
चुर + आय = चुराय	साहू के धनकूं **चुराय** अपना मानै तौ गुमास्ता चोर ही कहिए ।

उक्त विवेचन से निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि टीकाओं और मोक्षमार्ग प्रकाशक में प्रयुक्त भाषा परम्परागत तत्कालीन प्रचलित ब्रजभाषा ही है जिसे उन्होंने देशी कहा है, यद्यपि उसमें स्थानीय बोलचाल के शब्दो का भी प्रयोग किया गया है। आध्यात्मिक विद्या का प्रतिपादन होने के कारण इनकी गद्य शैली संस्कृतनिष्ठ है अर्थात् उसमें तत्सम शब्दों के प्रयोग अधिक है। उसकी तुलना में पद्य साहित्य की भाषा मे तद्भव शब्द अधिक है। इसके अतिरिक्त स्थानीय देशी शब्दो का भी प्रयोग है। उर्दू का प्रभाव नगण्य है क्योंकि उसके बहुत कम शब्द मिलते है। इस प्रकार उनकी भाषा में देशी ठाठ है। भाववाचक संज्ञाओं में 'आई, त्व, त्य,

ता, पना, पनो, पने' और कही-कही दुहरे भाववाचक प्रत्ययो का प्रयोग किया है। उत्तम पुरुष एकवचन सर्वनाम में विशेष उल्लेखनीय यह है कि इसमे कर्ता कारक के एकवचन मे 'हौं' का प्रयोग नही है जबकि ब्रजभाषा मे यह प्रयोग मिलता है। इसके स्थान पर आलोच्य भाषा मे खडी बोली का 'मै' मिलता है। कर्ता कारक मे 'ने' कही-कही ही मिलता है। आलोच्य भाषा मे निम्नलिखित परसर्ग (कारक चिह्न) मिलते है :–

कर्ता	– ने
कर्म	– को, को, कौ, कूँ, ओ
करण	– तै, करि, स्यौ, सेती
सम्प्रदान	– को, को, ताई, के अर्थि
अपादान	– तै, करि
सम्बन्ध	– का, की, कै, कै, को, कौ, कौ
अधिकरण	– विषै, इ, मे

डॉ० उदयनारायण तिवारी ने ब्रजभाषा के परसर्ग (कारक चिह्न) निम्नानुसार दिए है[1] :–

कर्तृ – ने, नै
कर्म-सम्प्रदान – कुँ, कूँ, कौ, कै, के
करण-अपादान – सो, सूँ, तें, ते
सम्बन्ध – कौ, तिर्यक (पुल्लिग) के, (स्त्रीलिग) की
अधिकरण – में, मै, पै, लौ

दोनो के तुलनात्मक अध्ययन करने से पता चलता है कि आलोच्य भाषा के कर्म कारक मे ब्रजभाषा के अन्य प्रत्ययो के साथ खडी बोली का 'को' भी मिलता है। करण और अपादान कारक मे 'करि' का प्रयोग मिलता है जो कि ब्रजभाषा मे नही है। इसी

[1] हि० भा० उ० वि०, २४४

प्रकार सम्प्रदान कारक में 'के अर्थि' और 'ताई' नये प्रयोग हैं। सम्बन्ध कारक में ब्रजभाषा की अपेक्षा व्यापक प्रयोग हुए हैं, खडी बोली का 'का' पाया जाता है जो कि ब्रज मे नही है। अधिकरण में ब्रजभाषा का 'लौ' और 'पै' न होकर 'विषै' और 'इ' पाया जाता है। प्राय: शेष कारक चिन्ह ब्रजभाषा से मिलते हैं।

पडितजी की भाषा मे खड़ी बोली का भी प्रभाव देखने में आता है। सामान्यभूत मे 'चल्या, जान्या, कह्या' रूप आते है जो खडी बोली के निकट है। कुछ प्रयोग तो सीधे खडी बोली के भी है – जैसे 'स्पर्शा'। शेष प्राय: सभी रूप ब्रजभाषा से मिलते-जुलते है। खड़ी बोली से मिलते-जुलते कुछ अश नीचे दिए जा रहे है :–

"बहुरि मैं नृत्य देख्या, राग सुन्या, फूल सूघ्या, पदार्थ स्पर्शा, स्वाद जान्या तथा मौकौ यहु जानना, इस प्रकार ज्ञेयमिश्रित ज्ञान का अनुभव है, ताकरि विषयनि करि ही प्रधानता भासै है[1]।"

"जैसै बाउलाकौ काहू नै वस्त्र पहराया, वह बाउला तिस वस्त्रकों अपना अग जानि आपकूँ अर शरीरकौ एक मानै। वह वस्त्र पहरावने वाले कै अधीन है, सो वह कबहू फारै, कबहू जोरै, कबहू खौसै, कबहू नवा पहरावै इत्यादि चरित्र करै। वह बाउला तिसकौ अपने आधीन मानै, वाकी पराधीन क्रिया होय तातै महा खेदखिन्न होय[2]।"

उत्तम पुरुष एकवचन क्रिया के रूप निम्नलिखितानुसार पाए जाते हैं, जो खड़ी बोली के अति निकट हैं :–

"मैं सर्व कौ स्पर्शौं, सर्व कौ स्वादौ, सर्व कौ सूँघौ, सर्व कौ देखौ, सर्व कौ सुनौ, सर्व कौ जानौ, सो इच्छा तौ इतनी है अर शक्ति इतनी ही है जो इन्द्रियनि कै सन्मुख भया वर्तमान स्पर्श रस गध वर्ण शब्द तिनि विषै काहू कौ किचिन्मात्र ग्रहै[3]।"

---

[1] मो० मा० प्र०, ६७

[2] वही, ७३

[3] वही, ६८

'होइ' का प्रयोग भी बहुतायत से मिलता है। जैसे – "आयु पूर्ण भए तौ अनेक उपाय करै है, अनेक सहाई **होइ** तौ भी मरन **होइ** ही **होइ**। एक समय मात्र भी न जीवै। अर यावत् आयु पूरी न **होइ** तावत् अनेक कारण मिलौ, सर्वथा मरन न **होइ**। तातै उपाय किए मरन मिटता नाही। बहुरि आयु की स्थिति पूर्ण **होइ** ही **होइ** तातै मरन भी **होइ** ही **होइ**[1]… …।"

'होसी' का प्रयोग भी मिलता है। जैसे – "जो इनिका प्रयोजन आप न बिचारै, तब तौ सूवा का सा ही पढना भया। बहुरि जो इनका प्रयोजन विचारै है, तहाँ पाप कौ बुरा जानना, पुन्य कौ भला जानना, गुणस्थानादिक का स्वरूप जानि लेना, इनका अभ्यास करेंगे, तितना हमारा भला है, इत्यादि प्रयोजन विचारचा सो इसतै इतना तौ होसी– नरकादि न होसी स्वर्गादिक होसी परन्तु मोक्षमार्ग की तौ प्राप्ति होय नाही[2]।"

एक ही क्रिया के अनेक प्रकार के रूप देखने मे आते है। जैसे– 'कर' के वर्तमान काल मे ही 'करिये है, कीजिए है, करै है' रूप मिलते है।

ब्रजभाषा की मृदुता सर्वत्र विद्यमान है। कठोर वर्णो के स्थान पर मृदु वर्णो का प्रयोग हुआ है। 'ड' के स्थान पर 'र' का प्रयोग मिलता है। जैसे – लडिए<लरिए, लडने<लरने, छोड<छोरि, फोडे<फोरे, पकडे<पकरे, थोडा<थोरा।

इस प्रकार पडितजी की भाषा तत्कालीन जयपुर राज्य और पार्श्ववर्ती क्षेत्र मे प्रयुक्त साहित्यभाषा ब्रज है किन्तु उसमे खडी बोली के रूप भी मिलते है तथा स्थानीय पुट भी विद्यमान है। उन्होने अपनी भाषा को जो देशभाषा कहा है वह उक्त अर्थ मे ही है, ढूढाडी के अर्थ मे नही। देशभाषा कह कर उन्होने प्रान्त का बोध न करा के सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश से भिन्नता का बोध कराया है। उनकी भाषा परिमार्जित, सरल एव सुबोध है।

---

[1] मो० मा० प्र० ८८

[2] वही, ३४७

सप्तम अध्याय

उपसंहार : उपलब्धियाँ और मूल्यांकन

उपसंहार : उपलब्धियाँ और मूल्यांकन

भारतीय परम्परा मे धर्म और दर्शन एक दूसरे से अन्त:सम्बद्ध है। उनकी यह अन्त:सम्बद्धता मानव जीवन के अन्तिम लक्ष्य और नैतिक आचरण से सम्बन्ध रखती है। समय के प्रवाह मे लौकिक मूल्यो और आध्यात्मिक मूल्यो मे उतार-चढाव के साथ अन्तर्विरोध की स्थितियाँ भी निर्मित होती रहती है। कभी सूक्ष्म आध्यात्मिक साधनाएँ और विचारधाराएँ वाह्य आडम्बर और धर्म की मिथ्या अभिव्यक्तियों से आच्छन्न हो जाती है और कभी आध्यात्मिकता की अतिवादी शक्तियाँ मनुष्य के जीवन को अकर्मण्य बना कर उसकी समूची ऐहिक प्रगति के पथ को अवरुद्ध कर देती है। जैन धर्म भी इस प्रक्रिया का अपवाद नही।

ईसा की छठी शती के आसपास जिन-परम्परा के श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे बनवासी व चैत्यवासी भेद हो चुके थे तथा कुछ दिगम्बर साधु भी चैत्यो में रहने लगे थे[1]। प्रसिद्ध श्वेताम्बराचार्य हरिभद्र ने मठवासी साधुओं की प्रवृत्ति की कडी आलोचना की है। दिगम्बरो मे भी चैत्यवास की प्रवृत्ति द्राविडसघ की स्थापना के साथ प्रारभ होती है, जो बाद मे मूलसंघ मे भी आ जाती है[2]।

पहिले मठवासी साधु नग्न ही रहते थे, बाद मे उनमे शिथिलाचार बढा और यही से भट्टारकवाद की स्थापना हुई। मुस्लिम राज्यसत्ता ने भी इस प्रवृत्ति को बढावा दिया। आलोच्यकाल तक आते-आते भट्टारकवाद देश के विभिन्न भागो में फैल कर अपनी जडे गहरी और मजबूत बना चुका था। यह युग सभी धर्मो मे वाह्य शिथिलाचार एव साम्प्रदायिक भेद-प्रभेद का युग था। सोलहवी शती में दिगम्बरो मे तारणस्वामी और श्वेताम्बरो मे लोकाशाह ने क्रमशः तारणपंथ एवं

---

[1] भा० स० जै० यो०, ४५

[2] जै० सा० इति०, ४८६

स्थानकवासी सप्रदाय की स्थापना की तथा अठारहवी शती मे आचार्य भिक्षु ने स्थानकवासियो मे से एक तेरहपथ अलग बनाया ।

सत्रहवी-अठारहवी शती मे दिगम्बर परम्परा मे भट्टारकवाद ठाठ-बाट की चरम सीमा पर था और निवृत्तिवाद पर प्रवृत्तिवाद जम कर आसन जमाए बैठा था, जिसने एक तथाकथित आध्यात्मिक सत्तावाद स्थापित कर लिया था – जिसका वास्तविक अध्यात्मवाद से कोई सम्बन्ध न था । सत्रहवी शती मे इसके विरुद्ध विद्रोह का बीडा बनारसीदास ने उठाया । उनके बाद क्राति की इस परम्परा मे पडित टोडरमल का नाम उल्लेखनीय है । क्राति की इस धारा का नाम 'अध्यात्मवाद' और 'तेरापथ' अभिहित किया गया है ।

छठी शती से लेकर सोलहवी शती तक विशाल भारतीय धर्मों के पथो मे भी यथास्थितिवाद और आध्यात्मिक विचारधारा के बीच सघर्ष होते रहे है । आचार्य शकर के वेदान्तवाद और धार्मिक सगठन ने भी इस देश की धार्मिक विचारधाराओ को बहुत दूर तक प्रभावित किया । कुछ आलोचको के अनुसार उनके मठों की स्थापना का प्रभाव भट्टारक प्रथा पर पडा[1] ।

यद्यपि बौद्ध धर्म को नि शेष करने का श्रेय आचार्य शकर को है तथापि परवर्ती काल मे बौद्ध साधना ने नई साधनाओ को जन्म दिया । सिद्ध, नाथ, निर्गुण, सगुण आदि आध्यात्मिक विचारधाराओ मे यह क्रिया-प्रतिक्रिया स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है । जैन धर्म भी इस विशाल आध्यात्मिक उथल-पुथल और वाह्य दबावो का तटस्थ द्रष्टा नही रह सका, उसमे भी इसकी प्रतिक्रिया हुई ।

पडित टोडरमल का समय विक्रम की अठारहवी शती का अन्त एव उन्नीसवी शती का आरभिक समय है । यद्यपि यह समय राजनीतिक दृष्टि से मुगलसत्ता के विघटन का युग था तथापि असगठित हिन्दू राजसत्ता भी इस परिस्थिति का लाभ नही उठा सकी । नादिरशाह दुर्रानी और अहमदशाह की दिल्ली लूट के बाद देश मे केन्द्रीय शासन के अभाव मे

[1] भ० स०, १७

प्रान्तीय स्वायत्तता का भाव अधिक था । यद्यपि पडितजी के समकालीन जयपुर रियासत सम्पन्न एवं सुशासित थी तथापि उनके जीवन तथ्यों से यह प्रमाणित है कि वहाँ भी एक समय साम्प्रदायिक तनाव अवश्य रहा[1]।

साहित्यिक दृष्टि से यह युग रीतिकालीन शृंगार युग था। जैन कवि शृंगारमूलक रचनाओ के कड़े आलोचक थे। वे इसी के समानान्तर आध्यात्मिक ग्रथो के निर्माण में लगे हुए थे। उन्होने प्राचीन प्राकृत-सस्कृत धर्म ग्रन्थों की गद्य मे भाषा वचनिकाएँ लिखी। यद्यपि यह परम्परा पडितजी के दो सौ वर्ष पूर्व से मिलती है तथापि उसे पूर्णता पर उन्होने ही पहुँचाया।

पडितजी के जीवन का पूरा इतिवृत्त नही मिलता है। विभिन्न प्रमाणो के आधार पर इतना निश्चित है कि एकाध अपवाद को छोड कर जयपुर ही उनकी कार्यभूमि था। जयपुर के बाहर वे केवल चार-पाँच वर्ष सिंघाणा रहे। पडितजी ने स्वय लिखा है :–

देश ढूढारह माँहि महान, नगर सवाई जयपुर जान।
तामें ताकौ रहनौ घनो, थोरो रहनो औठे बनो[2]॥

परम्परागत मान्यतानुसार पडितजी की आयु कुल २७ वर्ष की थी परन्तु उनकी साहित्य साधना, ज्ञान एव प्राप्त उल्लेखों को देखते हुए मेरा निश्चित मत है कि वे ४७ वर्ष तक जीवित रहे। उनकी मृत्यु तिथि लगभग प्रमाणित है। अतः जन्म तिथि इस हिसाब से विक्रम सवत् १७७६–७७ में होना चाहिए। वे प्रतिभासम्पन्न, मेधावी और अध्ययनशील थे। उस समय आध्यात्मिक चिन्तन के लिए जो अध्ययन मंडलियाँ थी, उन्हें 'सैली' कहा जाता था। पडितजी को आध्यात्मिक चिन्तन की प्रेरणा जयपुर की तेरापथ सैली से मिली थी। वाद मे वे इस सैली के संचालक भी बने। 'सैली' का लक्ष्य धार्मिक शिक्षा के साथ-साथ न्याय, व्याकरण, छंद, अलंकार, आदि की शिक्षा देना भी था।

---

[1] बु० वि०, १५२–१५७

[2] स० चं० प्र०, छंद ४१

प्राकृत, सस्कृत और हिन्दी के अतिरिक्त उन्हे कन्नड़ भाषा का भी ज्ञान था। मूल ग्रथो को वे कन्नड लिपि मे पढ-लिख सकते थे। उनका कार्यक्षेत्र आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान का प्रचार व प्रसार करना था, जिसे वे लेखन-प्रवचन आदि माध्यम से करते थे। उनका सम्पर्क तत्कालीन आध्यात्मिक समाज से प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से दूर-दूर तक था। अनेक जिज्ञासु उनके सम्पर्क मे आकर विद्वान् बने। उनसे प्रेरणा पाकर कई विद्वानो ने साहित्य सेवा मे अपना जीवन लगाया एव परवर्ती विद्वानो ने उनका अनुकरण किया। वे विनम्र, पर स्वाभिमानी एव सरल स्वभावी थे। वे प्रामाणिक महापुरुष थे। तत्कालीन आध्यात्मिक समाज मे तत्त्वज्ञान सम्बन्धी प्रकरणो मे उनके कथन प्रमाण के तौर पर प्रस्तुत किए जाते थे। वे लोकप्रिय आध्यात्मिक प्रवक्ता थे। गृहस्थ होने पर भी उनकी वृत्ति साधुता की प्रतीक थी।

उन्होंने अपने जीवन मे छोटी-बडी बारह रचनाएँ लिखी, जिनका परिमाण करीब एक लाख श्लोक प्रमाण है – पाच हजार पृष्ठ के करीब। इनमे कुछ लोकप्रिय सैद्धान्तिक एवं आध्यात्मिक ग्रन्थो की भाषाटीकाएँ है – एक है मौलिक ग्रन्थ अत्यन्त लोकप्रिय 'मोक्षमार्ग प्रकाशक'। एक है प्रसिद्ध आध्यात्मिक पत्र जिसे 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी' के नाम से जाना जाता है। पद्य-रचना है 'गोम्मटसार पूजा' जो कि सस्कृत और हिन्दी छदो मे लिखी गई है। एक वर्णनात्मक कृति 'समोसरण वर्णन' है। टीकाग्रन्थो मे कुछ प्राकृत ग्रन्थो की टीकाएँ है और कुछ सस्कृत ग्रन्थो की। प्राकृत ग्रन्थो मे गोम्मटसार जीवकाण्ड, गोम्मटसार कर्मकाण्ड, लब्धिसार-क्षपणासार पर लिखी गई टीकाएँ है, जिनका नाम है 'सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका'। सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका मे आए विषयो को समझाने के लिए हजारो सदृष्टियाँ (चार्ट्स) बनाई, जिन्हें स्वतत्र रूप से अर्थसदृष्टि अधिकार मे रखा गया है। इस अधिकार को भी सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका का परिशिष्ट समझना चाहिए। इसके अतिरिक्त प्राकृत भाषा का ग्रन्थ त्रिलोकसार भी है। इसकी टीका 'त्रिलोकसार भाषाटीका' नाम से लिखी है। सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका और त्रिलोकसार भापाटीका के प्रारम्भ मे उनके विषय मे सुगमता से प्रवेश करने के लिए विशाल भूमिकाएँ लिखी गई है।

संस्कृत टीकाग्रन्थों में 'आत्मानुशासन' एवं 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' की भाषाटीकाएँ है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय भाषाटीका अपूर्ण रह गई थी जिसे बाद मे दीवान रतनचद की प्रेरणा से पं० दौलतराम कासलीवाल ने वि० स० १८२७ में पूर्ण किया। मोक्षमार्ग प्रकाशक भी अधूरा रह गया है जिसे पूर्ण करने के लिए कविवर वृंदावनदास बनारस ने अनेक ग्रन्थो के लोकप्रिय टीकाकार पडित जयचद छाबडा जयपुर से आग्रह किया था किन्तु उन्होंने प० टोडरमल की बुद्धि की विशालता एव स्वय के ज्ञान की तुच्छता प्रदर्शित करते हुए इसके लिये असमर्थता प्रकट की थी। उनका लिखना था कि कोई मूलग्रन्थ हो तो उसकी टीका या व्याख्या तो मै कर सकता हूँ किन्तु मोक्षमार्ग प्रकाशक जैसी स्वतत्र मौलिक कृति की रचना टोडरमल जैसे विशाल बुद्धि वाले का ही कार्य है।

उनका पद्य साहित्य यद्यपि सीमित है, फिर भी उसमे जो भी है, उनके कवि-हृदय को समझने के लिए पर्याप्त है।

पडितजी का सबसे बडा प्रदेय यह है कि उन्होने संस्कृत प्राकृत मे निबद्ध आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान को भाषागद्य के माध्यम से व्यक्त किया और तत्त्व-विवेचन मे एक नई दृष्टि दी। यह नयापन उनकी क्रान्ति-कारी दृष्टि मे है। वे तत्त्वज्ञान को केवल परम्परागत मान्यता एव शास्त्रीय प्रामाणिकता के सन्दर्भ मे नही देखते। तत्त्वज्ञान उनके लिए एक जीवित चिन्तन प्रक्रिया है जो केवल शास्त्रीय परम्परागत रूढियो का ही खण्डन नही करती अपितु समकालीन प्रचलित चिन्तन-रूढियों का भी खण्डन करती है। उनकी मौलिकता यह है कि जिस तत्त्वज्ञान से लोग रूढिवाद का समर्थन करते थे, उसी तत्त्वज्ञान से उन्होने रूढिवाद को काटा। उन्होने समाज की नही, तत्त्वज्ञान की चिन्तन-रूढियों का खण्डन किया। उनकी स्थापना है कि कोई भी तत्त्व-चिन्तन तब तक मौलिक नही जब तक अपनी तर्क और अनुभूति पर सिद्ध न कर लिया गया हो। कुल और परम्परा से जो तत्त्वज्ञान को स्वीकार लेते है, वह भी सम्यक् नही है। उनके अनुसार धर्म परम्परा नही, स्वपरीक्षित साधना है। उन्होने निश्चय और व्यवहार पर भी अपना मौलिक भाष्य प्रस्तुत किया है।

वे मुख्य रूप से आध्यात्मिक चिन्तक है, परन्तु उनके चिन्तन मे तर्क और अनुभूति का सुन्दर समन्वय है। वे विचार का ही नही, उसके प्रवर्त्तक और ग्रहणकर्त्ता की योग्यता-अयोग्यता का भी तर्क की कसौटी पर विचार करते है। तत्त्वज्ञान के अनुशीलन के लिए उन्होने कुछ योग्यताएँ आवश्यक मानी है। उनके अनुसार मोक्षमार्ग कोई पृथक् नही प्रत्युत् आत्मविज्ञान ही है, जिसे वे वीतराग-विज्ञान कहते है। जितनी चीजे इस वीतराग-विज्ञान मे रुकावट डालती है, वे सब मिथ्या है। उन्होने इन मिथ्याभावो के गृहीत और अगृहीत दो भेद किए है। गृहीत मिथ्यात्व से उनका तात्पर्य उन विभिन्न धारणाओ और मान्यताओ से है जिन्हे हम कुगुरु आदि के ससर्ग से ग्रहण करते है और उन्हे ही वास्तविक मान लेते है – चाहे वे पर-मत की हो या अपने मत की। इसके अन्तर्गत उन्होने उन सारी जैन मान्यताओ का तार्किक विश्लेषण किया है जो छठी शती से लेकर अठारहवी शती तक जैन तत्त्वज्ञान की अग मानी जाती रही और जिनका विशुद्ध आध्यात्मिक ज्ञान से कोई सम्बन्ध नही रहा। जैन साधना के इस वाह्य आडम्बर – क्रियाकाण्ड, भट्टारकवाद, शिथिलाचार आदि का उन्होने तलस्पर्शी और विद्वत्तापूर्ण खण्डन किया है।

इनके पूर्व बनारसीदास इसका खण्डन कर चुके थे, परन्तु पडितजी ने जिस चितन, तर्क-वितर्क, शास्त्र-प्रमाण, अनुभव और गहराई से इसका विचार किया है वह ठोस, प्रेरणाप्रद, विश्वसनीय एव मौलिक है। इस दृष्टि से उन्हे एक ऐसा विशुद्ध आध्यात्मिक चिन्तक कहा जा सकता है जो हिन्दी-जैन-साहित्य के इतिहास मे ही नही, बल्कि प्राकृत व अपभ्रश मे भी पिछले एक हजार वर्षो मे भी नही हुआ। धार्मिक आडम्बर और वाह्य क्रियाकाण्ड का विरोध और खण्डन सरहपाद, जोइन्दु, रामसिह, नामदेव, कबीर, जाम्भोजी, नानक आदि सन्तो और कवियो ने भी किया था। उन्होने स्वानुभूति पर भी जोर दिया, परन्तु पडितजी ने जिस विशुद्ध शास्त्रीय और मानवीय दृष्टिकोण से आध्यात्मिक सत्य का विश्लेषण गद्य मे किया है, वह मौलिक है। उनकी मूल दृष्टि सन्तुलन बनाये रखने व मूल लक्ष्य न छोड़ने की है।

टीकाकार होते हुए भी पडितजी ने अपनी गद्य शैली का निर्माण स्वय किया। उनकी शैली दृष्टान्तयुक्त, प्रश्नोत्तरमयी तथा सुगम है। वे ऐसी शैली को अपनाते है जो न तो एकदम शास्त्रीय है और न आध्यात्मिक सिद्धियों और चमत्कारो से बोझिल। उनकी इस शैली का सर्वोत्तम निर्वाह मोक्षमार्ग प्रकाशक मे है। उस समय तक हिन्दी में प्रश्नोत्तर रूप मे मुख्यत· निम्नलिखित गद्य शैलियाँ प्रचलित थीं :-

(१) गुरु-शिष्य अथवा दो प्रसिद्ध व्यक्तियो के प्रश्नोत्तर या संवाद के रूप में। यह शैली नाथपंथी और कबीरपंथी साहित्य मे पाई जाती है। इसमें पथ-विशेष के प्रतिष्ठापक या गुरु-विशेष के मूल मतव्यो का स्पष्टीकरण मुख्यत· रहता है।

(२) विभिन्न प्रकार के लोगों द्वारा विभिन्न समय और स्थिति मे पूछे गए अनेकविध प्रश्नों के उत्तर के रूप मे सम्प्रदाय-प्रवर्तक या गुरु-विशेष द्वारा वाणी कथन। इस शैली का प्रयोग जम्भवाणी में हुआ है।

(३) किसी मत, विचार, कथन, तात्त्विक-रहस्य, चितन-बिन्दु विशेष की व्याख्या हेतु लेखक द्वारा स्वय ही विविध प्रश्न उठाना और अनेक कोणो से स्वय ही उनका सम्यक्, तर्कसम्मत एव बोधगम्य रूप मे उत्तर देना। इस शैली के एकछत्र सम्राट पडित टोडरमल है। कहने की आवश्यता नही कि इसके लिए अनेक शास्त्रो के मंथन और गहन चितन की आवश्यकता थी, क्योकि उस समय तक इस प्रकार के परिष्कृत प्रयोग प्रचलित नही थे। ऐसी स्थिति में गद्य को आध्यामिक चितन का माध्यम बनाना बहुत ही सूझ-बूझ और श्रम का कार्य था। उनकी शैली मे उनके चितक का चरित्र और तर्क का स्वभाव स्पष्ट झलकता है। एक आध्यात्मिक लेखक होते हुए भी उनकी गद्य शैली मे व्यक्तित्व का प्रक्षेप उनकी ही मौलिक विशेषता है।

दृष्टान्त उनकी शैली मे मणि-काचन योग से चमकते है। दृष्टान्तों के प्रयोग मे पंडितजी का सूक्ष्म वस्तु-निरीक्षण प्रतिबिबित है। कभी-कभी तो वे एक ही दृष्टान्त को बहुत आगे तक बढा कर अपना प्रतिपाद्य स्पष्ट करते है, और कभी एक ही बात के लिए अनेक दृष्टान्तो का प्रयोग करते है।

उनकी शैली की विशेषता यह है कि प्रश्न भी उनके होते है और उत्तर भी उनके। पूर्व प्रश्न के समाधान मे अगला प्रश्न उभर कर आ जाता है। इस प्रकार विषय का विवेचन विचार के अतिम बिन्दु तक पहुँचने पर ही वह प्रश्न समाप्त होता है। उनकी शैली की एक मौलिकता यह है कि वे प्रत्यक्ष उपदेश न दे कर अपने पाठक के सामने वस्तुस्थिति का चित्रण और उसका विश्लेषण इस तरह करते है कि उसे अभीष्ट निष्कर्ष पर पहुँचना ही पडता है। एक चिकित्सक रोग के उपचार मे जिस प्रक्रिया को अपनाता है, पडितजी की गद्य शैली मे वह प्रक्रिया देखी जा सकती है। उनकी शैली तर्क-वितर्कमूलक होते हुए भी अनुभूतिमूलक है। कभी-कभी वह मनोवैज्ञानिक तर्कों से भी काम लेते है। उनके तर्क मे कठमुल्लापन नही है। उनकी गद्य शैली मे उनका अगाध पाण्डित्य और आस्था सर्वत्र प्रतिबिम्बित है। उनकी प्रश्नोत्तर शैली आत्मीय है क्योकि उसमे प्रश्नकर्ता और समाधानकर्ता एक ही है। उसमे शास्त्रीय और लौकिक जीवन से सम्बन्धित दोनों प्रकार की समस्याओ का विवेचन है। जीवन के और शास्त्र के प्रत्येक क्षेत्र से उन्होने अपने उदाहरण चुने है। कही-कही कथा-कहानी भी उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत की गई है। लोकोक्तियो का भी उसमे प्रयोग है।

हिन्दी के अन्तर्गत सामान्यत. पश्चिमी हिन्दी, पूर्वी हिन्दी, राजस्थानी, बिहारी तथा पहाडी भाषाओ और इनकी बोलियों की गणना की जाती है[१]। इस प्रकार इनमे से किसी भी बोली या भाषा मे लिखा गया गद्य हिन्दी गद्य कहलाएगा। अद्यावधि उपलब्ध सामग्री के आधार पर राजस्थानी[२], मैथिली[३], पुरानी अवधी[४],

---

[१] (क) हिन्दी भाषा का इतिहास : डॉ० धीरेन्द्र वर्मा
(ख) हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास . डॉ० उदयनारायण तिवारी

[२] राजस्थानी भाषा और साहित्य डॉ० हीरालाल माहेश्वरी, अध्याय १४ तथा उसके अतर्गत दिये गए विभिन्न सदर्भ

[३] (क) वर्ण रत्नाकर
(ख) हिस्ट्री ऑव मैथिली लिट्रेचर, भाग १, डॉ० जयकान्त मिश्र

[४] उक्तिव्यक्ति प्रकरण

खडी बोली[1] और ब्रज भाषा[2] – इन पाँचों के प्राचीन गद्यो के नमूने मिलते है। ब्रजभाषा और खड़ी बोली के सम्बन्ध मे कुछ बाते विचारणीय है। आचार्य भिखारीदास का यह कथन :–

"ब्रजभाषा सीखिबे कौ ब्रजवास ही न अनुमानौ।
ऐसे ऐसे कविन की, बानी हू तें जानिये।।"

ब्रजभाषा के प्रचार और प्रसार के सदर्भ मे यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और सटीक टिप्पणी है। खडी बोली के लिए भी प्रकारान्तर से कुछ ऐसी ही बात कही जा सकती है, किन्तु नितान्त भिन्न संदर्भ मे। मुसलमानो के इस देश में निरन्तर आते रहने और अनेक के यहाँ स्थायी रूप से बस जाने के कारण, यहाँ के लोगो और विदेशी आगन्तुको की भाषाओं का पारस्परिक आदान-प्रदान हुआ। अनेक सास्कृतिक, सामाजिक, राजनैतिक और भौगोलिक कारणो से दोनों के सम्मिलन से खडी बोली को रूप-रेखा मिली। जहाँ-जहाँ मुसलमानों का विशेष प्राबल्य रहा, वहाँ-वहाँ यहाँ के क्षेत्र-विशेष की भाषा के संपर्क और समन्वय से खडी बोली अपना रूप सुधारती गई। ऊपर लिखे कारणो से उन्नीसवी शताब्दी मे उसमे एकरूपता आनी आरम्भ हुई, जिसकी पूर्ण परिणति और निखार आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के हाथों हुआ। अनेक ऐसे कवि और लेखक हुए, जिन्होंने यहाँ के क्षेत्र-विशेष की भाषा के साथ खडी बोली का; तथा क्षेत्र-विशेष की भाषा के साथ ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। ऐसे भी लेखक हुए जिन्होने क्षेत्रीय भाषाओ की विशेषताओ के साथ उपर्युक्त प्रकार की खडी बोली और ब्रजभाषा –दोनो का मिश्रण

---

[1] खडी बोली के लिए द्रष्टव्य :

(क) कुतुब-शतक और उसकी हिन्दुई : सम्पादक डॉ० माताप्रसाद गुप्त
(ख) पजाब प्रान्तीय हिन्दी साहित्य का इतिहास : प० चन्द्रकान्त वाली
(ग) खडी बोली हिन्दी साहित्य का इतिहास : बृजरत्नदास

[2] ब्रजभाषा के लिए द्रष्टव्य :

(क) सूर पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य : शिवप्रसादसिंह
(ख) ब्रजभाषा का व्याकरण : डॉ० धीरेन्द्र वर्मा

किया है। पडित टोडरमल की भाषा पर अतिम दोनो बाते विशेष रूप से लागू है, यद्यपि उनका झुकाव क्षेत्रीय भाषा – ढूढाडी मिश्रित ब्रजभाषा की ओर विशेष है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि पडितजी की भाषा प्रधान रूप से ढूढाडी मिश्रित ब्रज है जिसमे यत्र-तत्र खडी बोली के रूप भी प्रयुक्त हुए है।

यो तो खडी बोली और ब्रजभाषा के नमूने हिन्दी के आदिकालीन साहित्य मे मिलते है, किन्तु पन्द्रहवी शताब्दी से उनके अपेक्षाकृत प्रौढ नमूने प्राप्त होते है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने किसी अज्ञात लेखक द्वारा रचित ब्रजभाषा का नमूना दिया है, जो इस प्रकार है :–

"श्री गुरु परमानन्द तिनको दडवत है। है कैसे परमानन्द, आनन्द स्वरूप है सरीर जिन्हि को, जिन्हिके नित्य गाए ते सरीर चेतन्नि अरु आनन्दमय होतु है। मै जु हौ गोरिष सो मछदरनाथ को दण्डवत करत हौ। है कैसे वे मछदरनाथ ? आत्मज्योति निश्चल है अतहकरन जिनके अरु मूलद्वार तै छह चक्र जिनि नीकी तरह जानै[1]।"

राहुल साकृत्यायन के अनुसार गोरखपथ से सम्बन्धित पुस्तको का काल विक्रम की दशमी शती है और इस प्रकार ब्रजभाषा गद्य के प्राचीनतम लेखक गोरखनाथ माने जा सकते है, किन्तु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल[2] और मिश्रबन्धु[3] ने इन्हे गोरखनाथ की लिखी न मान कर उनके शिष्यो द्वारा लिखी माना है। इसीलिए वे उसका समय १४वी शती के आसपास मानते है। डॉ० रामकुमार वर्मा तो इसे इसके भी बाद का मानते है[4]।

डॉ० हीरालाल माहेश्वरी ने सप्रमाण सिद्ध किया है[5] कि गोरखबानी[6] में सग्रहीत सभी रचनाएँ गोरख रचित नही है तथा

---

[1] हि० सा० इति०, ४०३

[2] वही, ४०३

[3] मिश्रबन्धु विनोद प्र० भा०, २४२

[4] हि० सा० आ० इति०, १११

[5] जाम्भोजी विष्णोई सम्प्रदाय और साहित्य – भाग १, २.
डॉ० हीरालाल माहेश्वरी

[6] गोरखबानी : सपादक– डॉ० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल

उनका संकलन विक्रम की सत्रहवी शताब्दी मे नाथ सिद्ध पृथ्वीनाथ के समय किया गया था।

गद्य का एक और नमूना 'शृंगार रस मंडन' में दिखाई देता है, जिसकी भाषा का नमूना निम्नलिखित है :-

"प्रथम की सखी कहतु है। जो गोपीजन के चरण विषै सेवक का दासी करि जो इनको प्रेमामृत में डूबि कै इनके मद हास्य ने जीते हैं। अमृत समूह ता करि निकंज विषै शृ गाररस श्रेष्ठ रसना कीनो सो पूर्ण होत भई[1]।"

आचार्य शुक्ल और मिश्रबन्धु आदि ने 'शृंगार रस मंडन' का लेखक श्री वल्लभाचार्य के पुत्र विट्ठलनाथजी को माना है, किन्तु डॉ० प्रेमप्रकाश गौतम ने सिद्ध किया है कि यह पुस्तक विट्ठलनाथजी ने संस्कृत मे लिखी थी। इसका ब्रजभाषा में रूपान्तर किसी अन्य परवर्ती विद्वान् (सभवतः १८वी शती) का है[2]।

इसके बाद वल्लभ सम्प्रदाय के 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' तथा 'दो सौ बावन वैष्णवो की वार्ता' की गद्य रचनाएँ है। इनके लेखक के सम्बन्ध में मतभेद है। कुछ लोग इन्हे विट्ठलनाथ के पुत्र गोकुलनाथ की लिखी मानते हैं, जबकि कुछ लोग उनके किसी शिष्य के द्वारा। इनका समय सत्रहवीं शती का उत्तरार्द्ध है। इनमे कथाएँ बोलचाल की भाषा में लिखी गई है और अरबी, फारसी के शब्दों का निःसकोच प्रयोग है। आचार्य शुक्ल का कहना है कि साहित्यिक निपुणता या चमत्कार की दृष्टि से ये कथाएँ नही लिखी गई। उदाहरण के लिए यह उद्धृत अंश पर्याप्त होगा :-

"सो श्री नंदगाम में रहतो सो खंडन ब्राह्मण शास्त्र पढ्यो हतो। सो जितने पृथ्वी पर मत है सबको खंडन करतो; ऐसो वाको नेम हतो। याही तै सब लोगन ने वाको नाम खडन पार्‌यो हतो। सो एक दिन श्री महाप्रभुजी के सेवक वैष्णवन की मंडली में आयो।

[1] हि० सा० इति०, ४०४

[2] हि० ग० वि०, ६०

सो खडन करन लागो। वैष्णवन ने कही जो तेरो शास्त्रार्थ करनो होवै तो पडितन के पास जा, हमारी मडली मे तेरे आयबे को काम नही। इहाँ खडन मडन नही है। भगवद्वार्ता को काम है। भगवद्यश सुननो होवै तो इहाँ आवो[१]।"

विक्रम सवत् १६६० मे नाभादास द्वारा लिखित अष्टयाम के ब्रजभाषा गद्य का नमूना इस प्रकार है –

"तब श्री महाराज कुमार प्रथम वसिष्ठ महाराज के चरन छुइ प्रनाम करत भए। फिर ऊपर वृद्ध-समाज तिनको प्रनाम करत भए। फिर श्री महाराजाधिराज जू को जोहार करिकै श्री महेद्रनाथ दशरथ जू के निकट बैठते भए[२]।"

पूर्व टोडरमल, जैन लेखको द्वारा रचित गद्य के कतिपय नमूने कालक्रमानुसार निम्नलिखित है –

"यथा कोई जीव मदिरा पीवाइ करि अविकल कीजै छै, सर्वस्व छिनाइ लीजै छै। पद ते भ्रष्ट कीजै छै तथा अनादि ताई लेई करि सर्व जीव राशि राग द्वेष मोह अशुद्ध परिणाम करि मतवालो हुओ छै, तिहि तै ज्ञानावरणादि कर्म को बध होइ छै[३]।"

उक्त गद्य खण्ड सत्रहवी शती के पूर्वार्द्ध के प्रसिद्ध विद्वान् पडित राजमलजी पाण्डे द्वारा रचित समयसार कलश की बालबोधिनी टीका से लिया गया है। इसके करीब पचास वर्ष बाद कविवर पडित वनारसीदास के द्वारा लिखित 'परमार्थ वचनिका' का गद्य इस प्रकार है :–

"मिथ्यादृष्टी जीव अपनौ स्वरूप नही जानतौ तातै पर-स्वरूप विषै मगन होइ करि कार्य मानतु है, ता कार्य करतौ छतौ अशुद्ध व्यवहारी कहिए। सम्यग्दृष्टि अपनौ स्वरूप परोक्ष प्रमान करि अनुभवतु है। परसत्ता परस्वरूपसौ अपनौ कार्य नही मानतौ सतौ

---

[१] हि० सा० इति०, ४०४-४०५

[२] वही, ४०५

[३] हि० सा०, द्वि० ख०, ४७६-४७७

जोगद्वारकरि अपने स्वरूपकौ ध्यान विचाररूप क्रिया करतु है ता कार्य करतौ मिश्र व्यवहारी कहिए। केवलज्ञानी यथाख्यात चारित्र के बलकरि शुद्धात्मस्वरूप को रमनशील है तातै शुद्ध व्यवहारी कहिए, जोगारूढ अवस्था विद्यमान है तातैं व्यवहारी नाम कहिए। शुद्ध व्यवहार की सरहद त्रयोदशम गुणस्थानक सौं लेइ करि चतुर्दशम गुणस्थानक पर्यंत जाननी। असिद्धत्व परिगमनत्वात् व्यवहार॰।

इन बातनकौ ब्यौरो कहाँ ताई लिखिए, कहाँ तांई कहिए। वचनातीत, इन्द्रियातीत, ज्ञानातीत तातै यह विचार बहुत कहा लिखहि। जो ग्याता होइगो सो थोरो ही लिख्यौ बहुत करि समुझैगो, जो अग्यानी होइगो सो यह चिट्ठी सुनैगो सही परन्तु समुझैगो नही। यह वचनिका यथा का यथा सुमति प्रवांन केवली वचनानुसारी है। जो याहि सुनैगो समुझैगो सरदहैगो ताहि कल्याणकारी है भाग्यप्रमाण[1]।"

इसके बाद विक्रम की अठारवी शती के उत्तरार्द्ध में रचित पडित दीपचन्दजी की रचनाएँ आती है। उनकी भाषा का नमूना इस प्रकार है .—

"जैसे बानर एक काकरा के पडै रोवै तैसे याके देह का एक अंग भी छीजै तो बहुतेरा रोवै। ये मेरे और मै इनका झूठ ही ऐसे जड़न के सेवन तैं सुख मानै। अपनी शिवनगरी का राज्य भूल्या, जो श्रीगुरु के कहे शिवपुरी कौ संभालै, तो वहाँ का आप चेतन राजा अविनाशी राज्य करै[2]।"

उपर्युक्त उद्धरणो के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्वत· प्रमाणित है कि पडित टोडरमल के गद्य की भाषा की प्रकृति और प्रवृत्ति परम्परागत ब्रज की ही है। लेकिन उनकी देन यह है कि उन्होंने इस भाषा को अपने दार्शनिक चिंतन का धारावाहिक माध्यम बना कर उसको पूर्णत: सशक्त किया। जहाँ तक गोरखपथी गद्य का प्रश्न है, उसकी ऐतिहासिकता और लेखक की प्रामाणिकता संदिग्ध है।

---

[1] अ० क० भूमिका, ७८

[2] हि० सा०, द्वि० ख०, ४६५

विट्ठलनाथजी के 'शृगार रस मंडन'[1] का गद्य आचार्य शुक्ल के अनुसार अपरिमार्जित और अव्यवस्थित है। 'चौरासी वैष्णवो की वार्ता' के गद्य मे साहित्यिकता और निपुणता नही है। उसमे बोलचाल का सीधा-सादा गद्य है। नाभादास का गद्य भी इतिवृत्तात्मक है। इस काल की आलोचना का निष्कर्ष शुक्लजी के अनुसार यह है कि वैष्णव वार्ताओ मे ब्रजभाषा गद्य का जैसा परिष्कृत और सुव्यवस्थित रूप दिखाई पडा, वैसा फिर आगे चल कर नही। काव्यो की टीकाओ आदि मे जो थोडा बहुत गद्य देखने मे आता है वह बहुत ही अव्यवस्थित और अशक्त था। इस प्रकार आचार्य शुक्ल का अन्तिम निष्कर्ष यह है कि जिस समय गद्य के लिए खडी बोली उठ खडी हुई उस समय तक गद्य का विकास नही हुआ था, उसका कोई साहित्य खडा नही हुआ था, इसी से खडी बोली के ग्रहण मे कोई सकोच नही हुआ[2]।

आचार्य शुक्ल के उक्त कथन पर विचार करने के पूर्व जैन गद्यो के नमूनो का विश्लेषण कर लेना आवश्यक है।

जैन गद्य मे पाडे राजमल की भाषा आदर्श ब्रज गद्य नही है। 'है' की जगह 'छै' का प्रयोग उसके राजस्थानी–गुजराती प्रभाव को सूचित करता है। 'पीवाइ करि अविकल कीजै छै' जैसे प्रयोग ब्रज गद्य के लिए अपरिचित है। उसे परिमार्जित और शुद्ध नही माना जा सकता।

बनारसीदास मुख्य रूप से कवि है, गद्य उन्होने बहुत कम लिखा है। अत. उनके गद्य के आधार पर ब्रजभाषा गद्य सम्बन्धी कोई निश्चित धारणा नही बनाई जा सकती। दूसरे उसमे क्रिया मे 'ता' वाले रूप जैसे – 'जानतो, करतो, नाही जानतो, मानतु है, दिखायतु' आदि अधिक है, जो ब्रज की प्रकृति के अनुकूल नही है।

दीपचद शाह का गद्य परिमार्जित गद्य है, परन्तु परिमाण की दृष्टि से अधिक नही है।

---

[1] 'शृगार रस मडन' के कर्ता और काल के विषय मे डॉ० प्रेमप्रकाश गौतम ने असहमति व्यक्त की है। हि० ग० वि०, ६०

[2] हि० सा० इति०, ४०६

अतः उपलब्ध जैन गद्यकारो में पंडित टोडरमल ही ब्रजभाषा गद्य के श्रेष्ठ गद्य-लेखक ठहरते है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ब्रजभाषा के जिन गद्यकारों की भाषा के आधार पर अपना उक्त मत व्यक्त किया है, वह आशिक रूप से ही सत्य माना जा सकता है, क्योकि 'चौरासी वैष्णवो की वार्ता' में प्रयुक्त परिष्कृत और सुव्यवस्थित ब्रजभाषा गद्य का पूर्ण विकास टोडरमलजी के गद्य मे देखा जा सकता है, अतः उसकी परम्परा वही समाप्त नही हो जाती। टोडरमलजी ने वार्ताकार के रूप में नहीं, दार्शनिक चितक के रूप मे उसे अपनी अभिव्यक्ति के समर्थ माध्यम के रूप में प्रयोग किया है। अत आचार्य शुक्ल का यह कथन तर्कसंगत नही माना जा सकता कि ब्रज के गद्य के विकास या उसके गद्य-साहित्य के खड़े न होने से खडी बोली को गद्य के माध्यम के रूप में निःसकोच रूप से स्वीकार कर लिया गया। टोडरमल के गद्य के साक्ष्य पर यह कहा जा सकता है कि ब्रजभाषा का गद्य और गद्य-साहित्य दोनों ही पूर्ण रूप से समृद्ध थे, फिर भी खड़ी बोली के गद्य के निर्विरोध स्वीकार किए जाने का कारण ऐतिहासिक था, ब्रजभाषा गद्य और गद्य-साहित्य के होने न होने से उसके विकास का कोई सम्बन्ध नही था। हॉ, ब्रजभाषा का गद्य मे उतना एकाधिकार नही था, जितना कि पद्य में। गद्य मे उसका विषय सीमित था। अत. हम आचार्यकल्प पडित टोडरमल को इस रूप मे ब्रजभाषा का एक समर्थ एवं मौलिक गद्यकार स्वीकार कर सकते है।

जहॉ तक पंडितजी की भाषा का प्रश्न है, टीकाओं की भाषा परम्परागत और संस्कृतनिष्ठ है। मूल ग्रन्थ की अनुगामी होने से अनुवाद की भाषा को अध्ययन का आधार नही बनाया जा सकता। मोक्षमार्ग प्रकाशक की भाषा उनकी प्रतिनिधि भाषा है। 'सिद्धोवर्णः समाम्नायः' कह कर उन्होने भाषा के विकास के सम्बन्ध मे अपने विचार प्रगट नही किए। यह उनका विषय भी नही था। वह अपनी भाषा को देशभाषा अवश्य कहते है, पर वस्तुतः वह उनके समय की प्रचलित साहित्यभाषा थी। वे यह भी कहते है कि उनकी देशी

पदरचना 'अपभ्रश' और 'यथार्थ' को लिये हुए है। कुछ लोग इसे ढूढाडी मानते हैं। मेरे विचार मे देशभाषा से उनका आशय तत्कालीन प्रचलित लोकभाषा से है जो साहित्य मे विशेपत प्रयुक्त होती थी। जिस कारण से वह सस्कृत प्राकृत भाषा के विरुद्ध देशीभाषा का प्रयोग करते है, उसी कारण से उन्होने शुद्ध ढूढाडी भाषा का प्रयोग उचित नही समझा होगा, क्योकि वह सीमित क्षेत्र की भाषा हो जाती। अत· उनकी देशभाषा तत्कालीन प्रचलित साहित्य भाषा 'व्रजभाषा' है।

उनके गद्य की भाषा सस्कृतनिष्ठ है, जबकि पद्य की भाषा मे तद्भव और देशी शब्दो का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक है। गद्य मे तत्सम शब्दो की अपेक्षा तद्भव शब्द कम है, तद्भव की अपेक्षा देशी शब्द तथा उर्दू के शब्द न के बराबर हैं। भाववाचक सज्ञा मे 'पना, पने, पने, त्य, त्व, ता, आई, त्वपना', आदि रूप मिलते है। सर्वनाम और कारक चिन्हो में आलोच्य साहित्य की भाषा ब्रजभाषा के निकट है, जैसा कि तुलनात्मक चित्रो से स्पष्ट है। यही स्थिति अव्ययो व सख्यावाचक शब्दो के सम्बन्ध मे भी है। कुछ सख्यावाचक इसके अपवाद है, वे खडी बोली के समान है। एक ही शब्द के कई उच्चारण वाले रूप मिलते है, जैसे – अनुसारि>अनुसार, तिनिका>तिनका, किछू>कुछ>कछु धर्म>धर्म्म, इत्यादि। इसका कारण यह भी हो सकता है कि लिपिकारो ने शब्दरूपो मे परिवर्तन कर दिया हो।

विभक्ति विनिमय की भी प्रवृत्ति है। सम्प्रदान के लिए 'के अर्थि' का प्रयोग बहुत मिलता है। वस्तुत. यह परसर्ग जैसा प्रयोग है। इसके अतिरिक्त 'कौ, कौं' भी आते है परन्तु यह कर्म के भी परसर्ग है। 'ताईं' का प्रयोग भी मिलता है लेकिन बहुत कम। करण व अपादान मे 'करि' का विशिष्ट प्रयोग है। यह विशेष उल्लेखनीय है कि सम्बन्ध के परसर्गो मे अपभ्रश के 'केर और तरणु' का प्रयोग कही नही है। अधिकरण मे 'विषै' का प्रयोग बहुत मिलता है। 'किए' का भी प्रयोग कही-कही हुआ है।

क्रियापदो में धातु का मूल रूप संस्कृत की साध्यमान धातु से लिया गया है। संस्कृत शब्दो से क्रिया बनाने की प्रवृत्ति बहुत व्यापक है। इसके अतिरिक्त अपभ्रश परम्परा और देशी धातुओ का भी प्रयोग है तथा वर्तमान व भविष्य में तिगतक्रिया का प्रयोग है। भविष्य मे 'गा, गे, गी' वाले रूप भी है। पूर्वकालिक क्रिया मे 'करि, आय' का प्रयोग है।

इस प्रकार उनकी भाषा ब्रजभाषा है, लेकिन उसमे संस्कृत का अनुसरण है और देशी भाषा का भी पुट है। साथ ही खडी बोली के कतिपय रूप भी मिलते है। उपलब्ध साक्ष्यो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उनकी भाषा मजी और निखरी हुई है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पडित टोडरमल न केवल टीकाकार ही थे बल्कि अध्यात्म के मौलिक विचारक भी थे। उनका यह चिन्तन समाज की तत्कालीन परिस्थितियो और बढते हुए आध्यात्मिक शिथिलाचार के सन्दर्भ में एकदम सटीक है। वे यह अच्छी तरह समझ चुके थे कि बेलाग और मौलिक चितन के भार को पद्य के बजाय गद्य ही वहन कर सकता है।

वे विशुद्ध आत्मवादी विचारक थे। उन्होंने उन सभी विचारधाराओ और धारणाओं पर तीखा प्रहार किया जो आध्यात्मिकता के विपरीत थी। आचार्य कुन्दकुन्द के समय जो विशुद्ध आध्यात्मवादी आन्दोलन की लहर उठी थी, वे उसके अपने युग के सर्वोत्तम व्याख्याकार थे। केवल रचना परिमाण की दृष्टि से पिछले एक हजार वर्षो मे हिन्दी साहित्य मे इतने विशाल दार्शनिक गद्य का इतना बड़ा रचनाकार नही हुआ। आध्यात्मिकता के प्रति उनकी रुचि और निष्ठा का सब से बड़ा प्रमाण यह है कि उन्होने लगभग एक लाख श्लोक प्रमाण गद्य लिखा।

सादगी, अध्यात्म-चितन, लेखन और स्वाभिमान उनके व्यक्तित्व की सब से बडी विशेषताएँ है। वे अपने युग की जैन आध्यात्मिक विचारधाराओं के ज्योति-स्तम्भ थे। वे एक वृहत्तर ग्रंथ लिखना चाहते थे – 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' उसी का एक अश है। दुर्भाग्यवश वे

अपनी योजना पूरी नही कर सके पर वह जिस रूप मे है, उस रूप मे जिन-अध्यात्म पर इतना विशद, प्राजल, सुस्पष्ट और मौलिक गद्य-ग्रन्थ लोकभाषा मे दूसरा नही मिलता। उनका 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' वस्तुत· आत्मवाद का प्रतिष्ठापक, वीतराग-विज्ञान और आध्यात्मिक चिकित्सा का शास्त्र है। आध्यात्मिकता उनके लिए अनुभूतिमूलक चितन है।

लोकभाषा काव्यशैली मे 'रामचरित मानस' लिख कर रामभक्ति के अनुभूतिमूलक महाकवि के रूप मे महाकवि तुलसीदास ने जो काम किया, वही काम उनसे दो सौ वर्ष बाद गद्य मे जिन-अध्यात्म को लेकर पडित टोडरमल ने किया। इसीलिए उन्हे 'आचार्यकल्प' कहा गया।

आध्यात्मिक लेखक होते हुए भी उनकी शैली दृष्टान्त-प्रति-दृष्टान्त बहुला प्रश्नोत्तर शैली है, जिसमे उनका व्यक्तित्व झलक उठा है। उसमे लोक-जीवन शैली और मनोविज्ञान का सुन्दर समन्वय है। सब से महत्वपूर्ण बात यह है कि प्रश्नोत्तर शैली मे प्राश्निक और उत्तरदाता भी वही है, इससे उसमे रोचक आत्मीयता है। मूलभाषा ब्रज होते हुए भी उसमे खडी वोली का खडापन भी है, साथ ही उसमे स्थानीय रगत भी है।

आध्यात्मिक चितन की ऐसी अनुभूतिमूलक सहज लोकाभिव्यक्ति, वह भी गद्य मे, पडितजी का बहुत बडा प्रदेय है। आध्यात्मिक चितन की अभिव्यक्ति के लिए गद्य का प्रवर्तक, व्यवहार और निश्चय, तथा प्रवृत्ति और निवृत्ति का सन्तुलनकर्ता, धार्मिक आडम्बर और साम्प्रदायिक कट्टरताओ की तर्क से धज्जियाँ उडा देने वाला निस्पृही और आत्मनिष्ठ गद्यकार इसके पूर्व हिन्दी मे नही हुआ। उनका गद्य लोकाभिव्यक्ति और आत्माभिव्यक्ति का सुन्दर समन्वय है। दार्शनिक चितन की ऐसी सहज गद्यात्मक अभिव्यक्ति, जिसमे गद्यकार का व्यक्तित्व खुलकर झलक उठे, इसके पूर्व विरल है।

परिशिष्ट

परिशिष्ट १

जीवन पत्रिका

[साधर्मी भाई ब्र० रायमल]

अथ आगै केताइक स्माचार एकोदेशी जघन्य सयम के धारक रायमल्ल ता करि कहिए है। इह असमानजातीपरजाय उतपन्न भऐ तीन वर्ष नौ मास हुएं, हमारै ता समै ग्येय का जानपना की प्रवर्त्ति निर्मल भई सो आयु पर्यत धारणा शक्ति के बल करि स्मृति रहै। तहां तीन वर्ष नौ मास पहली हम परलोक संबधी च्यारा गति मांसू कोई गति विषै अनन्त पुद्गल की परणुवा[1] अर एक हम दोऊ मिलि एक असमानजातीपर्याय कौ प्राप्त भया था, ताका व्यय भया। ताही समै हम वै पर्याय सबंधी नोकर्म शरीर कू छोडि कार्माण शरीर सहित इहां मनुष्य भव विषै वैश्य कुल तहा उत्पन्न भया। सो कैसै उत्पन्न भया जैसै भिष्टादिक असुचि स्थानक विषै लटक्रमि आदि जीव उपजै तैसै माता-पिता के रुधिर शुक्र विषै आय उहां नोकर्म जाति की वर्गणा का ग्रहण करि अतर्मुहूर्त काल पर्यत छहूं पर्याप्त पूर्ण कीए। ता समै लोही सहित नांक के श्लेष्म का पुज साहृष्य शरीर का आकार भया। पीछै अनुक्रम सू बधता बधता केताक दिनां मै मास की बूथी साहृश्य आकार भया।

बहुरि केताइक दिन पीछै सूक्ष्म आखि नांक कान मस्तक मुख हाथ पाव इंद्रयां गोचर आवै असा आकार भया। ऐसै ही बधता बधता बिलसति[2] प्रमाण आकार भया। असै नौ मास पर्यत औधा मस्तक, ऊपरि पाव, गोडां विषै मस्तक, चाम की कोथली करि आछादित, माता के भिष्टादिक खाय महाकष्ट सहित नाना प्रकार की वेदना कू भोगवता सता, लघु उदर विषै उदराग्नि मै भस्मीभूत होता

---

[1] परमाणु, [2] वालिश्त

सता, जहा पौन का सचार नाही असी अवस्था नै धरचा नौ मास नर्क सादृस्य दुख करि पूर्ण कीया। पीछै गर्भ बाह्य निकस्या बाल अवस्था के दुख करि फेरि तीन वर्ष पूर्ण कीये। असा तौ तीन वर्ष नौ मास का भावार्थ जानना।

अर या अवस्था कै जो पूर्वं अवस्था भई ताका जानपना तौ हमारै नाही। तहा पीछला जानपनां की यादि है सोई कहिए है। तेरा चौदा वर्ष की अवस्था हुए स्वयमेव विशेष बोध भया। ता करि असा विचार होने लागा जीव का स्वभाव तौ अनादिनिधन अविनासी है। धर्म के प्रभाव करि सुखी होय है। पाप के निमत्त करि दुखी होय है। तातै धर्म ही का साधन कर घना पाप का साधन न करना। परन्तु सक्ति हीन करि वा जथार्थ ज्ञान का अभाव करि उत्कृष्ट धर्म का उपाय बनै नाही। सदैव परणामा की वृत्ति असै रहै, धर्म भी प्रिय लागै अर ई पर्याय सबधी कार्य भी प्रिय लागै।

बहुरि सहज ही दयालसुभाव, उदारचित्त, ज्ञान वैराज्ञ की चाहि, सतसगति का हेरू, गुणीजन पुरषा का चाहक होत सता इस पर्याय रूप प्रवर्तै। अर मन विषै असा सदेह उपजै – ए सासता एता मनुष्य ऊपजै है, एता तिर्यंच ऊपजै है, एती वनास्पती ऊपजै है, एता नाज सप्त धातु रूई षट्रस मेवा आदि नाना प्रकार की वस्तु उपजै है, सो कहा सू आवै है अर विनसि कहा जाय है। इसका कर्ता परमेश्वर बतावै है सो तौ परमेश्वर कर्त्ता दीसै नाही। ए तौ आपै आप उपजै है, आपै आप विनसै है, ताका स्वरूप कौन कू बूझिए।

बहुरि ऊपरनै कहा कहा रचना है। अधो दिशा नै कहा कहा रचना है, पूर्व आदि च्यारा दिशा नै कहा कहा रचना है, ताका जानपना कैसै होइ। याका जानपना कोई कै है क नाही, असा सदेह कैसै मिटै।

बहुरि कुटुबादि बड़े पुरुष तानै याका स्वरूप कदे पूछै तब कोई तौ कहै परमेश्वर कर्ता है, कोई कहै कर्म कर्ता है, कई कहै हम तौ क्यू[1]

---

[1] कुछ

जानै नाही। बहुरि कोई आनमत[1] के गुरु वा ब्राह्मण ताकूं महासिद्ध वा विशेष पंडित जानि वाकू पूछै तब कोई तौ कहै ब्रह्मा विष्णु महेश ए तीन देव इस सृष्टि के कर्ता है, कोई कहै राम कर्ता है, कोई कहै बडा-वडी भवानी कर्ता है, कोई कहै नारायण कर्ता है; बेहमाता लेख घाले है, धर्मराय लेखा ले है, जम का डागी इस प्राणी कू ले जाय है, वा सिगनाग[2] तीन लोक कू फण ऊपरै धारे है। ऐसा जुदा जुदा वस्तु का स्वरूप कहै। एकजिभ्या कोई बोलै नांही। सो ए न्याय है – साचा होय तौ सर्व एक रूप ही कहै। अर जानैं क्यू भी खबरि नाही, अर माही मान कषाय का आशय ता करि चाहै ज्यो वस्तु का स्वरूप बतावै अर उनमान सू प्रतक्ष विरुद्ध; तातै हमारै सदैव या बात की आकुलता रहै, सदेह भाजै नाही।

बहुरि कोई कालि ऐसा विचार होइ अठै धर्म साधन करिए पीछै वाका फल तै राजपद पावै, ताके पाप करि फेरि नर्कि जाय तौ अैसा धर्म करि भी कहा सिधि। अैसा धर्म करिए जा करि सर्व संसार का दुख सू निर्वत्ति होइ। अैसै ही विचार होतै होतै बाईस वर्ष की अवस्था भई।

ता समै साहिपुरा नग्र विषै नीलापति साहूकार का संजोग भया। सो वाकै सुद्ध दिगबर धर्म का श्रधान, देव गुरु धर्म की प्रतीति, आगम अध्यात्म शास्त्रा का पाठी, षट द्रव्य नव पदार्थ पचास्ति काय सप्त तत्व गुणस्थान मार्गणा बध उदय सत्व आदि चरचा का पारगामी, धर्म की मूर्त्ति, ज्ञान का सागर, ताकै तीन पुत्र भी विशेष धर्मबुद्धी और पाच सात दस जने धर्मबुद्धी, ता सहित सदैव चर्चन[3] होइ, नाना प्रकार के सास्त्रा का अवलोकन होइ। सो हम वाके निमत्त करि सर्वज्ञ वीतराग का मत सत्य जान्यां अर वाके वचना कै अनुसारि सर्व तत्वा का स्वरूप यथार्थ जान्या।

थोरे ही दिना मै स्वपर का **भेद-विज्ञान** भया। जैसे सूता आदमी जागि उठै है तैसै हम अनादि **काल के** मोह निद्रा करि सोय रहे थे

[1] अन्य मत, [2] शेष नाग, [3]

सो जिनवाणी के प्रसाद तैं वा नीलापति आदि साधर्मी के निमत्त तैं सम्यग्ज्ञान-दिवस विषै जागि ऊठे। साक्षात ज्ञानानद स्वरूप, सिद्ध सादृश्य, अपना जान्या और सब चरित्र पुद्गल द्रव्य का जान्या। रागादिक भावा की निज स्वरूप सू भिन्नता वा अभिन्नता नीका जानी। सो हम विशेष तत्वज्ञान का जानपना सहित आत्मा हुवा प्रवर्तें। विराग परिणामा के बल करि तीन प्रकार के सौगद – सर्व हरित काय, रात्रि का पाणी, विवाह करने का आयुपर्यंत त्याग कीया। असे होत सते सात वर्ष पर्यंत उहा ही रहे।

पीछै रांणा का उदैपुर विषै दौलतराम तेरापथी, जैपुर के जयस्यघ राजा के उकील[1] तासू धर्म अर्थि मिले। वाकै सस्कृत का ज्ञान नीका, बाल अवस्था सू ले ब्रद्ध अवस्था पर्यंत सदैव सौ पचास शास्त्र का अवलोकन कीया और उहा दौलतराम के निमत्त करि दस बीस साधर्मी वा दस बीस बाया सहित सैली का वणाव बणि रह्या। ताका अवलोकन करि साहिपुरै पाछा आए।

पीछै केताइक दिन रहि **टोडरमल्ल** जैपुर के साहूकार का पुत्र ताकै विशेष ज्ञान जानि वासू मिलने कै अर्थि जैपुर नगरि आए। सो इहा वाकू नही पाया अर एक बसीधर किंचित सजम का धारक विशेष व्याकरणादि जैन मत के शास्त्रा का पाठी, सौ पचास लडका पुरुष बाया जा नखै[2] व्याकरण छद अलकार काव्य चरचा पढै, ता सू मिले।

पीछै वानै छोडि आगरै गए। उहा स्याहगज विषै भूधरमल्ल साहूकार व्याकरण का पाठी घणा जैन के शास्त्रा का पारगामी तासू मिले और सहर विषै एक धर्मपाल सेठ जैनी अग्रवाला व्याकरण का पाठी मोती कटला कै चैतालै शास्त्र का व्याख्यान करै, स्याहगज कै चैतालै भूधरमल्ल शास्त्र का व्याख्यान करै, और सौ दोय सै साधर्मी भाई ता सहित वासू मिलि फेरि जैपुर पाछा आए।

पीछै सेखावाटी विषै सिघाणा नग्र तहा टोडरमल्लजी एक दिली का बडा साहूकार साधर्मी ताकै समीप कर्म कार्य कै अर्थि

[1] वकील, [2] जिसके पास

वहा रहै, तहा हम गए अर **टोडरमल्लजी सूं मिले, नाना प्रकार के प्रश्न कीए, ताका उत्तर एक गोमट्टसार नामा ग्रंथ की साखि सूं देते भए। ता ग्रंथ की महिमा हम पूर्वैं सुणी थी, तासूं विशेष देखी। अर टोडरमल्लजी का ज्ञान की महिमा अद्भुत देखी।**

पीछै उनसू हम कही – तुम्हारै या ग्रंथ का परचै निर्मल भया है। तुम करि याकी भाषा टीका होय तौ घणा जीवा का कल्याण होइ अर जिन धर्म का उद्योत होइ। अबैही[1] काल के दोष करि जीवा की बुद्धि तुछ रही है, आगै यातै भी अल्प रहैगी, तातै असा महान् ग्रंथ पराकृत[2] ताकी मूल गाथा पंद्रह सै १५०० ताकी टीका सस्कृत अठारह हजार १८००० ता विषै अलौकिक चरचा का समूह सदृष्टि वा गणित शास्त्र की आम्नाय संयुक्त लिख्या है, ताका भाव भासना महा कठिन है। अर याके ज्ञान की प्रवर्त्ति पूर्वै दीर्घ काल पर्यत तै लगाय अब ताई नाही तौ आगै भी याकी प्रवर्त्ति कैसै रहैगी। तातै तुम या ग्रथ की टीका करने का उपाय शीघ्र करो, आयु का भरोसा है नाही।

पीछै ऐसै हमारे प्रेरकपणा का निमत्त करि इनकै टीका करने का अनुराग भया। पूर्वैं भी याकी टीका करने का इनका मनोर्थ था ही, पीछै हमारे कहने करि विशेष मनोर्थ भया। तब शुभ दिन मुहूर्त्त विषै टीका करने का प्रारभ सिघाणा नग्र विषै भया। सो वै तौ टीका बणावते गए, हम बाचते गए। बरस तीन मै गोमट्टसार ग्रथ की अठतीस हजार ३८०००, लब्धिसार क्षपणासार ग्रथ की तेरह हजार १३०००, त्रिलोकसार ग्रथ की चौदह हजार १४०००, सब मिलि च्यारि ग्रथा की पैसठि हजार टीका भई।

पीछै सवाई जैपुर आए। तहा गोमटसारादि च्यारौ ग्रथा कू सोधि याकी बहोत प्रति उतराई। जहा सैली छी तहां सुधाइ सुधाइ पधराई। असै या ग्रथा का अवतार भया। **अबार के अनिष्ट काल विषै टोडरमल्लजी कै ज्ञान का क्षयोपसम विशेष भया। ए गोमटसार ग्रथ का बचनां पांच सै बरस पहली था। ता पीछै बुधि की मंदता करि भाव सहित बचनां रहि गया। बहुरि अबै फेरि याका उद्योत भया।**

[1] वर्तमान मे ही [2] प्राकृत

बहुरि वर्तमान काल विषै इहाँ धर्म का निमित्त है तिसा अन्यत्र नाही। वर्तमान काल विषै जिन धर्म की प्रवर्त्ति पाईए है ताका विशेष आगै इद्रध्वज पूजा का विधान लिखैगे ता विषै जानना।

बहुरि काल दोष करि बीचि मै एक उपद्रव भया सो कहिए है। सवत् १८१७ कै सालि असाढ कै महैनै एक स्यामराम ब्राह्मण वाके मत का पक्षी पापमूर्त्ति उत्पन्न भया। राजा माधवस्यह का गुर ठाहरचा, ता करि राजा नै वसि कीया। पीछै जिनधर्म सू द्रोह करि या नग्र के वा सर्व ढुढाड देश का जिन मदिर तिनका विघ्न कीया, सर्व कू वैसनू करने का उपाय कीया, ता करि लाखा जीवा नै महा घोरान घोर दुख हूवा अर महा पाप का बध भया। सो एह उपद्रव बरस ड्यौढ पर्यत रह्या।

पीछै फेरि जिनधर्म का अतिशय करि वा पापिष्ट का मान भग वा जिन धर्म का उद्योत हूवा। सर्व जिन मदिरा का फेरि निर्मापरा हूवा। आगा बीचि दुगुणा तिगुणा चौगुणां जिनधर्म का प्रभाव प्रवर्त्या। ता समै बीस तीस जिन मदिर या नग्र विषै अपूर्व बणे। तिन विषै दोय जिन मदिर तेरापथ्या की शैली विषै अद्भुत सोभा नै लीया, बडा विस्तार नै धरचा बणे। तहा निरतर हजारा पुरष स्त्री देवलोक की सी नाई चैत्यालै आय महा पुन्य उपारजै, दीर्घ काल का सच्या पाप ताका क्षय करै। सौ पचास भाई पूजा करने वारे पाईए, सौ पचास भाषा शास्त्र बाचने वारे पाईए, दश बीश संस्कृत शास्त्र बाचने वारे पाईए, सौ पचास जनै चरचा करने वारे पाईए और नित्यान[1] का सभा के सास्त्र का व्याख्यान विषै पाच सै सात सै पुरष तीन सै च्यारि सै स्त्रीजन सब मिलि हजार बारा सै पुरष स्त्री शास्त्र का श्रवण करै, बीस तीस बाया शास्त्राभ्यास करै, देश देश का प्रश्न इहा आवै तिनका समाधान होय उहा पहचै, इत्यादि अद्भुत महिमा चतुर्थकालवत या नग्र विषै जिनधर्म की प्रवर्त्ति पाइए है।

---

[1] नित्य प्रति की

इन्द्रध्वज विधान महोत्सव पत्रिका

[साधर्मी भाई ब्र० रायमल]

आगै माह सुदि १० संवत् १८२१ अठारा सै इकवीस कै सालि इन्द्रध्वज पूजा का स्थापन हूवा। सो देस-देस के साधर्मी बुलावने कौ चीठी लिखी ताकी नकल इहा लिखिए है। दिल्ली १, आगरै १, भिड १, कोरडा जिहानाबाद १, सिरोज १, वासोदो १, ईदौर १, औरगांबाद १, उदैपुर १, नागोर १, बीकानेरि १, जैसलमेरि १, मुलतान १ पर्य्यंत चीठी अैसै लिखी सो लिखिए है –

स्वस्ति दिल्ली आगरा आदि नग्र के समस्त जैनी भायां योग्य सवाई जयपुर थी राइमल्ल केनि श्री शब्द बाचनां। इहाँ आनन्द वर्तै है। थाँ कै आनंद की वृद्धि होऊ। थे धर्म के बडे रोचक हौ।

अप्रचि इहाँ सवाई जयपुर नग्र विषै इन्द्रध्वज पूजा सहर कै बारै अधकोस परै मोतीडूगरी निकटि ठाहरी है। पूजा की रचना का प्रारंभ तौ पोस बदि १ सू ही होने लागा है। चौसठि गज का चौड़ा इतना ही लाबा एक च्यौतरा बण्या है। ता उपरि तेरह द्वीप की रचना बणी है। ता विषै यथार्थ च्यारि सै अठावन चैत्यालय, अढाई द्वीप के पाच मेरु, नंदीश्वर द्वीप के बावन पर्वत ता उपरि जिनमंदिर बणे हैं। और अढाई द्वीप विषै क्षैत्र कुलाचल नदी पर्वत वन समुद्र ताकी रचना बणी है। कठै ही कल्पवृक्षा का वन ता विषै कठै ही चैत्य वृक्ष, कठै ही सामान्य वृक्षां का वन, कठै ही पुष्प बाडी, कठै ही सरोवरी, कठै ही कुड, कठै ही द्रह, कठै ही द्रह माहि सू निकसि समुद्र मे प्रवेश करती नदी, ताकी रचना बणी है। कठै ही महलां की पक्ति, कठै ही ध्वजा के समूह, कठै ही छोटी-छोटी ध्वजा के समूह का निर्मापण हूवा है।

पोस बदि १ सू लगाय माह सुदि १० ताई सौ ड्योढ सै कारीगर, रचना करने वाले सिलावट, चतेरे, दरजी, खराधी, खाती, सुनार आदि लागे है। ताकी महिमा कागद मै लिखी न जाय, देखे ही जानी जाय। सो ए रचना तौ पथर चूना के चौसठि गज का च्यौतरा ता उपरि बणी है। ताकै च्यारचौ तरफ कपडा का सरायचा के कोट बणैगा। और च्यारचो तरफ च्यारि वीथी कहिए गली, च्यारचौ तरफ के लोग दरवाजा मै प्रवेश करि आवने कौ ग्रैसी च्यारा तरफा च्यारि वीथी की रचना समोसरण की वीथी सादृश्य वनैगी। अर च्यारा तरफा नै वडे-बडे कपडा के वा भोडल का काम के वा चित्राम का काम के दरवाजे खडे होयगे। ताकै परै च्यारचौ तरफ नौबतिखाना सरू होइगे। और च्यौतरा की आसिपासि सौ दो सै डेरे तवू कनात खडे होयगे। और च्यारि हजार रेजा पाघ राता[1] छीट लौगी आए है। सो निसान धुजा चदवा बिछायत विषै लागैगे।

दोय सै रूपा[2] के छत्र झालरी सहित नवा घडाए है। पाच सात इन्द्र बणैगे, तिनकै मस्तकै धरने कू पाच सात मीना का काम के मुकट बणैगे। बीस तीस चालीस गड्डी कागदा की बागायति[3] वा पहोपबाडी[4] कै ताई अनेक प्रकार के रग की रगी गई है। और बीस तीस मरण रद्दी कागद लागे है, ताकी अनेक तरह की रचना बणी है। पाचसै कडी वा सोटि बास रचना विषै लागैगे।

और चौसठि गज का च्यौतरा उपरि आगरा सू आए एक ही बडा डैरा धरती सू बीस गज ऊचा इकचोभा दोय सै फरास आदम्या करि खडा होयगा। ताकरि सर्व च्यौतरा उपरि छाया होयगी। और ता डेरा कै च्यारा तरफा चौईस चौईस द्वार कपडा के वा भोडल के झालरी सहित अत विषै च्यौतरा की कोर उपरि बणै है। च्यारा तरफ के छिनवै द्वार भए। और डेरा कै बीचि ऊपर नै सोना के कलस चढै है और ताकै आसि पासि घरणा दरबार का छोटा बडा डेरा खडा होयगा। ताकै परै सर्व दिवान मुतसद्या का डेरा खडा होइगा। ताकै परै जात्र्या का डेरा खडा होयगा।

---

[1] लाल, [2] चादी, [3] बाग, [4] पुष्प वाटिका

और पोस वदि १ सू लगाय पाचास रुपया को रोजीनों कारीगरां को लागै है। सो माह सुदि १० ताई लागैगा। पाछै सौ रुपया को रोजीनो फागण वदि ४ ताई लागैगा। और तेरा द्वीप, तेरा समुद्र कै बीचि बीचि छब्बीस कोट बणैगा। और दरबार की नाना तरह की जलूसि आई है अथवा आगरै इन्द्रध्वज पूजा पूर्वं हुई थी ताको सारो मसालो वा जलूसि इहा आया है।

और इहा सर्व सामग्री का निमत्त अन्यत्र जायगा तै प्रचुर पाईए है तातै मनोर्थ अनुसारि कार्य सिद्धि होंहिगे।

एह सारी रचना द्वीप नदी कुलाचल पर्वत आदि की घन रूप जाननी। चांवल रोली का मडल की नाई प्रतर रूप नांही जाननी। ए रचना त्रिलोकसार ग्रथ कै अनुसारि बणी है। और पूजा का विधान इंद्रध्वज पूजा का पाठ संस्कृत श्लोक हजार तीन ३००० ताकै अनुसारि होयगा। च्यारा तरफां नै च्यारि बड़ी गंधकुटि ता विषै वडे विब विराजैगे। तिनका पूजन च्यारां तरफा युगपत् प्रभति मुखिया साधर्मी करैगे।

पीछै च्यारां तरफा जुदा-जुदा महत्बुद्धि का धारक मुखिया साधर्मी सास्त्र का व्याख्यान करैगे। देस-देस के जात्री आए वा इहा के सर्व मिलि सास्त्र का उपदेश सुणैगे। पीछै आहार लेनां आदि शरीर का साधन करि दोपहर दिन चढें तै लगाय दोय घडी दिन रहे पर्यंत सुदर्शन मेरू का चैत्यालय सू लगाय सर्व चैत्यालया का पूजन इन्द्रध्वज पूजा अनुसारि होयगा। पीछै च्यौतरा की तीन प्रदक्षिणा देय च्यारा तरफां आरती होयगी। पीछै सर्वरात्रि विषै च्यारां तरफा जागरण होयगा।

और सर्वत्र रूपा सोनां के जरी का वा तवक[1] का वा चित्राम का वा भोडल के काम का समवसरणवत् जगमगाट नैं लिया सोभा बनैगी और लाखां रूपा सोना के दीप वा फूल पूजन कै ताई बनै है। और एक कल का रथ बण्या है सो बिनां बलधां बिनां आदम्यां कल के

[1] सोने-चादी के वरक

फेरने करि गमन करैगा। ता ऊपरि भी श्रीजी विराजैगे और भी अनेक तरह की असवारी बर्णेगी। इत्यादि अद्भुत आश्चर्यकारी सोभा जानूगे।

और सौ दो सै कोस के जैनी भाई सर्व सग बणाय कबीला सुधा आवैगे। अर इहा जैनी लोगा का समूह है ही अर माह सुदि दसै कै दिनि लाखो आदमी अनेक हाथी घोरे पालिकी निसाण अनेक नौबति नगारे आखी[1] बाजे सहित बडा उछव सू इन्द्रा करि करी हुई भक्ति ताकी उपमा नै लीया ता सहित चैत्यालय सू श्रीजी रथ उपरि बिराजमान होइ वा हाथी कै हौदै विराजमान होई सहर कै बारै तेरह द्वीप की रचना विषै जाय बिराजैगे।

सो फागुण वदि ४ ताई तहा ही पूजन होयगा वा नित्य शास्त्र का व्याख्यान, तत्वा का निर्णय, पठन-पाठन, जागर्ण आदि शुभ कार्य चौथि ताई उहा ही होयगा। पीछै श्रीजो चैत्यालय आय बिराजैगे। तहा पीछै भी देश-देश के जात्री पाच सात दिन पर्यत और रहैगे। ई भाति उछव की महिमा जानोगे। तातै अपने कृतार्थ कै अर्थि सर्व देस वा प्रदेस के जैनी भाया कू अगाऊ समाचार दे वाकू साथि ले सग बणाय मुहूर्त्त पहली पाच सात दिन सीघ्र आवोगे। ए उछव फेरि ई पर्याय मैं देखणा दुर्लभ है।

ए कार्य दरबार की आज्ञा सूँ हूवा है और ए हुकम हुवा है **जो थांकै पूजाजी कै अर्थि जो वस्तु चाहिजे सो ही दरबार सूं ले जावो।** सो ए बात उचित ही है। ए धर्म राजा का चलाया ही चालै है। राजा का सहाय बिना ऐसा महत परम कल्याणरूप कार्य बणै नाही। अर दोन्यूँ दिवान रतनचन्द वा बालचन्द या कार्य विषै अग्रेश्वरी है तातै विशेष प्रभावना होइगी।

और इहा बडे-बडे अपूर्व जिन मन्दिर बणे है। **सभा विषै गोमट्टसारजी का व्याख्यान होय है। सो बरस दोय तौ हूवा अर बरस दोय तांई और होइगा। एह व्याख्यान टोडरमल्लजी करै है।** और इहा गोमट्टसार ग्रन्थ की हजार अठतीस ३८०००, लब्धिसार

[1] सब प्रकार के

क्षपणासार ग्रन्थ की हजार तेरा १३०००, त्रिलोकसार ग्रन्थ की हजार चौदह १४०००, मोक्षमार्ग प्रकासक ग्रथ की हजार बीस २००००, बड़ा पद्मपुराण ग्रन्थ की हजार बीस २०००० टीका बणी है ताका दर्शन होयगा और इहा बडे-बडे सयमी पंडित पाईए है ताका मिलाप होइगा।

और दोय च्यारि भाई धवल महाधवल जयधवल लेने कूँ दक्षिण देश विषै जैनबद्री नगर वा समुद्र तांई गए थे। वहा जैनबद्री विषै धवलादि सिद्धान्त ताडपत्रा विषै लिख्या करणाटी लिपि मै बिराजै है ताकी एक लाख सत्तरि हजार मूल गाथा है। ता विषै सत्तरि हजार धवल की, साठि हजार जयधवल की, चालीस हजार महाधवल की है। ताका कोई अधिकार कै अनुसारि गोमटसार लब्धिसार क्षपणासार बणे है।

अर उहा के राजा वा रैति[1] सर्व्व जैनी है अर मुनि धर्म्म का उहां भी अभाव है। थोरे से बरस पहली यथार्थ लिग के धारक मुनि थे, अबै काल के दोष करि नाही। अगल-बगल क्षैत्र घणा ही है, तहा होयगा। और उहा कोडयां[2] रुपया के काम के सिगीबध[3] मौघा[4] मोल के पथरनि के वा ऊपरि सर्वत्र ताबा के पत्रा जड़े ताकै तीन कोट ताका पाव कोस का व्यास है, ऐसे सोला बडा-बडा जिन मन्दिर बिराजै है। ता विषै मूँग्या लसण्या आदि रतन के छोटे जिन बिब घणा बिराजै है और उहा अष्टाह्निका का दिना विषै रथयात्रा का बडा उछव होइ है।

और उहा एक अठारा धनुष ऊचा, एक नौ धनुष ऊचा, एक तीन धनुष ऊचा कायोत्सर्ग जुदा जुदा तीन देशा विषै तीन जिन बिब तिष्टै है। ताकी यात्रा जुरै है। ताका निराभरण पूजन होय है। ताका नाम गोमट स्वामी है। अैसा गोमट्ट स्वामी आदि घणां तीर्थ है।

वा उहां सीतकाल विषै ग्रीष्म रिति[5] की सी उष्णता पाईए है। उहा मुख्यापनै चावलो का भखन[6] विशेष है। उहा की भाषा विषै इहा के समझै नाही। इहा की भाषा विषै उहा के समझै नांही।

[1] प्रजा, [2] करोड़ो, [3] शिखरबध, [4] महगे, [5] ऋतु, [6] भोजन

दुभाष्या तै समझ्या जाय है। सो सुरगपट्टण पर्यंत तौ इहाँ के देश के थोरे बहुत पाईए है। तातै इहा की भाषा कूँ समझाय दे है। अर सुरगपट्टण के मनुष्य भी वैसे ही बोले है। तहा परै इहा का देस के लौग नाही। सुरगपट्टण आदि सूँ साथि ले गया जाय है। सो ताका अवलोकन करि आए है।

इहा सूँ हजार बारासै कोस परै जैनबद्री नग्र है। तहा जिन मन्दिर विषै धवलादि सिद्धान्त नै आदि दे और भी पूर्व वा अपूर्व ताड पत्रा मै वा बास के कागदा मै कर्णाटी लिपि मै वा मरहटी लिपि मै वा गुजराती लिपि मै वा तिलग देश की लिपि मै वा इहा के देश की लिपि मै लिख्या वऊगाडा[1] के भार शास्त्र जैन के सर्व प्रकार के यतियाचार वा श्रावकाचार वा तीन लोक का वर्नन के वा विशेष बारीक चर्चा के वा महत पुरुषा के कथन का पुराण, वा मत्र, यत्र, तत्र, छंद, अलंकार, काव्य, व्याकरण, न्याय, एकार्थकोस, नाममाला आदि जुदे-जुदे शास्त्र के समूह उहा पाईए है। और भी उहा बडा-बडा सहर पाईए है, ता विषै भी शास्त्रा का समूह तिष्टै है। घणा शास्त्र तो ऐसा है सो बुद्धि की मदता करि कही सूँ खुलै नाही। सुगम है ते बचै ही है।

उहा के राजा वा रैति भी जैनी है। वा सुरगपट्टण विषै पचास घर जैनी ब्राह्मणा का है। वका[2] राजा भी थोडा सा बरस पहली जैनी था। इहा सूँ साढा तीन सै कोस परै नौरगाबाद है, ताकै परै पाच सै कोश सुरगपट्टण है, ताकै परै दोय सै कौस जैनबद्री है, ता उरै बीचि बीचि घणा ही बडा बडा नग्र पाईए है, ता विषै बडे-बडे जिन मन्दिर विराजै है और जैनी लोग के समूह बसै है और जैनबद्री परै च्यार कोश खाडी समुद्र है इत्यादि, ताकी अद्भुत वार्ता जानूँगे।

धवलादि सिद्धान्त तौ उहा भी बचै नाही है। दर्शन करने मात्र ही है। उहा वाकी यात्रा जुरै है अर देव वाका रक्षिक है तातै ई देश मै

[1] कई गाडियो, [2] वहाँ का

सिद्धाता का आगमन हूवा नाही। रुपया हजार दोय २०००) पाच सात आदम्यॉ कै जाबै आबै खरचि पड्या। एक साधर्मी डालूराम की उहा ही पर्याय पूरी हुई। वा सिद्धाता के रक्षिक देव डालूराम कै स्वप्नै आए थे। तानै ऐसा कह्या हे भाई तू या सिद्धाता नै लेनै कूँ आया है सो ए सिद्धात वा देश विषै नाही पधारैगे। उहा म्लेच्छ पुरषा का राज है। तातै जाने का नाही। बहुरि या बात के उपाय करने मै वरस च्यारि पाच लागा। पाच विश्वा औरू भी उपाय वर्तै है।

औरगाबाद सूँ सौ कोस परै एक मलयखेडा है। तहां भी तीनूँ सिद्धात बिराजै है। सो नौरगाबाद विषै बडे-बडे लखेस्वरी, विशेष पुन्यवान, जाकी जिहाज चालै, अर जाका नवाब सहायक, ऐसा नेमीदास, अविचलराय, अमृतराय, अमीचन्द, मजलसिराय, हुकमचन्द, कौलापति आदि सौ पचास पाणीपथ्या अग्रवाले जैनी साधर्मी उहा है। ताकै मलयखेडा सू सिद्धान्त मंगायबे का उपाय है। सो देखिए ए कार्य बणनै विषै कठिनता विशेष है, ताकी वार्ता जानूगे।

और हम मेवाड़ विषै गए थे। सो उहा चीतोडगढ है। ताकै तलै तलहटी नग्र बसै है। सो उहा तलहटी विषै हवेली निर्मापण कै अर्थि भौमि खणतै एक भैंहरा निकस्या। ता विषै सोला बिब फटिकमणि सादृश्य महा-मनोज्ञ उपमा-रहित पद्म आसण बिराजमान पद्रा सोला बरस का पुरूष के आकार सादृश्य परिमाण नै लीया जिनबिब नीसरे। ता विषै एक महाराजि बावन के साल का प्रतिष्ठचा हरचा मौहरा का अतिसय सहित नीसरे। और घणा जिनबिब वा उपकरण धातु के नीसरे ता विषै सुवर्ण पीतल सादृश्य दीसै ते नीसरे। सो धातु का महाराजि तौ गढ उपरि भैंहरा विषै बिराजै है। उपरि किल्लादार वा जोगी रहै है। ताकै हाथि ता भैंहरा की कूची है। और पाषाण के बिब तलहटी के मन्दिर विषै बिराजै है। घर सौ उहां महाजन लोगा का है। ता विषै आधे जैनी है। आधे महेश्वरी है। सो उहा की यात्रा हम करि आए। ताके दरसण का लाभ की महिमा वचन अगोचर है। सो भी वार्त्ता थे जानूगे।

और कोई थाकै मनविषै प्रश्न होय वा सदेह होय ताकी विशुद्धता होयगी। और गोमट्टसारादि ग्रथा की अनेक अपूर्व चर्चा जानूगे। इहा घरणा भाया कै गोमटसारादि ग्रथा का अध्ययन पाईए है। और घरणी बाया कै व्याकरण वा गोमटसारजी की चर्चा का ज्ञान पाईए है। विशेष धर्म बुद्धि है ताका मिलाप होयगा। **सारां ही विषै भाईजी टोडरमलजी कै ज्ञान का क्षयोपशम अलोकीक है जो गोमट्टसारादि ग्रंथां की संपूर्ण लाख श्लोक टीका बरणाई और पांच सात ग्रंथां का टीका बरणायवे का उपाय है। सो आयु की अधिकता हुवां बरणैगा। अर धवल महाधवलादि ग्रथां के खोलबा का उपाय कीया वा उहां दक्षिण देस सूं पांच सात और ग्रंथ ताड़पत्रां विषै करणाटी लिपि मै लिख्या इहां पधारे है, ताकूं मलजी बांचै है, वाका यथार्थ व्याख्यान करै है वा करणाटी लिपि मै लिखि ले है। इत्यादि न्याय व्याकरण गणित छंद अलंकार का याकै ज्ञान पाईए है। ऐसे पुरुष महंत बुद्धि का धारक ईं काल विषै होनां दुर्लभ है। तातै यांसूं मिले सर्व सदेह दूरि होइ है। घरणी लिखबा करि कहा, आपरणां हेत का बांछीक पुरुष सीघ्र आय यासूं मिलाप करो।** और भी देश देश के साधर्मी भाई आवैगे तासू मिलाप होयगा।

और इहा दश बारा लेखक सदैव सासते जिनवाणी लिखते है वा सोधते है। और एक ब्राह्मण पडित महैनदार चाकर राख्या है सो बीस तीस लडके बालकन कू न्याय व्याकरण गणित शास्त्र पढावै है। और सौ पचास भाई वा बाया चर्चा व्याकरण का अध्ययन करै है। नित्य सौ पचास जायगा जिन पूजन होइ है। इत्यादि इहा जिन धर्म की विशेष महिमा जाननी।

और ई नग्र विषै सात विसन का अभाव है। भावार्थ ई नग्र विषै कलाल कसाई वेश्या न पाईए है। अर जीव हिसा की भी मनाई है। राजा का नाम माधवसिह है। ताके राज विषै वर्त्तमान एते कुविसन दरबार की आज्ञातै न पाईए है। अर जैनी लोग का समूह बसै है। दरबार के मुतसद्दी सर्व जैनी है और साहूकार लोग सर्व जैनी है। जद्यपि और भी है परि गौरणता रूप है, मुख्यता रूप नाही। छह सात

वा आठ दस हजार जैनी महाजना का घर पाईए है। असा जैनी लोगा का समूह और नग्र विषै नाही। और इहा के देश विषै सर्वत्र मुख्यपणै श्रावगी लोग बसै है। तातै एह नग्र वा देश बहोत निर्मल पवित्र है। तातै धर्मात्मा पुरुष बसने का स्थानक है। अबार तौ ए साक्षात धर्मपुरी है।

बहुरि देखो ए प्राणी कर्म कार्य कै अर्थि तौ समुद्र पर्यंत जाय है वा विवाहादिक के कार्य विषै भी सौ पचास कोस जाय है, अर मनमान्या द्रव्यादिक खरचै है। ताका फल तौ नर्क निगोदादि है। ता कार्य विषै तौ या जीव के असी आसक्तता पाईए है, सो ए तौ वासना सर्व जीवनि कै बिना सिखाई हुई स्वयमेव बणि रही है, परतु धर्म की लगनि कोई सत्पुरुषा कै ही पाईए है।

विषय-कार्य के पोषने वाले तौ पैड-पैड विषै देखिए है, परमार्थ कार्य के उपदेशक वा रोचक महादुर्लभ बिरले ठिकाणै कोई काल विषै पाईए है। तातै याकी प्रापती महाभाग्य कै उदै काललब्धि कै अनुसारि होय है। यह मनुष्य पर्याय जावक खिनभगर[1] है, ता विषै भी अबार के काल मै जावक अल्प बीजुरी का चमत्कारवत थिति है। ताकै विषै नफा टोटा बहुत है। एका तरफ नै तौ विषय कषाय का फल नरकादिक अनत ससार का दुख है। एका तरफ नै सुभ सुद्ध धर्म का फल स्वर्ग मोक्ष है। थोड़ा सा परणामा का विशेष करि कार्य विषै एता तफावत[2] परै है। सर्व बात विषै एह न्याय है। बीज तौ सर्व का तुछ[3] ही होइ है अर फल वाका अपरपार लागै है, तातै ज्ञानी विचक्षण पुरषन कै एक धर्म ही उपादेय है।

अनतानत सागर पर्यंत काल एकेन्द्री विषै वितीत करै है तब एक पर्याय त्रस का पावै है। असा त्रस पर्याय का पायबा दुर्लभ है तौ मनुक्ष पर्याय पायबा की कहा बात। ता विषै भी उच्च कुल, पूरी आयु, इन्द्री प्रबल, निरोग शरीर, आजीवका की थिरता, सुभ क्षेत्र, सुभ काल, जिनधर्म का अनुराग, ज्ञान का विशेष क्षयोपशम, परणामा की विशुद्धता, ए अनुक्रम करि दुर्लभ सू दुर्लभ ए जीव पावै है। कैसै दुर्लभ

---

[1] क्षणभगुर, [2] अतर, [3] छोटा

पावै है ? अवार असा सयोग मिल्या है सो पूर्वं अनादि काल का नही मिल्या होगा। जै असा सजोग मिल्या होय तौ फेरि ससार विषै क्या नै रहै ? जिनधर्म का प्रताप ऐसा नाही क साची प्रतीति आया फेरि ससार के दुख कू पावै। तातै थे बुद्धिमान हौ। जामै अपना हित सधै सो करना। धर्म के अर्थी पुरुष नै तौ थोडा सा ही उपदेश घरणा होइ परणमै है। घरणी कहबा करि कहा।

और ई चीठी की नकल दश बीस और चीठी उतराय उहा के आसि पासि जहा जैनी लोग बसते होइ तहा भेजनी। ए चीठी सर्व जैनी भाया कू एकठे करि ताकै बीचि वाचरणी। ताकू याका रहस्य सर्व कू समभाय दैना। चीठी की पहोचि सितावी[1] पाछी लिखनी। लिख्या बिनां चीठी पहोची वा न पहौची की खबरि पडै नाही। आवा न आवा की खबरि पडै नाही। मिती माह वदि ६ सवत् १८२१ का।

परिशिष्ट २

संदर्भ ग्रन्थ-सूची

१. अध्यात्म सन्देश (हिन्दी) : कानजी स्वामी; ब्र० हरिलाल; आचार्यकल्प पडित टोडरमल ग्रथमाला, ए-४ बापूनगर, जयपुर

२. अध्यात्म सन्देश (गुजराती) : कानजी स्वामी; ब्र० हरिलाल, श्री दि० जैन स्वाध्याय मदिर ट्रस्ट, सोनगढ

३. अर्द्ध कथानक : बनारसीदास, नाथूराम प्रेमी, सशोधित साहित्यमाला, ठाकुरद्वार, बम्बई-२, सन् १९५७ ई०

४. अलवर क्षेत्र का हिन्दी साहित्य [वि० सं० १७०० से २०००] : (अप्रकाशित शोधप्रबन्ध, १९७२ ई०) डॉ० ओमप्रकाश चौधरी, राजस्थान विश्वविद्यालय पुस्तकालय, जयपुर

५. अनागार धर्मामृत : पडित आशाधर; जैन ग्रथ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, सन् १९१९ ई०

६ आत्मानुशासन : आचार्य गुणभद्र, डॉ० हीरालाल जैन, प्रो० आ० ने० उपाध्ये, प० बालचद सि० शास्त्री; जैन सस्कृति सरक्षक सघ, शोलापुर, वि० स० २०१८

७. आत्मानुशासन : आचार्य गुणभद्र; पडित बशीधर शास्त्री; जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, हीराबाग, गिरगाव, बम्बई

८. आत्मानुशासन भाषाटीका : पडित टोडरमल; इन्द्रलाल शास्त्री, जयपुर, वी० नि० स० २४८२

९. आत्मानुशासन (अग्रेजी अनुवाद) : जे एल. जैनी; बी कश्मीरीलाल जैन, सब्जी मण्डी, दिल्ली, सन् १९५६ ई०

१०. आप्तमीमांसा : आचार्य समन्तभद्र, अनन्तकीर्ति ग्रथमाला, बम्बई

११. उक्तिव्यक्ति प्रकरण सम्पादक – मुनि जिनविजय; सिंघी जैन शास्त्र शिक्षापीठ, भारतीय विद्या भवन, बबई, वि० स० २०१०

१२. उत्तरी भारत की संत परम्परा : परशुराम चतुर्वेदी, भारतीय भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, वि० स० २०२१

१३. एनल्स एण्ड एन्टीक्विटीज आव राजस्थान जेम्स टॉड, रोटलेज एण्ड केगनपोल लिमिटेड, ६८/७४ कार्टर लेन, ई. सी. ४, लदन

१४. करीमुललुगात (उर्दू शब्दकोष). प्रो० मौलवी करीमुद्दीन, सन् १८५६ ई०

१५. कविवर बनारसीदास – जीवनी और कृतित्व : डॉ० रवीन्द्रकुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

१६. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध : श्री जयशकर 'प्रसाद', भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, वि० स० २००५

१७. कार्तिकेयानुप्रेक्षा : स्वामी कार्तिकेय, श्रीमद् राजचद्र आश्रम, अगास

१८. कुतुब शतक और उसकी हिन्दुई सम्पादक – डॉ० माताप्रसाद गुप्त, भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड वाराणसी–५, सन् १९६७ ई०

१९. खडी बोली हिन्दी साहित्य का इतिहास ब्रजरत्नदास, हिन्दी साहित्य कुटीर, हाथी गली, बनारस, वि० स० २००९

२०. गोम्मटसार पूजा : पडित टोडरमल, भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी सस्था, कलकत्ता

२१. गोम्मटसार पूजा : पं० टोडरमल, कुन्थुसागर स्वाध्याय सदन, खुरई

२२. गोम्मटसार जीवकाण्ड (बालबोधिनी टीका) : पडित खूबचद जैन, श्रीमद् राजचद्र आश्रम, अगास

२३. गोम्मटसार जीवकाण्ड (अग्रेजी अनुवाद) : जे० एल० जैनी; प० अजितप्रसाद जैन, दी सेन्ट्रल पब्लिशिग हाउस, अजिताश्रम, लखनऊ, सन् १९२७ ई०

२४ गोम्मटसार कर्मकाण्ड (सक्षिप्त हिन्दी टीका) : प० मनोहरलाल शास्त्री, श्रीमद् राजचद्र आश्रम, अगास

२५. गोम्मटसार कर्मकाण्ड (अग्रेजी अनुवाद) : ब्र० शीतलप्रसाद तथा बाबू अजितप्रसाद

२६. गोम्मटसार (मराठी अनुवाद) . गाधी नेमचद बालचद

२७. गोम्मटसार जीवकाण्ड भाषाटीका (सम्यग्ज्ञानचद्रिका) : प० टोडरमल, जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी सस्था, कलकत्ता

२८. गोम्मटसार कर्मकाण्ड भाषाटीका (सम्यग्ज्ञानचद्रिका) : प० टोडरमल; जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी सस्था, कलकत्ता

२९. गोरख बानी सम्पादक–डॉ० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, वि० स० २००३

३० चरचा संग्रह (ह० लि०) : ब्र० रायमल; श्री दि० जैन मन्दिर अलीगज, जिला ऐटा (उ० प्र०)

३१. चर्चा समाधान (ह० लि०) . भूधरदास: श्री दि० जैन बडा मदिर तेरापथियान, जयपुर

३२. जाम्भोजी विष्णोई सम्प्रदाय और साहित्य [जम्भवाणी के पाठ सम्पादन सहित], भाग १, २ डॉ० हीरालाल माहेश्वरी, बी. आर पब्लिकेशन्स, कलकत्ता-६, मन् १९७० ई०

३३. जीवन और साहित्य : डॉ० उदयभानुसिंह, दिल्ली

३४. जैन शतक : भूधरदास, जैन ग्रथ प्रचारक पुस्तकालय, देवबन्द

३५. जैनतत्त्व मीमांसा : प० फूलचद सिद्धान्तशास्त्री, अशोक प्रकाशन मदिर, २/३८, भदैनीघाट, वाराणसी

३६. जैनेन्द्र सिद्धान्त शब्दकोश, भाग १, २ : क्षुल्लक जैनेन्द्र वर्णी; भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

३७. जैन निबंध रत्नावली : पडित मिलापचद कटारिया एवं पडित रतनलाल कटारिया, वीर शासन सघ, कलकत्ता

३८. जैन साहित्य और इतिहास : नाथूराम प्रेमी, सशोधित साहित्यमाला, ठाकुरद्वार, बम्बई-२, सन् १९५६ ई०

३९. जैन सम्प्रदाय शिक्षा : श्रीपालचद; निर्णय सागर प्रेस, बम्बई

४०. जैन शोध और समीक्षा : डॉ० प्रेमसागर जैन, दि० जैन अ० क्षेत्र श्री महावीरजी, महावीर भवन, जयपुर

४१. तत्त्वार्थसूत्र : आचार्य उमास्वामी; दि० जैन पुस्तकालय, सूरत

४२. तत्त्वार्थसूत्र-श्रुतसागरी टीका भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, सन् १९४९ ई०

४३. तीन लोक मंडलपूजा (ह० लि०) : कविवर टेकचद; श्री दि० जैन मन्दिर, माधोराजपुरा (राज०)

४४. तेरहपंथ खंडन (ह०लि०) : पडित पन्नालाल, श्री दि० जैन बडा मदिर तेरापथियान, जयपुर

४५. दयाबाई की बानी : बेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद, सन् १९६७ ई०

४६. द्रव्य संग्रह : आचार्य नेमिचद्र सिद्धान्तचक्रवर्ती, श्री दि० जैन स्वाध्याय मदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

४७. **धर्म सरोवर** (ह० लि०) : जोधराज गोदीका; बाबा दुलीचद का शास्त्र भडार, श्री दि० जैन बडा मदिर तेरापथियान, जयपुर

४८. **धर्म संग्रह श्रावकाचार** (ह० लि०) पडित मेधावी, श्री दि० जैन मदिर लूणकरणजी पाण्ड्या, जयपुर

४९. **न्यायदीपिका** : धर्मभूषण यति, जैनग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई

५०. **न्यू हिस्ट्री ग्राव दि मराठाज** : सर जी एस देसाई, के वी. धवल, फोनिक्स पब्लिकेशन्स, चीरा बाजार, बम्बई

५१. **नाटक समयसार** : कविवर बनारसीदास, श्री दि० जैन स्वाध्याय मदिर ट्रस्ट, सोनगढ (सौराष्ट्र)

५२. **निरंजनी सम्प्रदाय और सत तुरसीदास निरजनी** : डॉ० भगीरथ मिश्र, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ, सन् १९६४ ई०

५३ **परमात्मप्रकाश और योगसार** : आचार्य योगीन्दुदेव, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, वि० स० २०१७

५४. **पदसंग्रह** (ह० लि०) : पोथीखाना, राजमहल, जयपुर

५५. **प्रवचनसार भाषा** (ह० लि०) : जोधराज गोदीका, श्री दि० जैन मदिर छोटा दीवानजी, जयपुर

५६. **प्रवचनसार** : आचार्य कुन्दकुन्द, श्री दि० जैन स्वाध्याय मदिर ट्रस्ट, सोनगढ (सौराष्ट्र)

५७. **पचास्तिकाय सग्रह** आचार्य कुन्दकुन्द, श्री दि० जैन स्वाध्याय मदिर ट्रस्ट, सोनगढ (सौराष्ट्र)

५८ **पंचास्तिकाय समयव्याख्या टीका** : आचार्य कुन्दकुन्द; श्री दि० जैन स्वाध्याय मदिर ट्रस्ट, सोनगढ (सौराष्ट्र)

५९. **पंचाध्यायी** : पाडे राजमल्ल, श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, भदैनी घाट, वाराणसी

६०. **पजाब प्रान्तीय हिन्दी साहित्य का इतिहास** ' प० चद्रकान्तबाली, नेशनल पब्लिशिग हाउस, जवाहर नगर, दिल्ली, सन् १९६२ ई०

६१. **पंचामृत** : सम्पादक – स्वामी मगलदास, श्री स्वामी लक्ष्मीराम ट्रस्ट, दादूद्वारा, मोती डूगरी, जयपुर, सन् १९४८ ई०

६२. **पुरातन जैन वाक्य सूची :** जुगलकिशोर मुख्तार, वीर सेवा मदिर, सरसावा, जिला सहारनपुर, सन् १९५० ई०

६३. **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय भाषाटीका :** पडित टोडरमल तथा प० दौलतराम कासलीवाल, मुशी मोतीलाल शाह, किशनपोल बाजार, जयपुर

६४. **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय :** आचार्य अमृतचद्र; नाथूराम प्रेमी, श्रीमद् राजचद्र आश्रम, अगास, वि. स २०१७

६५. **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय** आचार्य अमृतचद्र; उग्रसेन जैन; श्री दि० जैन मदिर, सराय मुहल्ला, रोहतक

६६. **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय** · आचार्य अमृतचद्र; प० मक्खनलाल शास्त्री, भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी सस्था, कलकत्ता

६७. **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय** · आचार्य अमृतचद्र, श्री दि० जैन स्वाध्याय मदिर ट्रस्ट, सोनगढ (सौराष्ट्र)

६८. **बखनाजी की वाणी :** स्वामी मगलदास; दादू महाविद्यालय, जयपुर, सन् १९३७ ई०

६९. **ब्रजभाषा व्याकरण** डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, रामनारायणलाल, इलाहाबाद, सन् १९५४ ई०

७०. **ब्रह्म विलास :** भैया भगवतीदास, जैन ग्रथ रत्नाकर कार्यालय, बबई, सन् १९२६ ई०

७१. **बृन्दावन विलास :** बृन्दावनदास; नाथूराम प्रेमी, जैन हितैषी कार्यालय, बम्बई

७२. **बनारसी विलास :** बनारसीदास, नन्नूलाल स्मारक ग्रथमाला, न्यू कालोनी, जयपुर

७३. **बुद्धि विलास :** बखतराम शाह, रा० प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर

७४. **भट्टारक सम्प्रदाय :** विद्याधर जोहरापुरकर; जैन सस्कृति सरक्षक सघ, शोलापुर, वि० स० २०१४

७५. **भक्ति सागर :** चरणदासजी; डॉ० त्रिलोकीनारायण दीक्षित, तेजकुमार प्रेस बुक डिपो, लखनऊ, सन् १९६६ ई०

७६. **भक्ति विलास** (ह० लि०) **:** पोथीखाना, राजमहल, जयपुर

७७. **भक्ति प्रिया** (ह० लि०) **:** पोथीखाना, राजमहल, जयपुर

७८. भारतीय इतिहास एक दृष्टि : ज्योतिप्रसाद जैन; भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, सन् १९६६ ई०

७९. भारतीय संस्कृति मे जैन धर्म का योगदान : डॉ० हीरालाल जैन; मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद्, भोपाल, सन् १९६२ ई०

८०. मध्यकालीन धर्म साधना : डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, द्विवेदी प्र० साहित्य भवन प्रा० लि०, अहमदाबाद

८१. मकरन्द : डॉ० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल, सम्पादक – डॉ० भगीरथ मिश्र, अवध पब्लिशिग हाउस, लखनऊ

८२. मिथ्यात्व खण्डन (ह० लि०) : बखतराम शाह, श्री दि० जैन बडा मदिर तेरापथियान, जयपुर

८३. मिश्रबन्धु विनोद : मिश्रबन्धु, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी

८४. मोक्षमार्ग प्रकाशक : पडित टोडरमल, सस्ती ग्रन्थमाला, दिल्ली

८५. मोक्षमार्ग प्रकाशक : प० टोडरमल, भा० दि० जैन सघ, मथुरा

८६. मोक्षमार्ग प्रकाशक : प० टोडरमल, श्री दि० जैन स्वाध्याय मदिर ट्रस्ट, सोनगढ (सौराष्ट्र), वि० स० २०२३

८७. मोक्षमार्ग प्रकाशक : प० टोडरमल, बाबू ज्ञानचदजी, लाहौर

८८. मोक्षमार्ग प्रकाशक : प० टोडरमल, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, सन् १९११ ई०

८९. मोक्षमार्ग प्रकाशक : प० टोडरमल, बाबू पन्नालाल चौधरी, वाराणसी

९०. मोक्षमार्ग प्रकाशक : प० टोडरमल, अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला, बम्बई

९१. मोक्षमार्ग प्रकाशक (उर्दू) पडित टोडरमल, दाताराम चेरिटेबिल ट्रस्ट, १५८३, दरीबा कलाँ, दिल्ली

९२. मोक्षमार्ग प्रकाशक (गुजराती) : प० टोडरमल, श्री दि० जैन स्वाध्याय मदिर ट्रस्ट, सोनगढ

९३. मोक्षमार्ग प्रकाशक (मराठी) प० टोडरमल, महावीर ब्रह्मचर्याश्रम, कारजा (महाराष्ट्र)

९४. मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरणें, भाग १ व २ (हिन्दी, गुजराती) : कानजी स्वामी, श्री दि० जैन स्वाध्याय मदिर ट्रस्ट, सोनगढ

९५. मोक्षमार्ग प्रकाशक (ह० लि० मूल प्रति) पडित टोडरमल, श्री दि० जैन मदिर दीवान भदीचदजी, घी वालो का रास्ता, जयपुर

९६. यशस्तिलक चम्पू : सोमदेव सूरि; निर्णयसागर प्रेस, बम्बई

९७. युक्ति प्रबोध मेघविजय महोपाध्याय, ऋषभदेव केशरीमल श्वेताम्बर सस्था, रतलाम

९८. योगप्रवाह . डॉ० पीताम्बरदत्त वडथ्वाल, सम्पादक – श्री सम्पूर्णानन्द, श्री काशी विद्यापीठ, बनारस, सवत् २००३

९९. रत्नकरण्ड श्रावकाचार : आचार्य समन्तभद्र, सरल जैन ग्रन्थ भण्डार, जवाहरगज, जबलपुर

१००. रत्नकरण्ड श्रावकाचार · आचार्य समन्तभद्र; पडित सदासुखदास कासलीवाल, श्री दिगम्बर जैन समाज, माधोराजपुरा (राज०)

१०१. रहस्यपूर्ण चिट्ठी पडित टोडरमल; दिगम्बर जैन पुस्तकालय, कापडिया भवन, सूरत

१०२. रहस्यपूर्ण चिट्ठी (ह० लि०) : प० टोडरमल; श्री दि० जैन मदिर आदर्शनगर, जयपुर

१०३. रज्जब बानी : सम्पादक – डॉ० ब्रजलाल वर्मा, उपमा प्रकाशन प्रा० लि० कानपुर, सन् १९६३ ई०

१०४. राजस्थान का इतिहास : जैम्स टाड, आदर्श हिन्दी पुस्तकालय, इलाहाबाद, सन् १९६२ ई०

१०५. राजस्थानी भाषा और साहित्य [वि० स० १५००–१६५०] : डॉ० हीरालाल माहेश्वरी, आधुनिक पुस्तक भवन, कलकत्ता-७, सन् १९६० ई०

१०६. राजस्थान के जैन ग्रन्थ-भण्डारो की ग्रन्थ-सूची [प्रथम भाग, द्वितीय भाग, तृतीय भाग, चतुर्थ भाग] : सम्पादक – डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल एव प० अनूपचद न्यायतीर्थ; श्री दि० जैन अ० क्षेत्र श्री महावीरजी, महावीर भवन, जयपुर

१०७. रीतिकाव्य की भूमिका : डॉ० नगेन्द्र, गौतम बुक डिपो, नई सडक, दिल्ली, सन् १९५३ ई०

१०८. लब्धिसार (क्षपणासार गर्भित) संक्षिप्त हिन्दी टीका : प० मनोहरलाल शास्त्री; श्रीमद् राजचद्र आश्रम, अगास

१०९. लक्ष्मी विलास : पडित लक्ष्मीचदजी लश्करवाले; सेठ कन्हैयालाल गगवाल, सर्राफा वाजार, लश्कर

११०. वर्ण रत्नाकर : सपादक – डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी तथा श्री बबुआ मिश्र, रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बगाल, १ - पार्थस्ट्रीट, कलकत्ता, सन् १९४० ई०

१११. शान्तिनाथ पुराण वचनिका (ह० लि०) सेवाराम, जैन सिद्धान्त भवन, आरा, वि० स० १८३४

११२. श्री महाराज हरिदासजी की वाणी सपादक – स्वामी मगलदास, दादू महाविद्यालय, जयपुर, सन् १९६२ ई०

११३. श्री दादू महाविद्यालय रजत जयन्ती ग्रन्थ सपादक – स्वामी सुरजनदास, दादू महाविद्यालय, मोतीडूगरी, जयपुर, वि स २००९

११४. षट् खण्डागम (जीवस्थान सत्प्ररूपणा पुस्तक) . आचार्य भूतवलि पुष्पदन्त, डॉ० हीरालाल जैन, श्रीमत सेठ शितावराव लक्ष्मीचद जैन साहित्योद्धारक फड कार्यालय, अमरावती (बरार)

११५. षट् प्राभृत (श्रुतसागरीय टीका सहित) : आचार्य कुदकुद, माणिकचन्द दि० जैन ग्रथमाला समिति, हीराबाग, बम्बई-४

११६. समयसार : कुन्दकुन्दाचार्य, श्री दि० जैन स्वाध्याय मदिर ट्रस्ट, सोनगढ

११७. समयसार (आत्मख्याति टीका) आचार्य कुन्दकुन्द; टीकाकार आचार्य अमृतचद्र, श्री दि० जैन स्वाध्याय मदिर ट्रस्ट, सोनगढ

११८. सम्यग्ज्ञानचंद्रिका पडित टोडरमल, जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी सस्था, कलकत्ता

११९. सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका (ह० लि० मूल प्रति अपूर्ण) : प० टोडरमल, श्री दि० जैन मदिर दीवान भदीचद, घी वालो का रास्ता, जयपुर

१२०. सम्यक्त्व कौमुदी (ह० लि०) : जोधराज गोदीका, श्री दि० जैन बडा मन्दिर तेरापथियान, जयपुर

१२१. सर्वार्थसिद्धिवचनिका प० जयचद्र छाबडा, जिनेन्द्र प्रेस, कोल्हापुर

१२२. समोसरण रचना वर्णन (ह० लि०) : पडित टोडरमल, ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वती भवन, बम्बई

१२३. सहजोबाई की बानी : बेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद, सन् १९६७ ई०

१२४. सत्ता स्वरूप . प० भागचदजी छाजेड; श्री दि० जैन मुमुक्षु मण्डल, सनावद (म० प्र०)

१२५ **संबोध प्रकरण** हरिभद्र सूरि, जैन ग्रन्थ प्रकाशक सभा, अहमदाबाद
१२६. **सामुद्रिक पुरुष लक्षण** (ह० लि०) : श्री दि० जैन मन्दिर बडा धडा, अजमेर (राज०)

१२७. **सुन्दर-ग्रंथावली** : सम्पादक–पुरोहित हरिनारायण, राजस्थान रिसर्च सोसाइटी, २७, वाराणसी घोष स्ट्रीट, कलकत्ता, वि०स० १९९३

१२८. **सूर पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य** शिवप्रसादसिंह; हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, सन् १९५८ ई०

१२९. **हिन्दी साहित्य का इतिहास** · आचार्य रामचद्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, वि० स० २००९

१३०. **हिन्दी साहित्य का इतिहास** · डॉ० रामशकर शुक्ल 'रसाल', इलाहबाद, सन् १९३१ ई०

१३१. **हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास** डॉ० कामताप्रसाद जैन; भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, फरवरी १९४७ ई०

१३२. **हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास** नाथूराम प्रेमी; जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, हीराबाग, बबई, जनवरी १९१७ ई०

१३३. **हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास** : डॉ० रामकुमार वर्मा; रामनारायणलाल, इलाहाबाद

१३४. **हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास** डॉ० उदयनारायण तिवारी, भारती भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग, वि० स० २०१८ ई०

१३५. **हिन्दी साहित्य का आदिकाल** डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी; बिहार राष्ट्र भापा परिषद्, पटना ३, सन् १९५८ ई०

१३६. **हिन्दी साहित्य द्वितीय खण्ड** . धीरेन्द्र वर्मा व ब्रजेश्वर वर्मा, भारतीय हिन्दी परिषद्, प्रयाग, ६ मार्च १९५९ ई०

१३७ **हिन्दी गद्य का विकास** : डॉ० प्रेमप्रकाश गौतम; अनुसन्धान प्रकाशन, आचार्य नगर, कानपुर, सन् १९६६ ई०

१३८. **हिन्दी साहित्य** · प० हजारीप्रसाद द्विवेदी; (१९५२) दिल्ली

१३९. **हिस्ट्री आव मैथिली लिटरेचर**, भाग १ (अग्रेजी) : डॉ० जयकान्त मिश्र; तीरमुक्ति पब्लिकेशन्स्, १–सर पी. सी. बनर्जी रोड, इलाहाबाद, सन् १९४९ ई०

१४०. हिन्दी भाषा का इतिहास · डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग, सन् १९५३ ई०

१४१. क्षपणासार भाषाटीका . पडित टोडरमल, जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी, सस्था, कलकत्ता

१४२ त्रिलोकसार भाषाटीका पडित टोडरमल; हिन्दी जैन साहित्य प्रसारक कार्यालय, बम्बई, सन् १९१८ ई०

१४३. त्रिलोकसार भाषाटीका (ह० लि०) पडित टोडरमल ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन, बम्बई, वि० स० १८२३ ई०

१४४ ज्ञानानन्द श्रावकाचार ब्र० रायमल, सद्बोध रत्नाकर कार्यालय, सागर

१४५. ज्ञान सागर (ह० लि०) पोथीखाना, राजमहल, जयपुर

पत्र-पत्रिकाएँ

१४६. अनेकान्त : वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागज, दिल्ली-६

१४७. आत्मधर्म : श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ (सौराष्ट्र)

१४८. इन्द्रध्वज विधान महोत्सव पत्रिका (ह० लि० मूल प्रति) श्री दि० जैन मन्दिर दीवान भदीचदजी, घी वालो का रास्ता, जयपुर

१४९. जीवन पत्रिका (ह० लि० मूल प्रति) श्री दि० जैन मन्दिर दीवान भदीचदजी, घी वालो का रास्ता, जयपुर

१५०. जैन सदेश भा० दिगम्बर जैन सघ, चौरासी, मथुरा

१५१. जैन हितैषी जैन हितैषी कार्यालय, बम्बई

१५२ टोडरमल जयन्ती स्मारिका श्री टोडरमल स्मारक महोत्सव कमेटी, ए-४, बापूनगर, जयपुर-४

१५३. रिपोर्ट (वीर नि० स० २४५१) ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वती भवन, बम्बई

१५४. वल्लभ सदेश गौड भवन, कमला मार्ग, सी-स्कीम, जयपुर

१५५. वीरवाणी श्री वीर प्रेस, मनिहारो का रास्ता, जयपुर

१५६. सन्मति सन्देश ५३५, गाधीनगर, दिल्ली-३१

परिशिष्ट ३

नामानुक्रमणिका

ज

ट

फ

ब

भ

म

ल

व

श